मार्क्स एंगेल्स

धर्म के बारे में

राजस्थान पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लि.

दुनिया के मज़दूरों, एक हो !

मार्क्स

एंगेल्स

धर्म के बारे में

राजस्थान पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लि.

चमेलीवाला मार्केट, एम.आई. रोड, जयपुर-302 001

MARX
ENGELS
ON RELIGION
का हिन्दी अनुवाद

अनुवादक :
मोहन श्रोत्रिय

द्वितीय संस्करण, 2016

चमेलीवाला मार्केट, एम.आई. रोड,
जयपुर-302 001
ISBN 81-7344-057-3

1988 (आर.पी.पी. एच. 35)

मूल्य : 200.00

रामपाल शर्मा द्वारा बी.के. ऑफसेट, दिल्ली से मुद्रित एवं उन्हीं के द्वारा राजस्थान पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लि., चमेलीवाला मार्केट, एम.आई. रोड, जयपुर के लिए प्रकाशित।

विषय-सूची

प्राक्कथन

प्रस्तुत संग्रह में वे रचनाएँ सम्मिलित की गयी हैं जिनमें मार्क्स एवं एंगेल्स ने धर्म के उद्‌भव, सार–तत्त्व तथा वर्ग समाज में उसकी भूमिका के संबंध में अपने विचार प्रतिपादित किये हैं। ये रचनाएँ सर्वहारा, मार्क्सवादी निरीश्वरवाद की सैद्धांतिक आधार–शिला निर्मित करती हैं। मार्क्स एवं एंगेल्स ने जिस विश्व–दृष्टि की नींव रखी वह प्रकृति तथा समाज के विकास के वस्तुनिष्ठ नियमों पर आधारित है। वह विज्ञान द्वारा प्रस्तुत तथ्यों पर टिकी हुई है तथा मूलगामी रूप से धर्म का विरोध करती है।

इस संग्रह का आरम्भ मार्क्स के शोध प्रबन्ध 'प्रकृति संबंधी देमोक्रितीय तथा एपीक्यूरीय दर्शन का भेद' की प्रस्तावना से होती है, जिसमें मार्क्स धर्म के साथ एपीक्यूरस के भौतिकतावादी दर्शन की असंगति को रेखांकित करते हैं। **पवित्र परिवार अथवा आलोचनात्मक आलोचना का विवेचन** में से भी कुछ अंश दिये गये हैं, जिसमें मार्क्स तथा एंगेल्स ने प्रतिक्रियावादी सामंती एवं धार्मिक विश्व–दृष्टि के खिलाफ़ संघर्ष में 18वीं शताब्दी के फ्रांसीसी भौतिकतावादियों की महान् भूमिका को रेखांकित किया है तथा एक ओर तो निरीश्वरवादी प्रचार तथा दूसरी ओर भौतिकतावादी दर्शन के विकास व प्राकृतिक विज्ञानों की उपलब्धियों के बीच के संबंधों को उद्‌घाटित किया है। मार्क्स तथा एंगेल्स ने यह सिद्ध किया है कि निरीश्वरवाद प्रगतिशील वर्गों की खासियत है तथा अंग्रेज़ व फ्रांसीसी भौतिकवादी निरीश्वरवादी उभरते हुए पूँजीपति वर्ग के सिद्धांतकार थे। किन्तु पूँजीपति वर्ग ने अपना वर्चस्व क़ायम होते ही तथा सर्वहारा और पूँजीपति वर्ग के बीच विरोधों के तीव्र होते ही अपने पहले वाले मुक्त चिन्तन को त्याग दिया और धर्म का इस्तेमाल आम जनता के लिए अफ़ीम के रूप में शुरू कर दिया। एंगेल्स ने **समाजवाद: काल्पनिक तथा वैज्ञानिक** के अंग्रेजी संस्करण की भूमिका में इसकी तर्कसंगत एवं सटीक व्याख्या की। प्रस्तुत संकलन में उसे भी उपलब्ध कराया गया है।

पूर्ववर्ती भौतिकवादी एवं निरीश्वरवादी प्रचार (17वीं तथा 18वीं शताब्दियों के अंग्रेज़ व फ्रांसीसी भौतिकतावादियों तथा लुडविग फ़ायरबाख़ व अन्य) की सेवाओं व योगदान को रेखांकित करने के साथ–साथ, मार्क्सवाद के संस्थापकों ने बुर्जुआ निरीश्वरवाद के आधे–बँटे

नज़रिये की तथा असंगतियों एवं वर्गीय सीमाओं की, उसकी निष्क्रियता एवं मननशीलता की तथा धर्म की सामाजिक जड़ों को उद्घाटित करने में उसकी असमर्थता की आलोचना भी की।

अकेला मार्क्सवाद ही धर्म के सार–तत्त्व को यह सिद्ध करके पूरी तरह उद्घाटित कर पाया कि "वह (हर प्रकार का धर्म) मनुष्यों के दिमागों में उन बाह्य शक्तियों के भव्य काल्पनिक प्रतिबिम्ब के सिवा और कुछ नहीं होता जो उनके दैनिक जीवन को नियंत्रित करती हैं। यह एक ऐसा प्रतिबिम्ब होता है जिसमें पार्थिव शक्तियाँ अलौकिक शक्तियों का रूप धारण कर लेती हैं।"

पूँजी, ड्यूहरिंग मत–खंडन, लुडविग फ़ायरबाख तथा अन्य रचनाओं में मार्क्स एवं एंगेल्स ने धर्म की जड़ों को उद्घाटित करते हुए यह सिद्ध किया है कि मानव विकास की आरंभिक अवस्थाओं में जहाँ धर्म का उदय प्रकृति की शक्तियों के साथ संघर्ष में आदिम मनुष्य की लाचारी से हुआ, वहाँ विरोधपूर्ण वर्ग समाज में मेहनतकश लोगों का दमन तथा शोषकों के खिलाफ़ संघर्ष में उनकी जाहिरा लाचारी धर्म को जन्म देती है तथा उसे पनपाती है : बेहतर अगले जीवन में आस्था पृथ्वी पर भोगी जाने वाली पीड़ाओं व कष्टों का कथित पुरस्कार पाने का रूप बन जाती है।

मार्क्स की तथा एंगेल्स की रचनाओं– **जर्मन विचारधारा, 'राइनी ब्योबाख़्तर' का कम्युनिज्म** तथा **कम्युनिस्ट पार्टी के घोषणापत्र**– से लिये गये अंश धर्म को सामाजिक चेतना के एक रूप, वर्गीय समाज की अधिरचना के एक तत्त्व के रूप में चित्रित करते हैं। मार्क्सवाद के संस्थापक इस बात का खुलासा करते हैं कि किस प्रकार धर्म सामाजिक संबंधों के विकास पर, समाज की वर्गीय संरचना पर निर्भर करता है। वे शोषक वर्गों के उस हित को भी उजागर करते हैं जो आम जनता को दृष्टिहीन बनाने तथा नियंत्रित करने के साधन के रूप में धर्म को बढ़ावा देने में निहित है। मार्क्स ने 1844 में लिखा था कि **धर्म जनता की अफ़ीम है।** यह उक्ति धर्म के बारे में संपूर्ण मार्क्सवादी दृष्टि की आधार–शिला बन गयी है।

एंगेल्स की रचनाएँ–**ब्रूनो बावेर तथा आरंभिक ईसाई धर्म, प्रकाशना ग्रन्थ** तथा **आरंभिक ईसाई धर्म के इतिहास के बारे में**– रोमन साम्राज के पतन के काल में सामाजिक, राजनीतिक तथा विचारधारात्मक संघर्षों की ऐतिहासिक परिस्थितियों पर प्रकाश डालती हैं, जिन्होंने ईसाई धर्म के उदय को निर्धारित किया था। ये लेख स्पष्टतया तथा आश्वस्त करने वाले ढंग से यह दिखलाते हैं कि रोमन साम्राज्य के दमन के खिलाफ़ गुलामों, दीन–हीनों तथा दासता में जकड़ी हुई जातियों के अनेक विद्रोहों का अंत खून–ख़राबे में होने के बाद अतिशय हताश लोगों की दृष्टि के रूप में ईसाई धर्म का उदय हुआ था।

प्रकृति की द्वंद्वात्मकता के अध्यायों तथा अंशों में एंगेल्स वैज्ञानिक तथा धार्मिक दृष्टियों के बीच अबाध रूप से चलने वाले संघर्ष को उद्घाटित करते हैं तथा यह दिखाते हैं कि धर्म ने किस प्रकार विज्ञान की प्रगति के मार्ग में रोड़े अटकाये कि धर्म का इतिहास वैज्ञानिक चिंतन के विकास के खिलाफ़ संघर्ष के इतिहास का ही दूसरा नाम है। चर्च ने महानतम वैज्ञानिक को अंध-निर्दयता के साथ उत्पीड़ित किया, उन्हें यातनाएँ दीं, उन्हें जला तक दिया और उनकी रचनाओं को निषिद्ध अथवा नष्ट कर दिया। कैथोलिक चर्च-धर्म न्यायाधिकरण जिसका प्रमुख उपकरण था-इस मामले में खासतौर पर जोशीला व धर्मोत्साही था। चर्च ने शताब्दियों तक एक अत्यन्त प्रतिक्रियावादी भूमिका अदा की तथा विश्व की वैज्ञानिक अवधारणा के ख़िलाफ निर्दयतापूर्वक संघर्ष जारी रखा। किन्तु प्रकृति विज्ञान के विकास ने धार्मिक एवं भाववादी दृष्टि में अनिवार्य रूप से अधिकाधिक दारारें पैदा कर दीं। यही कारण है कि मार्क्सवाद के संस्थापकों ने वैज्ञानिक एवं भौतिकवादी प्रचार कार्य को धर्म के ख़िलाफ़ संघर्ष में सर्वाधिक शक्तिशाली हथियार के रूप में देखा व माना।

मार्क्स तथा एंगेल्स ने धर्म के ख़िलाफ़ बल प्रयोग करने से संबंधित अराजकतावादियों व ब्लांपंथियों, ड्यूहरिंग तथा अन्य के प्रयासों की दृढ़तापूर्वक भर्त्सना की (देखें **ड्यूहरिंग मत खंडन** तथा **प्रवासी साहित्य**, जिनके अंश इस संकलन में उपलब्ध हैं)। उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि धर्म का निषेध व उत्पीड़न धार्मिक भावना को सघनता ही प्रदान करेगा। दूसरी और मार्क्सवाद (पूँजीवादी निरीश्वरवाद व उसके तमाम विचारधारात्मक प्रचार व संकीर्ण संस्कृतिवाद के विपरीत) यह दिखाता है कि धर्म को तब तक समाप्त नहीं किया जा सकता, जब तक कि उसका पोषण करने वाली सामाजिक एवं राजनीतिक मुक्ति के क्रांतिकारी संघर्ष की प्रक्रिया एवं प्रवाह में मेहनतकश जनता धार्मिक विचारों व अंधविश्वासों से स्वयं को मुक्त कर लेती है। भौतिकतावादी दृष्टि के आलोक में उन्हें दीक्षित करके इसे बढ़ावा दिया जा सकता है। मार्क्सवाद के संस्थापकों ने मज़दूरों के बीच भौतिकवादी साहित्य की श्रेष्ठतम कृतियों तथा प्रकृति एवं समाज विज्ञानों की उपलब्धियों का प्रसार करने के लिए सर्वहारा पार्टियों के नेताओं का आह्वान किया।

प्रस्तुत संग्रह में समस्त सामग्री को काल-क्रम के अनुसार संयोजित किया गया है। पुस्तक के अन्त में हमने संपादकीय टिप्पणियाँ, नाम अनुक्रमणिका, बाइबिल संबंधी तथा पौराणिक नामों की अनुक्रमणिका तथा संक्षिप्त विषय-सूची भी प्रस्तुत की है।

सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति का
मार्क्सवाद-लेनिनवाद संस्थान
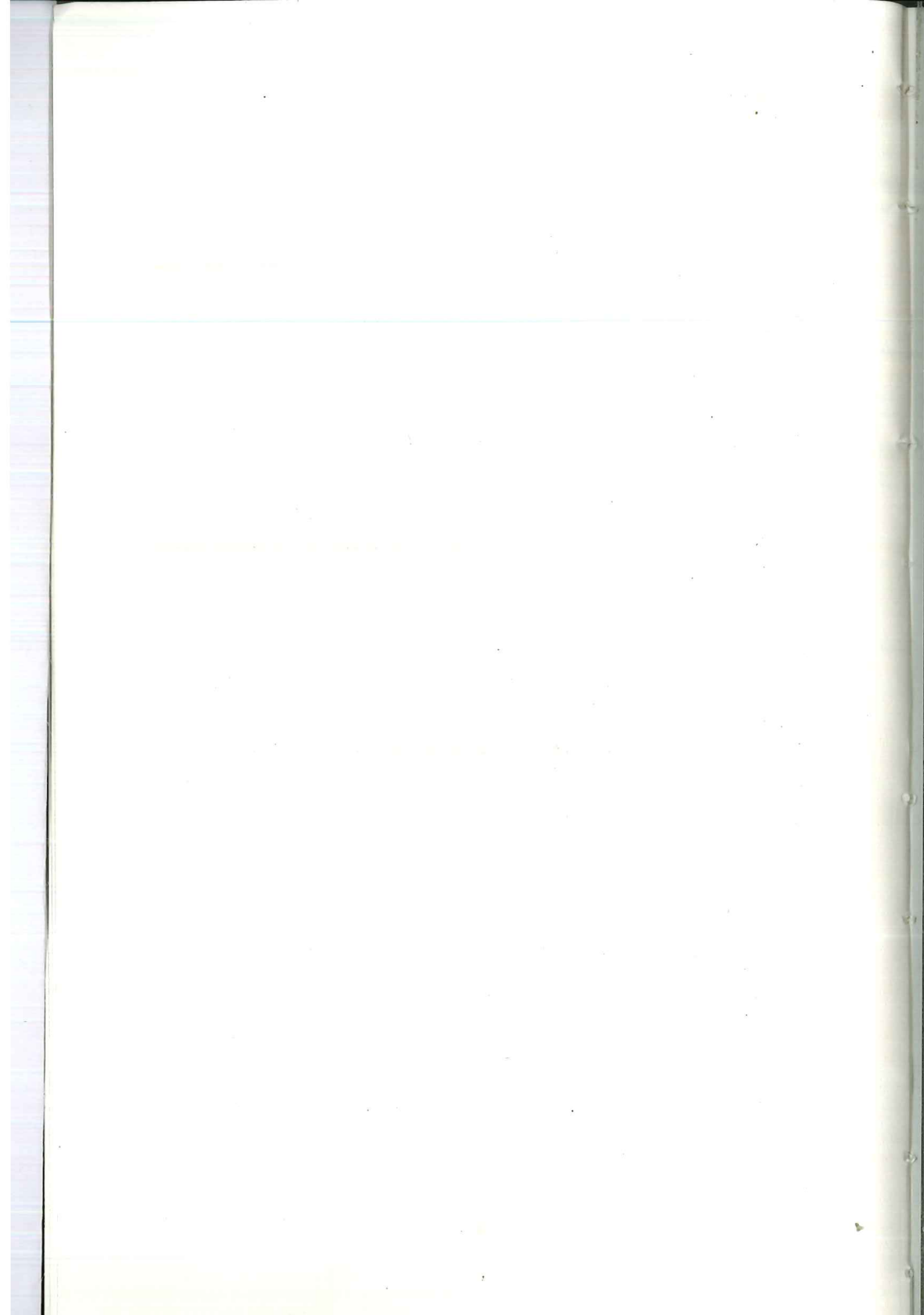
शोध प्रबंध की प्रस्तावना : प्रकृति सम्बन्धी देमोक्रितीय तथा एपीक्यूरीय दर्शन का भेद

इस शोध-प्रबंध का प्रमुख उद्देश्य यदि पीएच.डी. की डिग्री प्राप्त करने से जुड़ा नहीं होता तो इसका रूप एक ओर तो और अधिक सटीक रूप से वैज्ञानिक होता तथा दूसरी ओर इसके अनेक तर्कों व मान्यताओं में कम पंडिताऊपन होता। फिर भी विभिन्न बाहरी कारणों से मैं इसे इसी रूप में प्रेस को भेजने को विवश हूँ। मैं यह मानता हूँ कि इसमें मैंने यूनानी दर्शन के इतिहास की अब तक उलझी रहने वाली गुत्थी को खोल दिया है।

विशेषज्ञ जानते हैं कि ऐसे प्रारम्भिक अध्ययनों का भी घोर अभाव है, जो इस शोध-प्रबंध के विषय के लिए तनिक भी उपयोगी हो सकती हैं। सिसेरो तथा प्लूटार्क ने जो कुछ कह-लिख दिया, तब से लेकर आज तक उसी की जुगाली हो रही है। गास्सेंदी, जिन्होंने एपीक्यूरस को उस निषेधादेश से मुक्त किया जो कि चर्च के आचार्यों तथा समूचे मध्य युग (घोषित अविवेक का काल) ने उन पर लागू किया हुआ था, अपनी प्रस्थापनाओं[1] में मात्र एक रोचक तत्त्व प्रस्तुत करते हैं। उन्होंने अपने कैथोलिक अन्तःकरण तथा अपने अवरधर्मी ज्ञान, एपीक्यूरस तथा चर्च में समन्वय बिठाने की चेष्टा की। निश्चय ही यह असफल प्रयास था। यह तो वैसा ही हुआ जैसे कोई व्यक्ति एक ईसाई भिक्षुणी के वस्त्र यूनानी के सुन्दर व अलंकृत शरीर पर फेंक दे। गास्सेंदी के लिए बेहतर यह होगा कि हमें एपीक्यूरस का दर्शन सिखाने के बजाय एपीक्यूरस से दर्शन सीख लें।

इस शोध-प्रबंध को एक बृहद रचना का प्रारम्भिक हिस्सा ही माना जाए जिसमें मैं

1. पियरे गास्सेंदी- 'एपीक्यूरस के जीवन, आचार तथा धारणाओं के सम्बन्ध में दियोजींस लेयर्टियस की दसवीं पुस्तक पर टिप्पणीयाँ, ल्योंस, 1649

विस्तार से एपीक्यूरीय, स्टोइक तथा संशयवादी दर्शन के चक्र तथा समग्र यूनानी चिन्तन[1] के साथ उनके सम्बन्ध का अध्ययन प्रस्तुत करूँगा। बाद की उस रचना में इस शोध-प्रबंध की कमियाँ (रूप-आकार आदि से सम्बन्धित) दूर हो जाएँगी।

यह निर्विवाद है कि हेगेल ने कुल मिलाकर उपरिवर्णित प्रणालियों के सामान्य पक्षों को सही ढंग से परिभाषित किया है। किन्तु दर्शन के इतिहास की उनकी महान्, भव्य तथा साहसपूर्ण रूपरेखा (जिसे आमतौर से दर्शन के इतिहास का सूत्रपात माना जाना चाहिए) के भीतर विस्तार में जाना असम्भव था। दूसरी ओर वह असाधारण चिन्तक इसलिए भी परेशानी में पड़ गया क्योंकि जिसे वह सर्वोत्कृष्ट मीमांसात्मक चिन्तन मानता था, उसके कारण वह इन प्रणालियों में यूनानी दर्शन के इतिहास तथा यूनानी मानस के लिए इनके महत्त्व को न समझ पाया। ये प्रणालियाँ यूनानी दर्शन के वास्तविक इतिहास की कुंजी हैं। मेरे मित्र कोप्पेन के निबंध : 'फ्रेडरिक डेर ग्रॉस एंड सीन वाइडरसाखेर' में यूनानी जीवन के साथ उक्त प्रणालियों के संबंध का गहन संकेत पाया जा सकता है।

एपीक्यूरस के धर्मविज्ञान के विरुद्ध प्लूटार्क द्वारा उठायी गयी बहस का विवेचन यहाँ परिशिष्ट के रूप में इसलिए दिया गया है क्योंकि यह बहस किसी भी तरह छिटपुट नहीं मानी जा सकती है कि यह अपने-आप में धर्मविज्ञानी मनीषा के दर्शन के साथ सम्बन्ध को उल्लेखनीय रूप से प्रस्तुत करती है।

यह विवेचन अन्य बिन्दुओं के अलावा प्लूटार्क के दृष्टिकोण की सामान्य मिथ्यापरकता (दर्शन को धर्म के मंच के सामने लाकर खड़ा कर दिये जाने से सम्बन्धित) पर विचार नहीं करता है। इस दृष्टि से यह समुचित होगा कि बहस व तर्क के स्थान पर डेविड ह्यूम को उद्धृत कर दिया जाए:-

"........यह दर्शन (जिसकी सर्वोच्च सत्ता को हर जगह स्वीकृति मिलनी ही चाहिए) का एक प्रकार से अपमान करना ही है कि प्रत्येक अवसर पर अपने निष्कर्षों के लिए उसे क्षमायाचना करने को तथा उससे अप्रसन्न प्रत्येक कला एवं विज्ञान के समक्ष उसे अपना औचित्य सिद्ध करने को विवश किया जाए। इससे उस राजा का स्मरण हो जाता है जिस पर प्रजा के विरुद्ध राजद्रोह का अभियोग लगा दिया गया था।"[2]

दर्शन जब तक उसके विश्व-विजयी तथा मुक्त हृदय में रक्त की एक बूँद भी बाक़ी

---

1. मार्क ने 1839 में एपीक्यूरीय, स्टोइक तथा संशयवादी दर्शन के इतिहास के बारे में सात नोटबुक लिखी थीं, जिनमें से कुछ जिनको उन्होंने अपने शोध-प्रबंध में काम में लिया, आज तक सुरक्षित हैं।
2. **डेविड ह्यूम-** 'मानव प्रकृति पर निबंध', खंड 1, लंदन 1874, पृ. 14

बचेगी, अनथक रूप से अपने विरोधियों को एपीक्यूरस की हुंकार के रूप में उत्तर व चुनौती देता रहेगा :

"वास्तव में धर्मविरोधी व्यक्ति वह नहीं है जो जनसाधारण द्वारा पूजे जाने वाले देवताओं को नकारता है, बल्कि वह जो जो कि देवताओं के बारे में जनसाधारण की मान्यताओं की पुष्टि करता है।"

दर्शन इसे छिपाता नहीं है। प्रमथ्यु की स्वीकारोक्ति – 'मैं देवताओं के गिरोह से घृणा करता हूँ', वस्तुतः दर्शन की भी स्वीकारोक्ति है। समस्त लौकिक–अलौकिक देवताओं (जो मानवीय स्वचेतना को सर्वोच्च दैवीयता के रूप में स्वीकार नहीं करते) के खिलाफ़ दर्शन का स्वयं का सूत्र है।

किन्तु जहाँ तक उन बेचारे मोरावियाई खरगोशों (धर्मावलम्बियों) का प्रश्न है जो दर्शन की प्रकट रूप से बिगड़ी हुई नगर–स्थिति पर उल्लसित हैं, दर्शन का उनको वही उत्तर है जो प्रमथ्यु ने देवताओं के सेवक हर्मीज को दिया था:

"तय मानो, तुम्हारी दासता के लिए
मैं अपने विपदाग्रस्त भाग्य से
मुक्ति नहीं चाहूँगा
देवराज का चाकर बनने से बेहतर
होगा इस चट्टान का चाकर होना।"

दर्शन के इतिहास (काल दर्श) में प्रमथ्यु सर्वाधिक प्रखर संत व शहीद हैं।

बर्लिन, मार्च 1841

कोल्निश गज़ेट अंक 179 का अग्रलेख

(राइने गज़ेट के अंक 191, 193, 195 में

10, 12, 14 जुलाई, 1842 को प्रकाशित)

अब तक हमने कोल्निश गज़ेट[1] का सम्मान यदि राइने बुद्धिजीवी वर्ग के मुख-पत्र के रूप में नहीं भी किया है, तो भी राइने खुफ़िया अखबार[2] के रूप में तो किया ही है। हमने इसके राजनीतिक अग्रलेखों के पाठक के लिए राजनीति को धृणास्पद बनाने के बुद्धिमत्तापूर्ण एवं चुनिंदा साधन के रूप में देखा है ताकि वह (पाठक) विज्ञापनों की अतिशय ताज़गी देने वाली दुनिया की ओर उन्मुख होने के लिए बेचैन हो जाए, क्योंकि यह दुनिया न केवल उद्योग की हलचल भरी जिन्दगी को प्रतिबिम्बित करती है; बल्कि बहुधा मनोरंजक मसालों से भरपूर होती है। तो यहाँ भी जो आदर्श वाक्य स्वीकृति पायेगा वह होगा : **राजनीति से सितारों तक।** फिर भी कोल्निश गज़ेट अभी तक राजनीति तथा विज्ञापनों के बीच जिस चतुरतापूर्ण संतुलन को बनाये रख पाने में सफल हुआ था वह पिछले दिनों गड़बड़ाने लगा है, जिसका कारण विज्ञापनों की वह क़िस्म जिसे 'राजनीतिक उद्योग के विज्ञापनों' की संज्ञा दी जा सकती है। इस नये वर्ण को कहाँ स्थान दिया जाए इसके बारे में आरम्भिक अनिश्चितता के बाद हुआ यह कि एक विज्ञापन को अग्रलेख में रूपांतरित कर दिया गया तथा अग्रलेख को

1. कोल्निश गज़ेट, कोलोन में 1802 से प्रकाशित दैनिक समाचार-पत्र 30 के दशक में तथा 40 के दशक के शुरू में इसने प्रशा में प्रचलित प्रोटेस्टेंटवाद के खिलाफ़ कैथोलिक चर्च को समर्थन दिया। 1842 में इसका राजनीतिक सम्पादक कार्ल हाइनरिख हरमीज़ था, जोकि सरकार का खुफ़िया था। यह राइनेज गज़ेट का कटु विरोधी था, जिसके सम्पादक मार्क्स थे।
2. यहाँ मार्क्स श्लेषात्मक भाषा का प्रयोग करते हैं। जर्मन भाषा में Intelligenz के दोनों अर्थ होते हैं : बुद्धिजीवी वर्ग तथा खुफ़िया सूचना।

विज्ञापन में और वह भी ऐसे विज्ञापन में जिसे राजनीतिक दुनिया में 'दोषारोपण' व 'भर्त्सना'[1] की संज्ञा दी जाती है, किंतु उसके लिए पैसा दिया जाने पर –'विज्ञापन' बन जाता है।

उत्तरी क्षेत्र में यह रिवाज़ है कि स्वल्प भोजन से पूर्व अतिथियों को बेहद शानदार सुरा का पेय दिया जाता है। इस रिवाज़ का पालन करते हुए हमें अपने उत्तरी मेहमान को थोड़ी प्रफुल्लता परोसने में अत्यधिक प्रसन्नता हो रही है क्योंकि खुद भोजन में (जानी कोल्निश गज़ेट के अंक 179 के एकदम रूग्ण[2] लेख में) तो जीवट व उत्साह का निशान तक नहीं है। इसलिए सबसे पहले हम लूसियन के 'देवताओं के बारे में संवादों' से एक दृश्य प्रस्तुत कर रहे हैं, जिसे हम आमतौर पर समझ में आ सकने वाले अनुवाद में दे रहे हैं; क्योंकि हमारे पाठकों में कम–से–कम एक तो ऐसा होगा जो यूनानी नहीं है।

लूसियन के देवताओं के बारे में संवाद

XXIV हरमीज़ की शिकायतें

हरमीज़, माया

हरमीज़ : प्यारी माँ ! क्या समूचे स्वर्ग में एक भी देवता ऐसा है जो मुझसे अधिक यंत्रणा झेल रहा हो?

माया : बेटे ! ऐसी बातें नहीं करते !

हरमीज़ : क्यों न करूँ? मैं, जिसे इतनी सारी चीज़ों का ध्यान रखना होता है, जिसे सब कुछ स्वयं करना पड़ता है और इतनी सारी जी–हुज़ूरियाँ बजानी पड़ती हैं। मैं सुबह सबसे पहले उठने वालों में होता हूँ, खाने का कमरा मुझे ही साफ़ करना होता है और फिर सभा–कक्ष में गद्दियाँ ठीक–ठाक करनी होती हैं। जब सब कुछ व्यवस्थित हो जाता है तो मुझे बृहस्पति (जुपीटर) का हुकुम बजाना पड़ता है, पूरा दिन उनके हरकारे के रूप में बिताना पड़ता है, कभी यहाँ, कभी वहाँ उनकी चोबदारी बजाते हुए। मैं, धूल सना लौटकर पहुँचा नहीं कि मुझे उन्हें अमृत परोसना पड़ता है और जो सबसे बुरी बात है कि वह यह कि अकेला मैं वह बदनसीब हूँ जिसे रात में भी आराम करने की इजाज़त नहीं मिलती, क्योंकि मुझे मरे हुए लोगों की आत्माओं को यमराज (प्लूटो) तक पहुँचाना होता है और जब तक मरे हुओं के बारे में फ़ैसला न हो जाए, सेवक के दायित्व निभाने पड़ते हैं। क्योंकि यह काफ़ी नहीं माना

---

1. जर्मन शब्द Anzeige के भी दो अर्थ होते हैं : **विज्ञापन तथा भर्त्सना**। यहाँ मार्क्स फिर श्लेष का सहारा लेते हैं।
2. जर्मन शब्द leitender का अर्थ, प्रमुख, अग्र तथा leidender का अर्थ रूग्ण होता है। मार्क्स यहाँ श्लेष का करिश्मा दिखाते हैं।

जाता कि दिन-भर के कसाले के कामों में मुझे व्यायाम अभ्यासों में उपस्थित रहना होता है, बैठकों में उद्घोषक का काम करना पड़ता है तथा लोक-वक्ताओं को उनके वक्तव्य याद कराने पड़ते हैं। यही नहीं, इतने सारे झंझटों में फँसा होने के साथ ही मुझे **मरे हुए लोगों से सम्बन्धित तमाम मामलों की भी देखरेख करनी पड़ती है।**

ओलिंपस (देवताओं का निवास-स्थल) से बहिष्कृत होने के बाद भी, हरमीज़ आदतन अभी भी चाकरी बजाने का काम करता है तथा मरे हुए लोगों से सम्बन्धित तमाम मामलों की देखरेख करता है।

अंक 179 का रुग्ण लेख स्वयं हरमीज़ ने लिखा अथवा उसके पुत्र बकरानुमा देवता (लंपट) पान ने, पाठक इसका फ़ैसला खुद करें। पर यह ध्यान में रखकर कि यूनानी हरमीज़ वक्तृत्व कला तथा तर्क विद्या का देवता था।

"अख़बारों के माध्यम से दार्शनिक तथा धार्मिक विचारों को फैलाना अथवा अख़बारों में उनका खंडन करना, दोनों ही हमारी दृष्टि में समान रूप से ऐसे हैं जिन्हें अनुमति नहीं दी जानी चाहिए, बर्दाश्त नहीं किया जाना चाहिए।"

उस बूढ़े आदमी की इस प्रकार की बकबक के चलते मुझे यह अहसास हो गया कि उसका (कोल्निश गज़ेट के सम्पादक हरमीज़ का) इरादा दिव्य उद्घोषणाओं की उबाऊ स्तुतिमाला प्रस्तुत करने का था। फिर भी मैंने अपनी अधीरता पर क़ाबू किया क्योंकि मुझे इस विवेकी व्यक्ति पर भरोसा करना ही चाहिए था, जो कि अपने ही घर में बेहद बेबाक़ी के साथ अपने विचारों को व्यक्त करके अपनी सरल हृदयता का परिचय दे रहा था। इसलिए मैंने पढ़ना जारी रखा। तो यह क्या हुआ? यह सही है कि इस लेख पर किसी भी प्रकार के दार्शनिक विचारों का आरोप तो नहीं लगाया जा सकता, पर फिर भी इसका रुझान दार्शनिक विचारों का खंडन करने तथा धार्मिक विचारों का प्रसार करने की ओर तो दिखता ही है।

हम ऐसे लेख का क्या अर्थ लगाएँ जो अपने अस्तित्व के अधिकार का ही खंडन करता है? हम क्या करें ऐसे लेख का जो अपनी स्वयं की अक्षमता की घोषणा से ही शुरू होता है? वाचाल लेखक हमारे प्रश्नों का उत्तर स्वयं दे देगा। वह इस बात का खुलासा करता है कि उसके आडम्बरी लेखों को कैसे पढ़ा जाए। वह टुकड़ों में अपना ज्ञान प्रस्तुत करने तक स्वयं को सीमित कर लेता है तथा उनके 'संयोजन व तर्कसंगत संयोग' का काम 'पाठक की कुशाग्रता' पर छोड़ देता है। दरअसल यह उस तरह के विज्ञापनों की सबसे सुविधाजनक पद्धति है जो उसका व्यवसाय बन चुके हैं। हम इन टुकड़ों को 'संयोजित व संयुक्त' करना

चाहेंगे और यदि यह जयमाला मोतियों की माला न बन पाये तो यह हमारा दोष नहीं होगा।

लेखक का उद्घोष देखिये :

"कोई भी पार्टी जो इन साधनों (यानी जो अख़बारों के माध्यम से दार्शनिक एवं धार्मिक विचारों का प्रसार करती है तथा इस प्रकार के विचारों का खण्डन करती है) का इस्तेमाल करती है, हमारी राय में ऐसा करके यह सिद्ध कर देती है कि उसके इरादे ठीक नहीं है और यह भी कि उसका सरोकार जनता को प्रशिक्षित करने व प्रबुद्ध बनाने से कम तथा अन्य बाह्य उद्देश्यों की पूर्ति से अधिक है।"

जब उसकी राय यह है तो लेख का मंतव्य बाह्य उद्देश्यों की पूर्ति के अलावा कुछ भी क्या हो सकता है? ये 'बाह्य उद्देश्य' छिपे तो नहीं रह सकते, दिखेंगे ही।

उसका कहना है कि यह राज्य का दायित्व ही नहीं बल्कि अधिकार भी है कि 'अनामंत्रित बकवादियों की कार्रवाइयों पर रोक लगायी जाए।' लेखक ज़ाहिरा तौर पर अपने मत के **विरोधियों** की ओर इशारा कर रहा है, क्योंकि उसने स्वयं को तो लम्बे समय से यह समझा रखा है कि वह **आमंत्रित बकवादी है।**

तो इस तरह यह धार्मिक मामलों में सैंसरशिप की नयी सघनता का प्रेस (जो अभी खुलकर साँस भी नहीं ले पा रही है) के खिलाफ़ नये पुलिस उपायों का सवाल बन जाता है।

"हमारी राय में राज्य पर अत्यधिक सख़्ती का आरोप नहीं लगाया जा सकता बल्कि अतिरिक्त कृपालु होने का ही आरोप लग सकता है।"

नेतानुमा लेखक को अचानक दूसरे विचार आते हैं। राज्य पर आरोप लगाना ख़तरनाक है, इसलिए वह अधिकारियों को संबोधित करता है तथा प्रेस की स्वतंत्रता पर उठने वाली उँगलियाँ सेंसर पर उठने लगती हैं। वह उन पर नगण्य मात्रा में सेंसरशिप लागू करने का आरोप लगाता है।

"यह सच है कि अभी तक राज्य द्वारा नहीं बल्कि 'पृथक अधिकारियों' द्वारा शर्मनाम कृपा भाव प्रदर्शित किया गया है, क्योंकि एक नये दार्शनिक संप्रदाय को सार्वजनिक अख़बारों में तथा अन्य प्रकाशनों में (जिनका पाठक वर्ग विशुद्ध रूप से वैज्ञानिक नहीं है) ईसाइयत पर शर्मनाक हमले करने की छूट दे दी गयी है।"

हालाँकि लेखक एक बार फिर रुक जाता है, एक बार फिर उसे दूसरे विचार आते हैं। अभी आठ दिन भी नहीं हुए जब उसे यह लगा था कि सेंसरशिप की स्वतंत्रता प्रेस को न के बराबर स्वतंत्रता देती है और अब उसे लगने लगा है कि सेंसर अधिकारियों की विवशता के परिणामस्वरूप सेंसरशिप की बाध्यकारी क्षमता नगण्य रह गयी है।

इसका भी उपचार होना ही चाहिए।

"जब तक सेंसरशिप क़ायम रहती है, यह उसका तात्कालिक दायित्व है कि बचकानी अहंमन्यता की उन घृणास्पद शाखाओं को कतर दे; जो पिछले दिनों हमारी आँखों में चुभती रही है।"

कमज़ोर आँखें ! कमज़ोर आँखें ! और

"कमज़ोर से कमज़ोर आँखों को भी उस अभिव्यक्ति से कष्ट होगा जो आम जनता की समझ के स्तर को ध्यान में रखकर की गयी हो।"

यदि सेंसरशिप की ढील मात्र से ही कुत्सित शाखाएँ फूटने लगती हैं तो प्रेस की स्वतंत्रता की अवस्था में क्या होगा? यदि हमारी आँखें इतनी कमज़ोर हैं कि वे सेंसरशुदा प्रेस की अहंमन्यता (धृष्टता) को नहीं झेल सकतीं, तो वे स्वतंत्र प्रेस की 'साहसिकता' को कैसे झेल पाएँगी?

"जब तक सेंसरशिप क़ायम रहती है तब तक यह तात्कालिक दायित्व भार है।" और तब जब वह समाप्त हो जाए? उपरोक्त वाक्यांश के अर्थ को यूं व्याख्यायित किया जाना चाहिए: सेंसरशिप का यह तात्कालिक दायित्व है कि वह यथासंभव लम्बे समय तक स्वयं को बनाये रखे।

लेकिन फिर लेखक को दूसरे विचार आते हैं

"हमारा काम लोक अभियोजक के रूप में कार्य करना नहीं है और इसलिए हम और अधिक विस्तृत निर्देश देना नहीं चाहेंगे।"

इस आदमी में कितनी ज़बर्दस्त अलौकिक भलमनसाहत भरी पड़ी है। वह और अधिक विस्तृत निर्देश नहीं देना चाहता; तथापि वह काफ़ी विस्तृत, काफ़ी स्पष्ट लक्षणों के माध्यम से ही यह बता सकता था कि उसके विचारों का निशाना क्या है ? वह संदेह जगाने के इरादे से अस्पष्ट तथा पूरी तरह सुनाई न पड़ने वाले शब्द सरका देता है। लोक अभियोजक के रूप में कार्य करना तो उसका काम न भी हो, पर प्रच्छन्न अभियोजक (ख़ुफिया उकसावों के रूप में) के रूप में कार्य करना तो है ही।

इस अभागे आदमी को अब यह याद आता है कि उसका काम उदारवादी अग्रलेख लिखना तथा स्वयं को 'प्रेस की स्वतंत्रता के वफ़ादार दोस्त' के रूप में प्रस्तुत करना है, तो उसे आख़िरी बार दूसरे विचार आते हैं—

"हम ऐसी किसी भी कार्रवाई (यदि वह आकस्मिक लापरवाही व गफ़लत का परिणाम नहीं है तो) का विरोध करने से ही चूकेंगे, जिसका उद्देश्य जनता की नज़र में प्रेस के स्वतंत्र आंदोलनों को बदनाम करने तथा उन विरोधियों के हाथों की कठपुतली बनने के अलावा कुछ न हो जो कि खुलेआम अपने लक्ष्य प्राप्त न कर पाने के भय से ग्रस्त हैं।"

प्रेस की स्वतंत्रता का यह रक्षक (वह जितना साहसी है उतना ही तीक्ष्ण बुद्धिसंपन्न भी !) हमें बताता है कि सेंसरशिप जैसे-कि वह अंग्रेज़ तेंदुआ हो जिसके ऊपर यह लिखावट है-'मैं सोया हुआ हूँ, मुझे जगाना मत' ने यह ख़तरनाक रास्ता इसलिए चुना है ताकि वह जनता की नज़र में प्रेस के स्वतंत्र कार्य-व्यापार को बदनाम कर सके।

क्या प्रेस के आंदोलन जो— सेंसरशिप का ध्यान 'आकस्मिक लापरवाहियों' की ओर खींचता है तथा जो जनता की राय में अपनी प्रतिष्ठा 'सेंसर के चाकू' के माध्यम से अर्जित करना चाहता है, को बदनाम करने की कोई ज़रूरत रह जाती है?

इस कार्य व्यापार (आंदोलन) को उस अर्थ में ही 'स्वतंत्र' कहा जा सकता है जिस अर्थ में बेशरमी की स्वच्छंदता को भी कभी-कभी 'स्वतंत्र' मान लिया जाता है। क्या यह मूर्खतापूर्ण बेशरमी तथा ढोंगीपन नहीं है कि प्रेस के स्वतंत्र कार्य-व्यापार का रक्षक होने का दावा करने के साथ-साथ उसी साँस में यह सीख दी जाए कि दो पुलिसियों के सहारे के बिना प्रेस एकदम गंदे नाले में गिर जाएगी?

और फिर यदि दार्शनिक प्रेस जनता की नज़रों में स्वयं को गिरा लेती है तो सेंसरशिप की और इस अग्रलेख की ज़रूरत ही क्या है? दरअसल उक्त लेख का लेखक 'वैज्ञानिक शोध की स्वतंत्रता' को किसी भी तरह प्रतिबंधित नहीं करना चाहता :

"हमारे युग में वैज्ञानिक शोध को व्यापकतम तथा एकदम अबाधित कार्य क्षेत्र प्रदान किया जाना सही ही है।"

लेकिन निम्नलिखित वक्तव्य से यह एकदम स्पष्ट हो जाएगा कि वैज्ञानिक शोध के संबंध में हमारे लेखक की समझ क्या और कैसी है?

"इस संबंध में वैज्ञानिक शोध (ईसाई धम को जिससे लाभ ही होगा) की स्वतंत्रता की शर्तों तथा वैज्ञानिक शोध की सीमाओं के परे तत्वों के बीच स्पष्ट विभेद किया जाना चाहिए।

वैज्ञानिक शोध की सीमाओं के बारे में फ़ैसला वैज्ञानिक शोध के अलावा कौन कर सकता है? अग्रलेख की राय है कि विज्ञान की सीमाएँ निर्धारित होनी चाहिए। ज़ाहिर है कि अग्रलेख का 'सरकारी विवेक' से परिचय है; जो वैज्ञानिक शोध से सीखता कुछ नहीं बल्कि उसे सिखाता ही है; जो ऐसा समझदार नियंता है कि यह तक तय कर देता है कि प्रत्येक बाल को कितना बढ़ना चाहिए कि वैज्ञानिक की दाढ़ी विश्व-महत्त्व की दाढ़ी बन सके। सेंसरशिप की वैज्ञानिक प्रेरणा में अग्रलेख की आस्था है।

वैज्ञानिक शोध के विषय से संबंधित अग्रलेख में निहित 'मूर्खतापूर्ण' व्याख्याओं की और अधिक चर्चा न करके श्रीमान् हरमीज़ के स्वयं के विज्ञान 'धर्म का दर्शन' का एक नमूना

देखें तो बेहतर होगाः-

''धर्म राज्य का आधार तथा प्रत्येक सामाजिक संगठन (जिसका लक्ष्य मात्र कुछ बाह्य उद्देश्यों की पूर्ति भर न हो) की सर्वाधिक आवश्यक शर्त है।

प्रमाण : ''बचकानी जड़पूजा के रूप में अपने सर्वाधिक अपरिष्कृत रूप में भी यह (धर्म) मनुष्य को उसकी ऐंद्रिक इच्छाओं से ऊपर उठा देता है तथा जो यदि वह पूरी तरह से उनके द्वारा ही शासित होता तो, उसे पशु के स्तर तक पतित कर सकती थी तथा किसी भी उच्चतर उद्देश्य की पूर्ति में असमर्थ बना देती।''

अग्रलेख का लेखक जड़पूजा[1] को धर्म का 'सर्वाधिक अपरिष्कृत रूप' कहता है और इस तरह वह उस तथ्य को स्वीकार कर लेता है जिसे विज्ञानी लोग बिना उसकी सहमति के भी सिद्ध मानते हैं; यानी 'पशु पूजा' 'जड़पूजा' की तुलना में धर्म का उच्चतर रूप है। किन्तु क्या पशुपूजा मनुष्य को पशु से भी नीचा नहीं बना देती, क्या यह पशु को मनुष्य का देवता नहीं बना देती ?

अब 'जड़पूजा' के बारे में ! दो टके के अख़बार का अद्भुत पांडित्यपूर्ण ज्ञान ! जड़पूजा का मनुष्य को ऐंद्रिक इच्छाओं के ऊपर उठाने के साथ दूर तक का संबंध नहीं है, बल्कि इसके विपरीत यह तो 'ऐंद्रिक इच्छाओं का धर्म ' ही है। इच्छा से उत्पन्न स्वप्न चित्र जड़पूजक को यह मिथ्या विश्वास दिला देता है कि 'जड़ वस्तु' उसकी इच्छाओं को पूरा करने के उद्देश्य से अपने नैसर्गिक गुण (चरित्र) का परित्याग कर देगी। यही कारण है कि जड़ पूजक की अपरिष्कृत इच्छा उस समय जड़ वस्तु को नष्ट भी कर देती है, जब उसका उससे मोहभंग हो जाता है।

''उन राष्ट्रों में, जिन्होंने उच्चतर ऐतिहासिक महत्त्व अर्जित किया था, उनके राष्ट्रीय जीवन का उत्कर्ष उनकी धार्मिक चेतना के सर्वोच्च विकास के अनुरूप ही था (तथा दोनों एक साथ घटित हुए थे) तथा उनके वैभव व उनकी सत्ता का पराभव भी धार्मिक संस्कृति के पराभव के साथ ही जुड़ा हुआ है।''

सत्य तक पहुँचने के लिए ज़रूरी है कि लेखक के कथन को एकदम उलट दिया जाए क्योंकि उसने इतिहास को सिर से बल खड़ा कर दिया है। प्राचीन विश्व के जनगणों में यूनान तथा रोम निश्चय ही सर्वोच्च 'ऐतिहासिक संस्कृति' वाले देश हैं। यूनान ने आंतरिक रूप से उत्कर्ष पाया–पैरिक्लीज़ के काल में तथा बाह्य रूप से सिकन्दर के काल में। पैरिक्लीज़ के काल में दर्शन, कला तथा अलंकार शास्त्र एवं वक्तृता के मूर्त रूप माने जाने वाले सोफिस्टों

---

1. **जड़पूजा**— किन्हीं निर्जीव वस्तुओं को अलौकिक शक्तियों से संपन्न मानकर उनकी पूजा करना; इसके अवशेषों को आधुनिक धर्मों में देखा जा सकता है।

(तार्किकों) तथा सुकरात ने धर्म के पैर उखाड़ दिये थे। सिकन्दर का काल अरस्तू का काल था जिन्होंने पृथक (विशिष्ट) आत्मा की अनंतता तथा राजकृत धर्मों के ईश्वर की अवधारणा को खंडित कर दिया था और जहाँ तक रोम का सवाल है सिसेरो को पढ़ो ! जब रोम अपने विकास के चरमोत्कर्ष पर पहुँचा तो एपीक्यूरसवादी, स्टोइक[1] तथा संशयवादी[2] दर्शन सुसंस्कृत रोमवासियों के धर्म बन चुके थे। इस तथ्य की और अधिक व्याख्या करने की ज़रूरत नहीं है कि प्राचीन राज्यों के पतन के साथ ही उनके धर्मों का भी लोप हो गया क्योंकि प्राचीन जनगणों का 'वास्तविक धर्म ', 'उनकी जातीयता' तथा उनके 'राज्य' का ही पंथ था। प्राचीन धर्मों के पराभव के कारण प्राचीन राज्यों का पतन नहीं हुआ बल्कि प्राचीन राज्यों के पतन के कारण ही प्राचीन धर्मों का पराभव हुआ। इस अग्रलेख में जो अज्ञानता दिखाई देती है वह स्वयं को 'वैज्ञानिक शोध का नियामक' घोषित कर देती है तथा दर्शन के लिए 'आज्ञप्तियाँ ' जारी कर देती है।

''संपूर्ण प्राचीन विश्व का पतन व पराभव इसलिए हुआ कि वैज्ञानिक विकास के क्षेत्र में जनगणों द्वारा की गयी प्रगति उन ग़लतियों के उद्घाटन से अनिवार्य रूप से जुड़ी हुई थी, जिन पर उनके धार्मिक विचार आधारित थे।''

इसका अर्थ है–अग्रलेख के अनुसार कि संपूर्ण प्राचीन विश्व का पराभव इसलिए हुआ कि वैज्ञानिक शोध ने प्राचीन धर्मों की ग़लतियों को उजागर कर दिया था। यदि विज्ञान धर्म की ग़लतियों के संबंध में चुप्पी साध लेता और यदि अग्रलेख का लेखक रोमन अधिकारियों को ल्यूक्रेशियस तथा लूसियन की रचनाओं का उन्मूलन करने की सिफ़ारिश भी कर चुका होता, तो क्या प्राचीन विश्व नष्ट होने से बच जाता?

---

1. **स्टोइक पंथी**— उस दार्शनिक धारा के समर्थक जिसका उदय यूनान में ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में हुआ तथा जो ईसा की छठी शताब्दी तक चलती रही। वे भौतिकवाद तथा भाववाद के बीच झूलते रहे। अपने आरंभिक काल में उन्होंने प्रमुख रूप से अपना ध्यान भौतिकवादी नज़रिये से प्रकृति के नियमों तथा संज्ञान के सिद्धांत के अध्ययन पर केन्द्रित किया। रोमन साम्राज्य के काल के नव स्टोइकों ने खासकर आचार शास्त्र के प्रश्नों में रुचि दिखाई तथा धार्मिक एवं भाववादी दृष्टि से उनका विवेचन किया और आत्मा के अशरीरी अस्तित्व, भाग्य के समक्ष मनुष्य के समर्पण व बुराई का अ–प्रतिरोध, आत्मपीड़न, तपश्चर्यावाद तथा ईश्वर की खोज करने संबंधी मतों का समर्थन किया। इस सबने ईसाई धर्म के गठन को प्रभावित किया।
2. **संशयवादी**— भाववादी दर्शन की एक धारा के समर्थक जो वस्तुगत यथार्थ को जान पाने की संभावना पर संदेह करते थे। इस चिन्तन–धारा का उदय यूनान में ईसा–पूर्व चौथी–तीसरी शताब्दी में हुआ। पूँजीवादी दर्शन के उषा–काल में संशयवाद ने मध्ययुगीन विचारधारा तथा चर्च के ख़िलाफ़ संघर्ष में प्रगतिशील भूमिका अदा की। संशयवाद का अतिवादी रूप अज्ञेयवाद है।

जहाँ तक अन्य बातों का सवाल है, हम श्रीमान् हरमीज़ के विलक्षण ज्ञान का विस्तृत अध्ययन एक अन्य लेख में करेंगे।

ठीक उसी समय जब प्राचीन विश्व का पराभव आसन्न था, सिकन्दरी संप्रदाय का उदय हुआ; जिसने यूनानी पुराण शास्त्र की 'शाश्वत् सत्यता' तथा 'वैज्ञानिक शोध के साथ उसके पूर्ण तादात्म्य' को बलपूर्वक सिद्ध करने का प्रयत्न किया। सम्राट जूलियन भी इस प्रवृत्ति (जिसका विश्वास था कि नव्य विकासमान युग–चेतना को आँखें मूँदकर अनदेखा करने भर से लुप्त किया जा सकता था) के साथ ही जुड़े हुए थे। फिर भी हम हरमीज़ के निष्कर्षों की परीक्षा को जारी रखें। प्राचीन धर्मों में 'दैवीय की क्षीण अवधारणा ग़लती की काली रात में लिपटी हुई थी' और इसीलिए वैज्ञानिक शोध का सामना नहीं कर पायी। ईसाइयत के अंतर्गत मामला इसका एकदम उलट है जैसा कि किसी भी सोचने वाली मशीन का निष्कर्ष होगा। हरमीज़ उवाच :—

"वैज्ञानिक शोध के महानतम निष्कर्षों ने अभी तक ईसाई धर्म के सत्यों की पुष्टि में ही सहायता की है।"

हम फ़िलहाल इस तथ्य पर ग़ौर नहीं करते कि अतीत के समस्त दर्शनों पर धर्मज्ञानियों ने ईसाई धर्म का परित्याग करने का आरोप लगाया था, यहाँ तक कि धर्मनिष्ठ मालब्रांश तथा दैवीय प्रेरणा से परिपूर्ण जैकब बेहमे के दर्शन पर भी। फ़िलहाल इसे भी छोड़ दें कि लीबनिज़ पर ब्रूसंविक के किसानों ने आस्था शून्य (किसी में आस्था न रखने वाला) होने का तथा अंग्रेज़ क्लार्क व न्यूटन के अन्य समर्थकों ने अनीश्वरवादी होने का आरोप लगाया था। हम फ़िलहाल इस तथ्य को भी छोड़ना चाहेंगे कि प्रोटेस्टेंट धर्मज्ञानियों के सर्वाधिक समर्थ एवं सुसंगत हलके की यह मान्यता है कि ईसाइयत का विवेक के साथ तालमेल नहीं बैठाया जा सकता क्योंकि 'धर्मनिरपेक्ष' तथा 'आध्यात्मिक' विवेक एक–दूसरे के विरोधी होते हैं, जिसे तेर्तूलियाँ ने क्लासिकीय शैली में यह कहकर व्यक्त किया था: 'यह सत्य है क्योंकि यह बेतुका है।' इस सबको एक तरफ़ रखकर हम पूछना चाहते हैं : धर्म के साथ वैज्ञानिक शोध की संगति को सिद्ध कैसे किया जाना है? सिवाय वैज्ञानिक शोध को अपना रास्ता चुनने की छूट देकर और इस तरह धर्म में अपना समाधान पाने को उसे विवश करके। अन्य किसी भी प्रकार की बाध्यता प्रमाण नहीं बन सकती।

हाँ, यदि प्रारम्भ से ही वैज्ञानिक शोध के परिणाम के रूप में उसे ही स्वीकार करें जो आपकी अपनी दृष्टि से मेल खाता हो, तो पैग़म्बर की भंगिमा अपनाना आसान है। पर उस

स्थिति में आपके दावे भारतीय ब्राह्मण के दावों से श्रेष्ठ कैसे हैं? जो वेदों[1] की पवित्रता (दैवीयता) को सिद्ध करने के लिए वेदों के अध्ययन का अधिकार मात्र स्वयं में आरक्षित कर लेता है?

हरमीज़ का कहना है कि हाँ, यह 'वैज्ञानिक शोध' का प्रश्न है। किन्तु ईसाई धर्म से भिन्न मत रखने वाला प्रत्येक शोध 'बीच रास्ते में रुक जाता है' या 'ग़लत राह ले लेता है।' क्या आप किसी अन्य अधिक सुविधाजनक तर्कपद्धति की कल्पना कर सकते हैं?

वैज्ञानिक शोध ''जैसे ही वह अपने परिणामों की अंतर्वस्तु के बारे में 'स्पष्ट'हो जाता है, का ईसाई धर्म के सत्यों के साथ कोई मतभेद नहीं रहेगा।'' तथापि साथ ही राज्य को यह 'सुनिश्चित कर लेना' चाहिए कि यह'स्पष्टीकरण' असंभव ही बना रहे क्योंकि शोध को आम जनता की समझ के स्तर के अनुरूप नहीं बन जाना चाहिए; यानी इसे कभी भी लोकप्रिय (आम) तथा स्वयं में स्पष्ट नहीं होना चाहिए। जब राजतंत्र के समर्थक समस्त अख़बारों में अवैज्ञानिक खोजियों द्वारा इस पर हमले होते रहें, तो भी इसे विनम्रता दिखाते हुए चुप रहना चाहिए।

ईसाई धर्म 'किसी नये पराभव' की संभावना को असंभव मानता है, लेकिन फिर भी पुलिस को चौकन्ना रहकर देखना चाहिए कि कहीं दार्शनिकता का जामा ओढ़े अख़बारों के कोई लेखक ऐसे पराभव के कारक न बन जाएँ; उन्हें बेहद सख़्ती के साथ सावधानी बरतनी चाहिए। सत्य के साथ संघर्ष में मिथ्या अनिवार्य रूप से अपने सही रूप में पहचानी जाएगी और इसके लिए किसी बाह्य बल द्वारा दमन की ज़रूरत ही कहाँ है, पर राज्य को चाहिए कि वह सत्य के संघर्ष को आगे बढ़ाये, उसमें सहायक हो। ऐसा करने के लिए ज़रूरी यह नहीं है कि 'मिथ्या' के पक्षधरों को आंतरिक स्वतंत्रता से वंचित कर दिया जाए; क्योंकि वह उनसे छीनी भी नहीं जा सकती, बल्कि यह कि उन्हें इस स्वतंत्रता की संभावना से वंचित कर दिया जाए।

ईसाई धर्म को अपनी विजय का पक्का भरोसा है, किन्तु हरमीज़ के अनुसार यह भरोसा इतना पक्का नहीं है कि पुलिस की सहायता को ठुकरा दिया जाए।

यदि आरम्भ से ही हर उस चीज़ को जो आपकी आस्था के विपरीत जाती है, मिथ्या मान लिया जाना तय है तो फिर वह क्या चीज़ है जो आपके दावों तथा एक मुसलमान के अथवा अन्य किसी धर्म के दावों में अन्तर पैदा कर देती है? तो फिर क्या दर्शन को जड़ सूत्रवाद

---

1. वेद—स्तोत्रों, प्रार्थनाओं तथा पूजापद्धतियों संबंधी सूत्रों के प्राचीन भारतीय संकलन जो कि वैदिक साहित्य एवं धर्म की आधार-शिला हैं। इनकी रचना कई शताब्दियों के दौरान हुई, पर ईसा पूर्व छठी शताब्दी तक ये अपने मौजूदा रूप में आ गये।

के बुनियादी तत्वों का विरोध न करने की दृष्टि से 'प्रत्येक देश के अपने अलग रीतिरिवाज़ होते हैं' सूक्ति के अनुरूप अलग-अलग देशों में भिन्न सिद्धांत अपना लेने चाहिए? क्या उसे एक देश में यह मानना चाहिए कि 3 x 1=1 होता है तथा दूसरे देश में यह कि स्त्रियाँ आत्माविहीन होती हैं तथा तीसरे में यह कि स्वर्ग में बीयर पी जाती है? क्या 'सार्वजनिक मानव प्रकृति' जैसी कोई चीज नहीं है; जैसे कि वनस्पतियों तथा सितारों की 'सार्वत्रिक मानव प्रकृति' है? दर्शन का मूल प्रश्न है सत्य क्या है? न कि वह जिसे सत्य माना जाता है। उसका प्रश्न है कि समस्त मानव जाति के लिए (न कि कुछ लोगों के लिए) सत्य क्या है। उसके आधिभौतिक सत्य राजनीतिक भूगोल की सीमाओं को स्वीकार नहीं करते; उसके राजनीतिक सत्य अच्छी तरह से जानते हैं कि 'सीमाएँ ' कहाँ आरम्भ होती हैं, ताकि वह किसी ख़ास विश्व अथवा राष्ट्रीय दृष्टि के भ्रामक क्षितिज को मानव-मस्तिष्क के वास्तविक क्षितिज के साथ गड्ड-मड्ड कर सके। ईसाई धर्म के समस्त रक्षक-समर्थकों में हरमीज़ सर्वाधिक निर्बल है।

ईसाई धर्म के पक्ष में उसकी एकमात्र दलील इसका दीर्घकाल से अस्तित्व में बना रहना है। तो क्या थेलेज़[1] के काल से आज तक दर्शन का अस्तित्व भी नहीं बना हुआ है और क्या स्वयं हरमीज़ ज़ोर देकर यह नहीं कहता है कि पहले कभी की तुलना में आज अपने महत्त्व के बारे में दर्शन के दावे कहीं ज़्यादा वज़नदार हैं?

और अंत में हरमीज़ कैसे यह सिद्ध करता है कि राज्य ईसाई राज्य है, कि राज्य का उद्देश्य नैतिक मनुष्यों का मुक्त संगठन होना नहीं, धर्मावलंबियों का संगठन होना है; स्वतंत्रता का मूर्तरूप होना नहीं बल्कि जड़ सूत्र का मूर्त रूप होना है?

''हमारे समस्त यूरोपीय राज्यों का आधार ईसाई धर्म है।''

तो क्या फ्रांसीसी राज्य का भी? संविधान[2] की धारा-3 'प्रत्येक ईसाई ' अथवा 'ईसाई मात्र' न कहकर यह साफ़ तौर पर निर्दिष्ट करती है कि **समस्त फ्रांसीसी नागरिक व असैनिक पदों के लिए समान रूप से योग्य है।**

प्रशियाई संविधान के खंड-2, अनुच्छेद-13 में भी कहा गया है कि :—

''राज्याध्यक्ष का प्राथमिक दायित्व शाति एवं सुरक्षा —— आंतरिक एवं बाह्य दोनों दृष्टियों से बनाये रखना तथा प्रत्येक व्यक्ति की जो कुछ भी उसका अपना है, उसके संदर्भ में हिंसा व हस्तक्षेप से रक्षा करना है।''

धारा-1 के अनुसार राज्याध्यक्ष में राज्य के समस्त कर्तव्य एवं अधिकार सन्निहित

1. 7वीं शताब्दी ईसा पूर्व के महान् यूनानी दार्शनिक।
2. 1830 की क्रांति के बाद अंगीकृत संविधान, जो जुलाई राजतंत्र का आधार बना।

होते हैं। अनुच्छेद में यह नहीं कहा गया है कि राज्य का प्राथमिक दायित्व विधर्मी मूलों का दमन करना तथा नागरिकों के लिए स्वर्गीय आनन्द सुनिश्चित करना है।

किन्तु यदि कुछ यूरोपीय राज्य दरअसल ईसाई धर्म पर आधारित भी हैं, तो भी क्या ये राज्य अपनी अवधारणा से पूरी तरह मेले खाते हैं, उसके सदृश हैं और क्या किसी परिस्थिति का 'विशुद्ध अस्तित्व' उस परिस्थिति के अस्तित्व का अधिकार भी बन जाता है?

हरमीज़ की राय में स्थिति निश्चित रूप से यही है, क्योंकि वह तरुण हेगेल-पंथियों के अनुयायियों को स्मरण दिलाते हैः

''कि उन क़ानूनों के अनुसार जो कि राज्य के बड़े हिस्से में लागू हैं, **चर्च द्वारा पवित्र (प्रतिष्ठित) किये जाए बिना कोई भी विवाह उप-पत्नी सहवास ही माना जाता है** तथा इस रूप में पुलिस नियमों के अंतर्गत दण्डनीय भी होता है।

अतः यदि 'चर्च द्वारा प्रतिष्ठित किये जाए बिना भी विवाह को' राइन क्षेत्र में नेपोलियनी संहिता के अन्तर्गत विवाह माना जाता है, तथा प्रशियाई क़ानून के अन्तर्गत स्त्री क्षेत्र में 'उप-पत्नी सहवास' माना जाता है तो 'पुलिस नियमों के अन्तर्गत' दण्ड दार्शनिकों के लिए बहस का मुद्दा बन जाना चाहिए क्योंकि एक स्थान पर जो चीज़ सही है, दूसरे स्थान पर वही ग़लत बन जाती है कि विवाह की वैज्ञानिक, नैतिक तथा तर्कसंगत अवधारणा नेपोलियनी संहिता में नहीं बल्कि प्रएशियाई क़ानून में सन्निहित है। 'पुलिस नियमों के अन्तर्गत दण्ड का यह दर्शन' कुछ स्थानों पर विश्वासोत्पादक बेशक माना जाए, प्रशिया में ऐसा नहीं है। यही नहीं, प्रशियाई संविधान के खंड-2, अनुच्छेद-1, धारा-12 में स्पष्ट रूप से किये गये उल्लेख को ध्यान में रखकर यह भी आसानी से समझा जा सकता है कि 'पवित्र' विवाह सम्बन्धी नज़रिया उक्त धारा के प्रावधान से कितना मेल खाता हैः

''तथापि किसी भी विवाह, जिसे देश के क़ानूनों की अनुमति प्राप्त है, की नागर वैधता में तनिक भी कमी सिर्फ़ इसलिए नहीं आ सकती कि आध्यात्मिक अधिकारियों (शक्तियों) का आशीर्वाद नहीं चाहा गया है अथवा प्राप्त नहीं हुआ है।''

और इस तरह प्रशिया में भी विवाह को 'आध्यात्मिक शक्तियों' से आंशिक रूप से मुक्त कर दिया गया है तथा 'नागर' वैधता और 'धार्मिक' वैधता को अलग कर दिया गया है।

कहना होगा कि राज्य के इस महान् ईसाई दार्शनिक के मन में राज्य के बारे में कोई अच्छी धारणा नहीं है।

''क्योंकि हमारे राज्य मात्र विधिक संगठन नहीं है, बल्कि साथ ही असली शैक्षणिक संस्थाएँ भी हैं। अन्तर सिर्फ़ यही है कि युवाओं की शिक्षा को समर्पित संस्थाओं की तुलना में इनका सरोकार अधिक व्यापक है'', ''समूची जन-शिक्षा ईसाई धर्म की नींव पर खड़ी है।''

हमारे स्कूली युवाओं की शिक्षा प्राचीन क्लासिकों (आदर ग्रंथों) पर तथा विज्ञानों पर भी उतनी ही आधारित है, जितनी कि प्रश्नोत्तर पर आधारित इस धर्म–शिक्षा पर।

हरमीज़ की राय में राज्य युवाओं की शिक्षा से सम्बन्धित संस्था से अन्तर्वस्तु की दृष्टि से नहीं बल्कि व्याप्ति की दृष्टि से भिन्न होता है, इसका 'सरोकार' अधिक व्यापक होता है।

राज्य द्वारा संचालित सच्ची जन–शिक्षा राज्य के विवेक संगत तथा सार्वजनिक अस्तित्व में निहित होती है; राज्य स्वयं अपने सदस्यों को इससे सम्बद्ध करके प्रशिक्षित करता है, व्यक्ति के उद्देश्यों को सबके उद्देश्यों में रूपांतरित करके; अपरिष्कृत वृत्ति को नैतिक रुझान में, नैसर्गिक स्वाधीनता को आत्मिक स्वतंत्रता में रूपांतरित करके प्रशिक्षित करता है, जिससे व्यक्ति अपना भला सामूहिक जीवन में देखने लगता है तथा समूह को अपना भला व्यक्ति के मस्तिष्ट के चौखटे के भीतर दिखायी देने लगता है।

दूसरी ओर यह अग्रलेख राज्य को स्वतंत्र मनुष्यों के संघ के रूप में न देखकर, वयस्कों की ऐसी भीड़ बनाकर प्रस्तुत करता है जिसकी नियति 'ऊपर' से प्रशिक्षित होना तथा 'संकीर्ण' स्कूली कक्ष से 'अधिक बड़े' कक्ष में प्रवेश करना है।

शिक्षा तथा अभिभाकत्व का यह सिद्धांत प्रेस की स्वतंत्रता के हिमायती ने प्रस्तुत किया है जो इस सौन्दर्य के प्रति आसक्त होकर 'सेंसरशिप की लापरवाहियों' की ओर इशारा करता है। जो यह जानता है कि 'आम जनता की समझ के स्तर' का उपयुक्त स्थान पर क्या चित्र खींचा जाए (शायद 'आम जनता की समझ का स्तर' पिछले दिनों कोल्निश गज़ेट की नज़रों में इसलिए संदेहास्पद होने लगा है कि जनता इस 'अदार्शनिक अख़बार' की श्रेष्ठता को अब स्वीकार नहीं करती?) तथा जो विद्वानों को दोग़लेपन की यह सलाह देता है कि वे मंच से एक बात कहें तथा मंच के पिछवाड़े दूसरी !

यह अग्रलेख जिस तरह राज्य के बारे में अपनी 'निकृष्ट' राय का दस्तावेज़ी प्रमाण प्रस्तुत करता है, अब उसी तरह 'ईसाई धर्म' के बारे में भी करता है।

''दुनिया–भर के तमाम अख़बारी लेख किसी भी जनगण को— जो कुल मिलाकर स्वस्थ व प्रसन्न अनुभव करता है— कभी भी यह नहीं समझा पाएँगे कि वह खेदजनक तथा बदनसीबी के हाल में है।''

हम भी यही सोचते हैं। कल्याण तथा सुख की भौतिक अनुभूति अख़बारी लेखों से बचाव की दृष्टि से धर्म में आनन्दमय तथा सर्वविजयी आस्था की तुलना में कहीं अधिक विश्वसनीय व सुदृढ़ परकोटा निर्मित करती है। हरमीज़ यह नहीं गाता कि 'ईश्वर हमारा सुदृढ़ दुर्ग है'।[1] उसके अनुसार 'आम जनता' की सच्ची आस्थावृत्ति को 'चुनिंदा' लोगों की

1. मार्टिन लूथर के गीत की पहली पंक्ति।

परिष्कृत लौकिक संस्कृति की तुलना में संदेह की ज़ंग लग जाने का ख़तरा कहीं अधिक है।

हरमीज़ की मान्यता है कि 'सुव्यवस्थित चर्च' की तुलना में 'सुव्यवस्थित राज्य' में 'बग़ावत के उकसावे' कम ख़तरनाक होते हैं (क्योंकि चर्च तो हक़ीक़त में 'ईश्वर की आत्मा' से निर्देशित होता है)। वह कितना शानदार धर्मावलम्बी है और अब उसका कारण देखें ! मसलन जनता राजनीतिक लेखों को तो समझ सकती है पर दार्शनिक लेख उसकी समझ से परे होते हैं!

अन्त में यदि अग्रलेख में किये गये इशारे—कि हाल ही में तरुण हेगेलपंथियों के ख़िलाफ़ किये गये आधे उपायों (कम सख़्त क़दमों) के वही परिणाम निकले हैं, जो आमतौर पर आधे उपायों के निकलते हैं—को उसकी इस निष्कपट आकांक्षा के साथ रखकर देखा जाए कि हेगेलपंथियों के ताज़ा प्रयास 'बिना किसी भी तरह के नुकसानदेह परिणामों के चुक जाएँगे तो किंग लियर में कार्नवाल के ये शब्द आसानी से समझ में आ सकते हैं:—

''वह लल्लो चप्पो नहीं कर सकता, वह—
निष्कपट मन का धनी और साफ़गो—
वह तो सच ही बोलेगा :
और वे यक़ीन कर लेंगे; यदि नहीं,
तो भी वह वह साफ़गो ही है।
ऐसे पाजियों को मै जानता हूँ जो साफ़गोई में
धूर्तता छिपाये होते हैं तथा
अपने दायित्वों का अतिक्रमण करने वाले
बीसियों हास्यास्पद—झुकने वाले अनुपालकों
से कहीं अधिक
कुत्सित मंतव्यों को मन में रखे होते हैं।''[1]

हमारी समझ है कि राइनी गज़ेट[2] के पाठकों के बारे में यह कल्पना करना कि वे 'गुज़रे

---

1. विलियम शेक्सपियर के महान नाटक किंग लियर में कार्नवाल का कैंट के संदर्भ में वक्तव्य एक्ट—II, दृश्य 2

2. **राइनी गज़ेट**—'राजनीतिक, व्यापार तथा उद्योग सम्बन्धी प्रश्नों का राइनी अख़बार' कोलोन में 1 जनवरी, 1842 से प्रकाशित होने वाला दैनिक। प्रशियाई राजतंत्र का विरोध करने वाले राइनी पूँजीपति वर्ग के प्रतिनिधियों ने उसका प्रकाशन आरम्भ किया था। उसमें कुछ तरुण हेगेलपंथी (वामपंथी हेगेलपंथी) भी लिखते रहे। अप्रेल, 1842 में कार्ल मार्क्स ने भी इसमें लिखना शुरू किया और उसी वर्ष अक्टूबर में वह उसके सम्पादक-मंडल के सदस्य बन गये। एंगेल्स के भी अनेक लेख उसमें प्रकाशित हुए। मार्क्स के सम्पादकत्व में वह अधिकाधिक क्रांतिकारी-जनवादी होता गया। सरकार ने अख़बार पर कड़ा सेंसरशिप लागू कर दिया। 31 मार्च, 1843 को वह बंद हो गया।

ज़माने के एक युवा' उदारवादी योद्धा[1] की मरम्मत के दृश्य—जो गम्भीर कम और हास्योत्पादक अधिक होगा—से संतुष्ट होंगे, उनके साथ ज़्यादती होगी, अपमानजनक भी। हम 'असली मुद्दे' के बारे में कुछ कहना चाहेंगे। जब तक हम रूग्ण लेख़ के ख़िलाफ़ विवाद में लीन थे, उसके (हरमीज़ के) आत्म-विनाश के काम में व्यवधान डालना उचित नहीं लगा।

सबसे पहले तो उस प्रश्न को देखें जो उठाया गया है:

''क्या दर्शन को अख़बारों के लेखों में भी धार्मिक मामलों पर बहस चलानी चाहिए?''

इस प्रश्न का उत्तर मात्र इसकी आलोचना करके ही दिया जा सकता है।

दर्शन, ख़ासकर जर्मन दर्शन का रुझान एकाकीपन, सुव्यवस्थित एकांत, आवेगहीन आत्म-परीक्षण की ओर रहा है जिसने आरम्भ से ही उसे प्रत्युत्पन्नति एवं घटनाओं के जानकार अख़बारों (जिनकी एकमात्र दिलचस्पी सूचना में होती है) विरक्त वैषम्य की स्थिति में रखा है। दर्शन अपने सुव्यवस्थित विकास के अर्थ में आलोकप्रिय होता है। आम आदमी को इसके भीतर सन्निहित इसके रहस्यमय जीवन की खोज जितनी बेतुकी लगती है उतनी ही अव्यावहारिक भी। इसे जादुई कलाओं के प्रदर्शक के रूप में देखा जाता है, जिसका मंत्रोच्चारण इसलिए विस्मय व भय से भर देता है क्योंकि वह किसी की समझ में आता ही नहीं।

अपनी प्रकृति के अनुरूप आचरण करते हुए दर्शन ने पुरोहितों के संन्यासी-सुलभ वस्त्रों की अख़बारों के हल्के, पारम्परिक परिधान से अदला-बदली करने के लिए कभी भी पहल नहीं की है। बहरहाल, दार्शनिक कुकुरमुत्तों की तरह तो होते नहीं जो यूँ ही ज़मीन फोड़कर निकल आएँ। वे अपने युग, अपनी जाति की उपज होते हैं, दर्शन के विचारों में जिनके अत्यन्त सूक्ष्म, मूल्यवान तथा अदृश्य रस प्रवाहित होते हैं। जो चेतना श्रमिक के हाथों के माध्यम से रेलवे का निर्माण करती है। जो चेतना श्रमिकों के हाथों के माध्यम से रेलवे का निर्माण करती है, वही दार्शनिकों के मस्तिष्कों में दार्शनिक प्रणालियाँ भी निर्मित करती है। विश्व से परे दर्शन का कोई अस्तित्व नहीं होता, ठीक वैसे ही जैसे मनुष्य के परे मस्तिष्क का अस्तित्व नहीं होता, यह पेट में तो स्थित होता नहीं। किंतु दर्शन वस्तुतः ज़मीन पर अपने पैर रखकर खड़ा होने से पहले मस्तिष्क के माध्यम से अस्तित्वमान होता है; जबकि मानवीय कार्य-व्यापार के कई क्षेत्र ऐसे हैं जिनके पैर ज़मीन में काफ़ी गहरे जमे हुए हैं तथा जो उस समय भी अपने हाथों से इस संसार के फल तोड़ने लग जाते हैं; जब उन्हें यह गुमान तक नहीं होता कि 'सिर' भी इसी संसार का हिस्सा है या कि यह संसार भी सिर (मस्तिष्क) का ही संसार है।

---

1. कोल्निश गज़ेट के सम्पादक हरमीज़ द्वारा अपने युवा काल में जर्मन विद्यार्थियों के विरोध में भाग लिये जाने की ओर संकेत।

चूँकि हर सच्चा दर्शन अपने युग का बौद्धिक सार-तत्त्व होता है, इसलिए जब़ दर्शन अपने समय की वास्तविक दुनिया के साथ न केवल आंतरिक रूप से अपनी अंतर्वस्तु के माध्यम से, बल्कि बाह्य रूप से अपने रूप के माध्यम से भी संपर्क में आता है तथा उसके साथ अंतःक्रिया करता है तो युग भी बोलता ही है। तब दर्शन अन्य विशिष्ट प्रणालियों के संबंध में एक विशिष्ट प्रणाली नहीं रह जाता बल्कि मोटे तर पर दुनिया के संबंध में दर्शन बन जाता है, समकालीन विश्व का दर्शन बन जाता है। बाह्य रूप जो इस बात की पुष्टि करते हैं कि दर्शन ने यह अर्थवत्ता तथा सार्थकता अर्जित कर ली है कि यह संस्कृति की जीवन्त आत्मा है, कि दर्शन लौकिक हो गया है तथा दुनिया दार्शनिक हो गयी है, समस्त युगों में एक से रहे हैं। इतिहास की कोई पुस्तक उठा ली जाए, ढेरों ऐसे अनुष्ठानों अथवा धार्मिक कृत्यों के उल्लेख की पुनरावृत्ति साँचे ढली निष्ठा के साथ पायी जा सकती है, जो इस बात का सटीक एवं निर्विवाद संकेत है कि सभाकक्षों, पादरियों के अध्ययनकक्षों, अख़बारों के संपादकीय दफ़्तरों, दरबार के उपकक्षों में, समकालीनों के प्रेम व घृणा में दर्शन का प्रवेश हो चुका है। दर्शन अपने शत्रुओं जो विचारों की ओजस्विता से बचाव के लिए बेतहाशा चीख़-चीख़ कर अपनी आंतरिक संक्रामकता को ही उजागर करते हैं— के शोर-शराबे के बीच दुनिया में क़दम रखता है। दर्शन के लिए उसके शत्रुओं की चीख़ का वही महत्त्व होता है जो कि नवजात शिशु की पहली चीख़ का उत्सुकता से सुनने वाले माँ के कानों के लिए होता है। यह उसके विचारों की जीवंतता का प्रमाण होता है, जिन्होंने प्रणाली के सुव्यवस्थित प्रतीकात्मक छिलके को तोड़ दिया है और इस दुनिया के नागरिक बन गये है। कोरिबांत तथा काबिरी[1], जो अपने तमाम शोर-शराबे भरे तामझाम के साथ शिशु ज़ीयस के आगमन (जन्म) की दुनिया भर के लिए घोषणा करते हैं, सबसे पहले दार्शनिकों के धार्मिक तबकों पर हमला करते हैं, आंशिक रूप से इसलिए कि जनता के भावुकता वाले पक्ष के लिए धर्म-परीक्षण वृत्ति निश्चित रूप से आकर्षक होती है तथा आंशिक रूप से इसलिए कि जनता—जिसमें दर्शन के विरोधी भी सम्मिलित होते हैं—दार्शनिक विचारों के दायरे को अपने आदर्श स्पर्शसूत्र (एंटेना) के माध्यम से ही अनुभव कर सकती है। जनता के लिए भौतिक आवश्यकताओं की प्रणाली जितना ही

1. **कोरिबांत**—फ्रिगियाई देवी सिबिल के पुजारीगण; **काबिरी**—इसी नाम के प्राचीन यूनानी देवताओं के पुजारीगण। एशिया माइनर में कोरिबांत तथा काबिरी समूहों को क्रेट के धर्माध्यक्षों के साथ एकाकार कर दिया गया। ये लोक रिया नामक देवी, ज़ीयस की माँ, के पुजारी थे। यह पौराणिक उल्लेख मिलता है कि इन पुजारियों ने अपनी तलवारों व ढालों को आपस में टकराकर इतना शोर पैदा कर दिया कि नवजात ज़ीयस की आवाज़ उसमें दब गयी।

मूल्यवान विचारों का जो चक्र है वह है— धार्मिक विचारों का चक्र और अंतिम रूप से उक्त हमले का कारण यह भी है कि धर्म का विवाद दर्शन की किसी ख़ास प्रणाली से न होकर तमाम विशिष्ट प्रणालियों के दर्शन होता है।

इस नियति की दृष्टि से आज का सच्चा दर्शन अतीत के सच्चे दर्शनों से क़तई भिन्न नहीं है। इसके विपरीत यह नियति ऐसा प्रमाण है जो इसकी सत्यता के प्रति इतिहास के ऋणदाय से प्रकाश में आया है।

छः वर्ष से जर्मन अख़बार दर्शन के धार्मिक रुझान[1] के ख़िलाफ़ शोर मचाते रहे हैं, उसे तोड़-मरोड़ रहे हैं, उसे परिशोधित कर रहे हैं तथा उस पर झूठे आरोप लगा रहे हैं। ऑग्सबर्ग पत्रिका तो एक ही गीत गाती रही, जिसके प्रत्येक पूर्वरंग से यही विशिष्ट स्वर लहरी निकलती थी कि दर्शन इस लायक़ था ही नहीं कि यह बुद्धिमान महिला उसकी चर्चा करे, कि दर्शन युवावस्था की शेख़ीबाज़ी तथा अतितृप्त गोष्ठी मंडलियों के फ़ैशन से अधिक नहीं होता। किन्तु इस सबके बावजूद दर्शन से बचकर निकल पाना असंभव था। नित नये तरीक़े से ढोल निरन्तर बजते रहे। ऑग्सबर्ग पत्रिका तो वैसे भी अपनी दर्शन-विरोधी बिल्लियों की संगीत सभा में सिर्फ़ एक ही वाद्य बजा सकती है और वह भी उबाऊ नक़्क़ारा। तमाम जर्मन अख़बारों—बर्लिन राजनीतिक समाचार[2] तथा हैंबर्ग संवाददाता[3] से लेकर गुमनाम स्थानीय अख़बारों तक तथा कोल्निश गज़ेट जैसे अख़बार—में हेगेल तथा शैलिंग, फ़ायरबाख़ तथा बावेर, विज्ञान एवं कला की जर्मन वार्षिकी[4] के नामों की गूँज सुनाई पड़ने लगी और फिर जनता की उत्सुकता भी बढ़ी कि यह देखा जाए कि आख़िर यह विशाल समुद्री जीव[5], जिसकी इतनी अधिक चर्चा है, दिखता कैसा है। यह उत्सुकता इसलिए और भी बढ़ गयी क्योंकि अर्द्ध-सरकारी लेखों से यह ख़तरनाक संकेत भी मिल रहा था कि दर्शन के लिए क़ानूनी पाठ्यक्रम सरकारी तौर पर निर्धारित किया जा रहा था। यही वह समय व सन्दर्भ था

---

1. यह संकेत स्ट्रॉस की पुस्तक 'दास लेबेन येसु' द्वारा प्रवर्तित धर्म की दार्शनिक आलोचना के विरोध में जर्मन प्रतिक्रियावादी प्रेस द्वारा छेड़े गये तीखे विवाद की ओर है।
2. अत्यन्त प्रतिक्रियावादी अख़बार जो 1831 और 1841 के बीच प्रकाशित होता रहा। के. हॉलर, लियो तथा रॉमेर आदि के लेख उसमें प्रमुख रूप से प्रकाशित होते थे। उसे राजकुमार फ्रेडरिक-विलियम (1840 से फ्रेडरिक-विलियम चतुर्थ) का समर्थन एवं आशीर्वाद प्राप्त था।
3. प्रतिक्रियावादी तथा राजतंत्रवादी अख़बार, जो चालीस के दशक में प्रतिदिन प्रकाशित होता था।
4. तरुण हेगेलपंथियों की साहित्यिक एवं दार्शनिक पत्रिका विज्ञान एवं कला की जर्मनी वार्षिकी। उसका प्रकाशन लाइप्ज़िग से होता था तथा जुलाई 1841 से जनवरी 1843 तक उसे ए. रूज़ ने संपादित किया।
5. लेवियाथान शब्द का प्रयोग अन्योक्ति के रूप में दर्शन के लिए किया गया है।– अनु.

जब दर्शन का अख़बारों में उदय हुआ। कई वर्षों तक दर्शन मौन रहकर आत्म–तुष्ट सतहीपन के उस दम्भ को देखता–झेलता रहा था- जिसका आशय यह था कि जैसे वह घिसे–पिटे अख़बारी जुमलों से मनीषियों के दीर्घ अध्ययन को, आत्मोत्सर्गी एकांतवास के दौरान मेहनत से प्राप्त फलों को, मंननशील चिन्तन के अदृश्य किन्तु समाप्तप्राय संघर्षों के परिणामों को साबुन के बबूलों की तरह उड़ा देगा। दर्शन ने तो विरोध भी किया कि अख़बार इसके लिए अनुपयुक्त रणस्थल है। किन्तु अंततः उसे अपना मौन तोड़ना पड़ा और फिर तो जैसे वह (दर्शन) अख़बार का संवाददाता ही बन गया और तभी अभूतपूर्व भुलावा देने का प्रयास हुआ अख़बारों के वाचाल प्रबन्धकों को अचानक यह इलहाम हुआ कि दर्शन उनके पाठकों का उपयुक्त आहार नहीं है। उन्होंने सरकारों का ध्यान आकृष्ट करते हुए उसे बताया कि पाठकों को प्रबुद्ध बनाने के इरादे से नहीं बल्कि बाह्य उद्देश्यों की पूर्ति के इरादे से, अख़बारों के माध्यम से दार्शनिक व धार्मिक प्रश्नों का उठाया जाना कितना कुत्सित व बेईमानी भरा है।

दर्शन धर्म के बारे में अथवा स्वयं के बारे में ऐसा क्या कह सकता है? जिसे आपके अख़बारी शोर की तुलना में बुरा कहा जा सके। यह (दर्शन) तो उस बात की पुनरावृत्ति कर सकता है जो तुम अदार्शनिक बन्दरों (दर्शन विरोधी धर्मालंबियों) ने हज़ारों विवादास्पद उपदेशों में इसके बारे में प्रतिपादत किया है— क्या है जो नहीं कहा गया है, बुरे से बुरा!

किन्तु दर्शन धार्मिक एवं दार्शनिक विषयों के बारे में उस तरह बात नहीं करता जिस तरह आप लोग कर चुके हैं। आप उनकी चर्चा उन्हें पढ़े बिना करते हैं, दर्शन उनकी चर्चा उनका अध्ययन करके करता है; आप भावनाओं को आकर्षित करते हैं, दर्शन विवेक को आकर्षित करता है; आप शाप देते हैं, दर्शन सिखाता है; आप लोक–परलोक का आश्वासन देते हैं, दर्शन सत्य के अतिरिक्त किसी चीज़ का आश्वासन नहीं देता; आप अपने विश्वासों में आस्था की शर्त लगाते (माँग करते) हैं, दर्शन अपने परिणामों में आस्था की नहीं सन्देहों की परख करने की माँग करता है; आप भयभीत करते हैं, यह शांत करता है। सच तो यह है कि दर्शन को दुनिया का इतना ज्ञान है कि उसे यह भी अहसास है कि उसके परिणाम परलोक अथवा इहलोक को विलासप्रियता तथा अहंमन्यता को सन्तोष नहीं देते। किन्तु जनता, जो सत्य एवं ज्ञान को इनके गुणों के कारण ही प्यार करती है; अज्ञानी, जी–हुजूरी बजाने वाले, असंगत, स्वार्थी क़लमघिस्सुओं के फ़ैसले एवं नैतिकता के विरुद्ध दर्शन के फ़ैसले व नैतिकता का सही मूल्यांकन कर पाने में समर्थ व सफल सिद्ध होगी।

यह ठीक है कि ऐस कुछ लोग हो सकते हैं जो समझ व दृष्टि की दरिद्रता के कारण दर्शन की ग़लत व्याख्या करते हैं। पर क्या आप प्रोटेस्टेंट लोग यह नहीं मानते कि कैथोलिकों ने ईसाइयत की ग़लत व्याख्या की है? क्या आप 8वीं तथा 9वीं शताब्दियों के शर्मनाक दौर के

लिए अथवा संत बार्थोलोम्यू[1] की काली रात्रि के कारण अथवा धर्म-न्यायाधिकरण के कारण ईसाई धर्म की लानत-मलामत नहीं करते हैं? इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि दार्शनिकों के प्रति प्रोटेस्टेंट धर्मज्ञानियों की घृणा का कारण काफ़ी हद तक वह सहिष्णुता है जिसे दर्शन प्रत्येक धार्मिक आस्था तथा संप्रदाय के प्रति रखता व प्रदर्शित करता है। फ़ायरबाख़ तथा स्ट्रॉस की जितनी आलोचना यह घोषित करने के लिए हुई है कि ईसाइयत के जड़सूत्रवादी सिद्धांत विवेक से उत्पन्न नहीं हुए, उससे अधिक आलोचना कैथोलिक जड़ सूत्रों को ईसाई धर्म के अनुरूप मानने के लिए हुई।

लेकिन यदि कुछ व्यक्ति आधुनिक दर्शन को न पचा पायें और दार्शनिक अपच से मर जायें, तो इसे दर्शन के विरुद्ध प्रमाण नहीं माना जा सकता--- जैसे इंजन के बायलर के फट जाने और उसके परिणामस्वरूप यात्रियों के ज़ख़्मी हो जाने को यांत्रिकी से संबंधित विज्ञान के विरुद्ध प्रमाण नहीं माना जा सकता।

यह प्रश्न कि दार्शनिक एवं धार्मिक विषयों पर अख़बारों में बहस होनी चाहिए अथवा नहीं, अपनी वैचारिक दरिद्रता के कारण ही रद्द हो जाता है।

जब इन प्रश्नों में जनता वैसी दिलचस्पी लेने लगती है जैसी अख़बारी प्रश्नों में, **तब ये युग के प्रश्न बन जाते हैं।** तब समस्या यह नहीं होती कि उन पर चर्चा होनी चाहिए अथवा नहीं, बल्कि यह कि उन पर कहाँ व कैसे चर्चा की जानी चाहिए---यानी उन पर परिवारों के दायरे में, बैठक कक्षों में, स्कूलों व चर्चों में चर्चा की जा सकती है पर अख़बारों में नहीं; दर्शन के विरोधी इसके बारे में चर्चा कर सकते हैं, पर दार्शनिक नहीं; यह चर्चा निजी मान्यता की दुरूह भाषा में हो सकती है, पर सार्वजनिक विवेक की स्पष्ट भाषा में नहीं। तब सवाल यह उठता है कि प्रेस के दायरे में वह सब समाहित होना चाहिए या नहीं जो यथार्थ के रूप में अस्तित्वमान है। मुद्दा प्रेस की विशिष्ट अंतर्वस्तु से ही जुड़ा नहीं रहता बल्कि उस व्यापक प्रश्न से जुड़ जाता है कि प्रेस को असली प्रेस, यानी स्वतंत्र प्रेस होना चाहिए या नहीं।

हम दूसरे सवाल को पहले सवाल से पूरी तरह पृथक करना चाहेंगे: ''क्या एक तथाकथित ईसाई राज्य में अख़बारों को राजनीति का प्रतिपादन दार्शनिक ढंग से करना चाहिए।?''

जब धर्म राजनीतिक कारक---राजनीतिक की विषय-वस्तु---बन जाये तो कहना न होगा कि अख़बार न केवल राजनीतिक प्रश्नों पर चर्चा कर सकते हैं, बल्कि उन्हें ऐसा करना

---

1. संत बार्थोलोम्यू की रात्रि--- बार्थोलोम्यू पर्व की पूर्व-रात्रि को, 24 अगस्त 1572 को पेरिस में कैथोलिकों द्वारा ह्यू गनाटों का नरसंहार, जिसका आदेश कैथोलिक पुरोहितों के उकसावे में आकर फ्रांसीसी दरबार ने दिया था। यह नरसंहार तीन दिन तक चलता रहा तथा कई हज़ार ह्यू गनाट मारे गये थे। इसी तरह के नरसंहार समूचे फ्रांस में आयोजित किये गये।

ही चाहिए। यह स्पष्ट ही है कि दर्शन (जो कि इहलोक की प्रज्ञा तथा विवेक है) का धर्म (जो कि परलोक संबंधी प्रज्ञा है) की तुलना में इस दुनिया तथा राज्य से संबंधित प्रश्नों से सरोकार रखने का अधिक अधिकार है। यहाँ मुद्दा यह नहीं है कि राज्य को लेकर चिन्तन किया जाना चाहिए अथवा नहीं बल्कि यह कि यह चिंतन व्यवस्थित ढंग से हो अथवा फूहड़ ढंग से, दार्शनिक तरीक़े से हो अथवा अदार्शनिक तरीक़े से, पूर्वाग्रहग्रस्त होकर हो या पूर्वाग्रहमुक्त होकर, सुसंगत रूप से हो या असंगत रूप से, विवेकसंगत ढंग से हो या अर्द्धविवेकसंगत ढंग से। यदि आप धर्म को संवैधानिक क़ानून के सिद्धांत के रूप में बदल देते हैं तो आप स्वयं धर्म को एक प्रकार के दर्शन में बदल रहे होते हैं।

क्या सर्वोपरि ईसाई धर्म ने ही चर्च व राज्य को एक-दूसरे से पृथक नहीं किया था?

संत ऑगस्टीन की कृति 'डे सिविटेट डेइ' पढ़ ले, चर्च के आचार्यों तथा ईसाई धर्म के सार का अध्ययन कर लें और फिर आपस आकर हमें बता दें कि राज्य अथवा चर्च 'ईसाई राज्य' है। क्या आपको नहीं लगता कि आपके व्यावहारिक जीवन का प्रत्येक क्षण आपके सिद्धांत पर असत्य होने की छाप लगाता है? क्या धोखाधड़ी का शिकार होने पर न्यायालय में अपील करना आपको ग़लत लगता है? किन्तु मसीहा लिखता है कि यह ग़लत है। एक गाल पर थप्पड़ खाने के बाद आप दूसरा गाल भी थप्पड़ के लिए प्रस्तुत कर देते हैं या आप हमले के ख़िलाफ़ कार्रवाई कराने का प्रयास करते हैं? लेकिन ईसाई धर्म तो इसकी अनुमति नहीं देता। क्या आप इस दुनिया में विवेकसम्मत अधिकार की माँग नहीं करते हैं, करों में तनिक भी वृद्धि किये जाने पर क्या आप बड़बड़ाते नहीं हैं, अपनी व्यक्तिगत स्वतंत्रता के हल्के से अतिक्रमण से क्या आप आगबबूला नहीं हो जाते हैं? पर आपको तो यह बताया गया है कि इस जीवन में पीड़ा की भविष्य के आनन्द से तुलना नहीं की जानी चाहिए, कि निश्चेष्ट सहनशीलता तथा आनंदमय आशा आधारभूत गुण होते हैं।

क्या आपके अधिकांश अदालती मुक़दमे तथा अधिकांश दीवानी क़ानून संपत्ति से जुड़े हुए नहीं है? किन्तु आपको तो यह बताया गया है कि यह दुनिया आपका ख़जाना नहीं है। अथवा यदि-आप यह सफाई दें कि आप सीज़र की चीज़ें सीज़र को और ईश्वर की चीज़ें ईश्वर को दे देते हैं, तब तो आपको न केवल धन-कुबेर को बल्कि उतने भर में ही स्वतंत्र विवेक को भी इस दुनिया का शासक मानना चाहिए। जिसे हम दार्शनिक चिन्तन कहते हैं वह 'स्वतंत्र विवेक से उत्पन्न कर्म' का ही दूसरा नाम है।

जब **पवित्र गठबंधन** के रूप में राज्यों का अर्द्ध-धार्मिक संघ गठित करने का तथा धर्म को यूरोप का राज्य प्रतीक चिह्न बनाने का प्रस्ताव किया गया, तो पोप ने गहरी समझदारी तथा निर्दोष सुसंगतता दिखाते हुए उसमें शामिल होने से इन्कार कर दिया, इस आधार पर

जनगणों के बीच की सार्वत्रिक ईसाई कड़ी चर्च है, न कि राजनय और न राज्यों का धर्मनिरपेक्ष संघ।

सही मायने में धार्मिक राज्य तो धर्मतंत्रवादी राज्य होता है; इस प्रकार के राज्यों का अध्यक्ष धर्म का देवता— जैसे यहूदी राज्य में स्वयं यहोवा अथवा ईश्वर का प्रतिनिधि— जैसे तिब्बत में दलाईलामा होना चाहिए। या फिर जैसे गेरेस ने अपनी ताज़ा पुस्तक में माँग की है, सभी ईसाई राज्यों को एक ऐसे चर्च के अधीन हो जाना चाहिए जिसे कि 'भ्रमातीत चर्च' माना जा सकता हो। क्योंकि जहाँ चर्च का कोई सर्वोच्च प्रमुख नहीं होता, जैसे प्रोटेस्टेंटवाद के अंतर्गत, तो वहाँ धर्म का शासन, शासन के धर्म (सरकारी इच्छा संप्रदाय) से भिन्न कैसे हो सकता है?

जैसे ही कोई राज्य समान अधिकारों से संपन्न विभिन्न धार्मिक पंथों को समाहित कर लेता है, वह किन्हीं ख़ास पंथों के अधिकारों का हनन करें बिना धार्मिक राज्य हो ही नहीं सकता और न ऐसे चर्च में रूपांतरित हो सकता है, जो अन्य सभी पंथों के अनुयायियों को काफ़िर घोषित कर दे, जो रोटी के हर ग्रास को व्यक्ति की आस्था पर आश्रित बना दे तथा जड़सिद्धांतों को व्यक्तियों और राज्य के नागरिकों के रूप में उनके अस्तित्व के बीच की कड़ी के रूप में प्रतिष्ठित कर दे। हरे-भरे किन्तु ग़रीब आयरलैंड के कैथोलिक निवासियों से पूछ लीजिए; फ्रांसीसी क्रांति के पूर्व के काल्विनपंथी प्रोटेस्टेंटों (ह्यू गनाटों)[1] से पूछ लीजिए; उन्होंने धर्म के समक्ष अपील दायर नहीं की, क्योंकि उनका धर्म राज्य का धर्म नहीं था; उन्होंने 'मानव जाति के अधिकारों' की दुहाई दी और दर्शन मानव जाति के अधिकारों की व्याख्या करता है तथा यह माँग करता है कि राज्य मानवीय स्वभाव वाला राज्य होना चाहिये।

किन्तु बेमन और संकीर्ण बुद्धिवाद (जो बराबर मात्रा में निरीश्वरवादी तथा धर्मविज्ञानी दोनों ही है) की मान्यताओं के अनुसार ईसाई धर्म का सार-तत्व राज्य का सार-तत्व बनना चाहिए, पंथों की विविधता व भिन्नताओं के बावजूद। वास्तव में अस्तित्वमान धर्म से उसके सार-तत्व को पृथक करना सबसे बड़ा अधर्म है, यह धर्म-निरपेक्ष विवेक की अहंमन्यता भी

1. **ह्यू गनाट**—16वीं व 17वीं शताब्दियों में फ्रांस में काल्विनपंथी प्रोटेस्टेंट। आंदोलन के प्रारम्भ में वे मुख्यतः पूँजीपति व दस्तकार थे किन्तु बाद में सत्ता संकेन्द्रित करने की सम्राट की नीति से असंतुष्ट दक्षिणी फ्रांस का अभिजात वर्ग तथा सामंती ज़मींदारों का एक हिस्सा भी उसमें सम्मिलित हो गया और आंदोलन में प्रमुख भूमिका निभाने लगा। आंदोलन के विकास ने फ्रांस में कैथोलिकों तथा ह्यू गनाटों के बींच गृहयुद्ध को जन्म दिया, जो 1962 में शुरू हुआ तथा संत बार्थोलोम्यू की रात्रि के बाद तेज़ हो गया तथा 1594 तक चलता रहा। ह्यू गनाटों को नांते के आदेश के तहत धार्मिक आस्था की स्वतंत्रता प्रदान की गयी, पर सरकार तथा कैथोलिक चर्च द्वारा उनका उत्पीड़न जारी रहा।

है। जड़ सिद्धांतों तथा संस्थाओं से धर्म का पृथक्करण इस बात पर ज़ोर देने जैसा ही है कि राज्य में क़ानून का सार-तत्व क़ायम रहना चाहिए, चाहे इसके लिए अनिवार्य कुछ विशिष्ट क़ानून तथा प्रत्यक्ष व सकारात्मक क़ानूनी संस्थाएँ अस्तित्व में न हों।

यदि आपको अपने बारे में गुमान यह है कि आप धर्म से इतना ऊपर उठ गये हैं कि आप स्वयं को इसके सार-तत्त्व को इसके प्रत्यक्ष रूपों से पृथक करने का अधिकारी मानते हैं, तो फिर आप दार्शनिकों को कैसे धिक्कार सकते हैं? यदि वे इस पृथक्करण को आधा-अधूरा नहीं बल्कि पूरी तरह से क़ायम कर देते हैं, यदि वे धर्म के सार-तत्त्व को ईसाई दृष्टि न कहकर मानवीय दृष्टि कहते हैं?

ईसाई धर्म को मानने वाले लोग भिन्न राजनीतिक संरचनाओं वाले राज्यों में रहते हैं, कुछ गणतंत्र में रहते हैं तो अन्य निरंकुश राजतंत्र में। ईसाई धर्म यह फ़ैसला नहीं करता कि ये संरचनाएँ अच्छी हैं अथवा नहीं। क्योंकि ईसाई धर्म की नज़र में इनमें कोई भेद होता ही नहीं है। यह उन्हें सीख देता है, क्योंकि धर्म तो सीख देगा ही--- सत्ता के सामने समर्पण कर दो, क्योंकि समस्त सत्ता का स्रोत ईश्वर है; इसलिए यह आवश्यक है कि किसी भी राज्य-संरचना के सही या ग़लत होने का फ़ैसला आप ईसाई धर्म के आधार पर न करें बल्कि राज्य की अपनी प्रकृति व सार-तत्व के आधार पर करें; ईसाई समाज की प्रकृति के आधार पर न करें, बल्कि मानव मानव समाज की प्रकृति के आधार पर करें।

बाइज़ेंटियम का राज्य[1] सही मायने में धार्मिक राज्य था, क्योंकि उसमें जड़-सूत्रवादी सिद्धांतों को राज-काज में सम्मान प्राप्त था; किन्तु वह राज्य सबसे ख़राब राज्य भी था। एंशियन शासन[2] के समस्त राज्य सर्वाधिक ईसाई राज्य थे, किन्तु वे ऐसे राज्य भी थे जो कि 'दरबार की इच्छा' पर निर्भर रहते थे।

यह एक ऐसी दुविधा (धर्म संकट) की स्थिति है जिसमें सहज बुद्धि असहाय व निरुपाय हो जाती है।

या तो ईसाई राज्य विवेकसंगत स्वतंत्रता के मूर्त रूप के रूप में राज्य की अवधारणा के अनुरूप हो (और तब ईसाई राज्य बनने के लिए विवेकसम्मत राज्य होना ही राज्य के लिए अनिवार्य होता है) और इसके लिए यही समुचित होता है कि मानव सम्बन्धों के विवेकसम्मत स्वरूप व स्वभाव के अनुरूप राज्य का रूप निधारित किया जाए और यह ऐसा कार्यभार है

1. पूर्वी रोम में (476 से 1453 ई. तक) अनु.
2. 1789 की क्रांति से पूर्व फ्रांस की राजनीतिक सामाजिक प्रणाली।अनु.

जिसे दर्शन पूरा करता है। या विवेकसंगत स्वतंत्रता से सम्पन्न राज्य ईसाई धर्म से व्युत्पन्न हो ही नहीं सकता और तब आप स्वयं मान लेंगे कि यह व्युत्पत्ति ईसाइयत का मक़सद नहीं है क्योंकि वह बुरा राज्य नहीं चाहती है, किन्तु व राज्य जो विवेक संगत स्वतंत्रता का मूर्त रूप नहीं है, बुरा राज्य ही होगा।

आप इस धर्मसंकट से जैसे चाहें उबर लें, आपको मानना ही पड़ेगा कि राज्य धर्म के आधार पर नहीं बल्कि स्वतंत्र विवेक के आधार पर निर्मित होना चाहिए। मात्र मूढ़मति-अज्ञानता ही यह दावा कर सकती है कि यह सिद्धांत (राज्य की अवधारणा का एक स्वतंत्र अवधारणा के रूप में रूपांतरण) आधुनिक दार्शनिकों की सनक से उत्पन्न हुआ है।

राजनीतिक क्षेत्र में दर्शन ने ऐसा कुछ नहीं किया है जो भौतिकी, गणित, चिकित्सा तथा अन्य प्रत्येक विज्ञान ने अपने-अपने क्षेत्रों में न किया हो। फ्रांसिस बेकन (बेरूलम के बैरन) ने कहा था कि धर्मविज्ञानी भौतिकी एक ऐसी कन्या थी जो ईश्वर तथा अनुर्वरता को समर्पित थी। उन्होंने भौतिकी को धर्म-विज्ञान से मुक्त किया और वह उर्वरा बन गयी। जैसे आप एक चिकित्सक से यह नहीं पूछते कि वह आस्तिक है या नहीं, ठीक उसी तरह आपके पास राजनीतिज्ञ से भी यह पूछने का कोई कारण नहीं है। वास्तविक सौर प्रणाली सम्बन्धी कोपेरनिक की महान खोज के ठीक पहले व बाद में राज्य के गुरुत्वाकर्षण सिद्धांत की खोज हुई, उसका अपना गुरुत्वाकर्षण स्वयं राज्य के भीतर पाया गया। विभिन्न यूरोपीय सरकारों ने प्रथम व्यावहारिक प्रयासों के सतही ढंग से इस निष्कर्ष को लागू करने का प्रयास किया ताकि राज्यों के संतुलन की एक प्रणाली निर्मित की जा सके। हालाँकि पहले मैकियावली तथा कैंपानेला ने और बाद में हॉब्स, स्पिनोज़ा, ह्यू गो ग्रोटियस से लेकर रूसो, फ़िश्ते तथा हेगेल ने राज्य को मानवीय नज़र से देखना शुरू किया तथा उसके (राज्य के) प्राकृतिक नियमों की व्युत्पत्ति धर्म-विज्ञान से नहीं, बुद्धि तथा अनुभव से होती हुई दिखलायी। ऐसा करने में उन्हें कोई ख़ास दिक्क़त नहीं आयी जैसे कोपेरनिक को इस बात से नहीं आयी कि जोशुआ[1] का सूर्य को आदेश गिडियन के ऊपर ठहर जाने का तथा चन्द्रमा को अजालोन घाटी में चले जाने का था। आधुनिक दर्शन ने अरस्तू तथा हेराक्लिटस द्वारा शुरू किये गये काम को जारी ही

1. मोज़ेज़ का उत्तराधिकारी तथा इज़रायलियों का अग्रणी। बाइबिल का एक ग्रंथ भी उसके नाम पर प्रचलित।

रखा है। इसलिए आपका विवाद आधुनिक दर्शन के बुद्धिवादी चरित्र से ही नहीं है बल्कि चिर–नूतन बुद्धिवादी दर्शन से है। यह सच है कि जिस अज्ञान ने कल या परसों ही पहली बार राज्य सम्बन्धी सदियों पुराने इन विचारों की खोज राइन गज़ेट तथा कोनिशबर्ग गज़ेट[1] में की, उसे लगता है कि इतिहास के ये विचार किन्हीं लोगों को रातोंरात पता चल गये हैं, क्योंकि उस (अज्ञान) के लिए ये विचार नये हैं। वह यह भूल रहा है कि वह स्वयं सोरबोन के उस डॉक्टर की भूमिका को ओढ़ रहा है जिसने मांतेस्क्यू पर सार्वजनिक रूप से छिछोरपन का आरोप लगाना अपना दायित्व माना; क्योंकि उसने (मांतेस्क्यू) राज्य का सर्वोच्च उत्कर्ष राजनीतिक गुण को माना, न कि गिरजे सम्बन्धी गुण को। वह यह भूल रहा है कि वह जोशिम लैंग की भूमिका को अपने ऊपर ओढ़ रहा है, जिसने वुल्फ़ की इस आधार पर निंदा की थी कि उसके पूर्व निर्धारण सिद्धांत के परिणामस्वरूप सैनिक पलायन कर जाएंगे और इस प्रकार सैन्य अनुशासन को कमजोर कर देंगे और इसका दीर्घकालीन असर यह होगा कि राज्य का पतन हो जायेगा। अंत में वह यह भी भूल रहा है कि प्रशियाई क़ानून 'इस वुल्फ़' के ही दार्शनिक संप्रदाय से व्युत्पन्न हुआ था और यह भी कि फ्रांसीसी नेपोलियनी संहिता की व्युत्पत्ति भी ओल्ड टैस्टामेंट से नहीं बल्कि वोल्तेयर, रूसो, कोंदोर्सेत, मिराब्यू तथा मांतेस्क्यू और फ्रांसीसी क्रांति से हुई थी। अज्ञान दानव होता है और हमें डर है कि यह बहुत सी त्रासदियों का कारण बनेगा; महानतम यूनानी कवियों ने इसे माइसिना व थेब्ज़ के राजघराने के दिल दहलाने वाले नाटकों में अनर्थकारी नियति (घातक अंत) के रूप में सही चित्रित किया है।

जबकि संवैधानिक क़ानून के आरंभिक दार्शनिकों ने राज्य के गठन सम्बन्धी अपने ब्यौरे की शुरुआत नैसर्गिक वृत्तियों (महत्वाकांक्षाओं या यूथचारिता यानी सामूहिकता) से या विवेक से भी की थी। हालाँकि यह विवेक सामाजिक नहीं था, यह व्यक्ति का विवेक था, आधुनिक दर्शन की अधिक सर्वांगपूर्ण व गहन दृष्टि सम्पूर्ण की धारणा को आधार बनाती है। यह राज्य को एक विशाल अंग–संरचना के रूप में देखता है, जिसमें विधिक, नैतिक तथा राजनैतिक स्वतंत्रता मूर्तिमान हों तथा जिसमें प्रत्येक नागरिक राज्य के नियमों का पालन करते हुए अपने स्वयं के विवेक, मानवीय विवेक के प्राकृतिक नियमों का ही पालन करता है। बुद्धिमानों के लिए इशारा ही काफ़ी होता है।

---

1. शाही प्रशियाई राज्य, युद्ध एवं शांति गज़ेट 1752 से 1850 तक कोनिशवर्ग से प्रकाशित। 19वीं शताब्दी के 40 के दशक में वह प्रगतिशील पूँजीवादी अख़बार था।

चलते-चलते हम एक बार कोल्निश गज़ेट की ओर पलटना चाहेंगे, विदाई के कुछ दार्शनिक शब्दों के साथ। उसने यह अक्ल का ही काम किया कि 'गुज़रे ज़माने के' उदारवादी की सेवाएं स्वीकार कर लीं। कोई व्यक्ति यदि इतना दक्ष व चतुर है कि निकट अतीत के उदारवादियों (जो विदोक्क की दुविधा : 'या तो क़ैदी या जेलर' के अतिरिक्त कुछ नहीं जानते) को ही सम्बोधित करता है, तो वह सहज रूप से उदारवादी व प्रतिक्रियावादी दोनों ही हो सकता है। निकट अतीत के उदारवादियों ने यह और भी अक़्लमन्दी का काम किया है कि वे आज के उदारवादियों के साथ बहस में फँसे। पक्षों (पार्टियों) के बिना विकास नहीं होता, सीमा-रेखा खींचे बिना प्रगति नहीं होती। हम आशा करते हैं कि अंक 179 के अग्रलेख ने कोल्निश गज़ेट के लिए नये युग—चरित्रबल के युग—का सूत्रपात कर दिया है।

हेगेल के न्याय-दर्शन की समालोचना का प्रयास

भूमिका

जहाँ तक जर्मनी का सम्बन्ध है धर्म की आलोचना कुल मिलाकर समृद्ध है तथा धर्म की आलोचना समस्त आलोचना का आधार तथा प्रारम्भ बिन्दु होती है।

भ्रांति का लौकिक अस्तित्व तब अप्रतिष्ठित होता है जब वेदी तथा चूल्हों के लिए उसका अलौकिक उपदेश असत्य प्रमाणित हो जाता है। मनुष्य को स्वर्ग की भव्य काल्पनिक यथार्थता में अति-मानव की तलाश थी, किन्तु उसे वहाँ अपने प्रति बिंब के अलावा कुछ नहीं मिला। ज़ाहिर है वह अपना आभास (छाया रूप में, जो अमानवीय जीव के रूप में प्रस्तुत होता है) मात्र पाने के लिए तैयार नहीं होगा; क्योंकि जिसकी उसे तलाश है और जिसे वह पा ही लेगा, वह है उसकी वास्तविक यथार्थता।

अधार्मिक आलोचना का आधार हैः मनुष्य धर्म का निर्माण करता है, धर्म मनुष्य का निर्माण नहीं करता। धर्म मनुष्य की स्व-चेतना व स्व-प्रतिष्ठा है; ऐसे मनुष्य की जो अभी तक अपने आपको जान नहीं पाया है, या फिर से भटक गया है। किन्तु मनुष्य कोई अमूर्त प्राणी तो है नहीं, जिसने दुनिया के बाहर पड़ाव डाल रखा हो। राज्य, समाज की दुनिया ही मनुष्य है। यह राज्य, यह समाज धर्म को—एक प्रतिलोमित (उलटी लटकी हुई) जगत्-चेतना को उत्पन्न करते हैं क्योंकि वे स्वयं भी एक प्रतिलोमित जगत् ही है। धर्म इस जगत् का सामान्य सिद्धांत है, इसका सर्वज्ञान गुटका है, आम रूप में इनकी तर्कणा है तथा इसका आध्यात्मिक कीर्ति-शिखर है। धर्म इस जगत् की उमंग, इसकी नैतिक स्वीकृति, इसका रहस्यमय संपूरक, सांत्वना व पापमोचन का इसका सार्वत्रिक स्रोत है। यह मानवीय सार-तत्त्व का भव्य काल्पनिक मूर्त रूप है, क्योंकि मानवीय सार-तत्व की वास्तविक यथार्थता नहीं

होती। धर्म के खिलाफ़ संघर्ष इसलिए परोक्ष रूप से उस जगत् ख़िलाफ़ बन जाता है, धर्म जिसकी आध्यात्मिक सुरभि होता है।

धार्मिक व्यथा एक साथ वास्तविक व्यथा की अभिव्यक्ति तथा वास्तविक व्यथा का प्रतिवाद दोनों ही है। धर्म उत्पीड़ित प्राणी की आह (उच्छ्‌वास) है, निर्दय संसार का मर्म है तथा साथ ही निरुत्साह परिस्थितियों का उत्साह (उमंग) भी है। यह जनता की अफ़ीम है।

जनता के **प्रतिभासिक** (अवास्तविक) सुख के रूप में धर्म के उन्मूलन का अर्थ है— उसके **वास्तविक** सुख की माँग करना। मौजूदा हालात के सम्बन्ध में भ्रमों का परित्याग करने की माँग **उन हालात का परित्याग करने की माँग करता है, जिनके लिए भ्रम जरूरी बन गये हैं।** इसलिए धर्म की आलोचना भ्रूण रूप में आँसुओं की घाटी, धर्म जिसका प्रभामंडल है, की आलोचना है।

आलोचना ने बेड़ियों में लगे काल्पनिक फूलों को तोड़कर अलग कर दिया है, इसलिए नहीं कि मनुष्य अनलंकृत ठंडी बेड़ियाँ पहनेगा बल्कि इसलिए कि बेड़ियों को तोड़ फेंकेगा और महकते फूल को तोड़कर रख लेगा। धर्म की आलोचना मनुष्य का मोहभंग कर देती है ताकि वह मनुष्य (जिसका मोहभंग हो चुका है तथा जो विवेक के रास्ते पर लौट आया है) के रूप में चिन्तन व कर्म कर सके और अपनी यथार्थता को निर्मित कर सके, ताकि वह अपने चारों ओर तथा अपने वास्तविक सूर्य के चारों ओर चक्कर लगा सके। धर्म तो वह प्रतिभासिक सूर्य है जो तब तक ही मनुष्य के चारों ओर चक्कर लगाता है, जब तक कि अपने चारों ओर चक्कर लगाना शुरू न कर दे।

सत्य के परे जो लोक है उसका लोप होते ही इतिहास का कार्यभार इस लोक के सत्य की स्थापना करना होता है। दर्शन, जो इतिहास की सेवा में प्रस्तुत है, का तात्कालिक कार्यभार यह है कि मनुष्य के आत्म-परायेपन के पवित्र रूप का पर्दाफ़ाश होते ही आत्म-परायेपन के समस्त कुत्सित रूपों का भी पर्दाफ़ाश करे। इस प्रकार परलोक (स्वर्ग) की आलोचना इहलोक (धरती) की आलोचना बन जाती है। धर्म की आलोचना विधि की आलोचना बन जाती है तथा धर्मशास्त्र की आलोचना राजनीति की आलोचना बन जाती है।

निम्नलिखित विवेचन, जो उक्त कार्यभार को पूरा करने की दिशा में एक प्रयास है, का तात्कालिक रूप से मूल से नहीं, बल्कि एक अनुकृति यानी राज्य एवं विधि सम्बन्धी जर्मन दर्शन से सरोकार है और वह भी केवल इसलिए कि यह जर्मनी से सम्बन्धित है।

जर्मनी में कोई यदि यथास्थिति को एकमात्र उपयुक्त तरीक़े से— यानी नकारात्मक रूप में—आरम्भ बिंदु बनाकर आगे बढ़ना चाहे तो भी परिणाम कालदोष (कालचक्र के क्रम में किसी चीज़ का तब पाया जाना जबकि उसे होना नहीं चाहिए या जो तब थी नहीं) ही

होगा। हमारे राजनीतिक वर्तमान का निषेध भी ऐसा यथार्थ है जो आधुनिक राष्ट्रों के ऐतिहासिक कबाड़खानों में धूल-सना पड़ा है। यदि मैं चूरा की हुई तम्बाकू की बटी का निषेध करूँ तो भी मेरे पास बिना चूरा की हुई तम्बाकू की बटी तो बेचेगी ही। किन्तु यदि मैं जर्मनी के 1843 के हालात का निषेध करूँ तो, फ्रांसीसी काल गणना के हिसाब से, मैं बमुश्किल 1789 में पहुँचता हूँ, जिनके मायने हैं कि वर्तमान के फ़ोकस से और भी दूर चला जाता हूँ।

हाँ, जर्मन इतिहास अपनी विकास-प्रक्रिया—जैसी प्रक्रिया से होकर इस ब्रह्मांड का कोई अन्य राष्ट्र न तो उसके पहले गुज़रा और न उसके बाद गुज़रेगा पर मुग्ध है। क्योंकि हमने आधुनिक राष्ट्रों की पुनःप्रतिष्ठा में तो हिस्सा बँटाया चाहे उनकी क्रांतियों में हिस्सा न भी बँटाया हो। हम पुनर्स्थापन के दौर से गुज़रे, पहली बार तो इसलिए कि अन्य राष्ट्रों ने क्रांति संपन्न कर लेने का साहस दिखाया तथा दूसरी बार इसलिए कि अन्य राष्ट्र प्रतिक्रांति के शिकार हुए : पहली बार इसलिए हमारे शासक भयभीत थे तथा दूसरी बार इसलिए कि वे भयभीत न थे (भयमुक्त हो गये थे)। हमें—और सर्वोपरि हमारे धर्म-गुरुओं को एक बार के अलावा स्वतंत्रता का साथ कभी नहीं मिला और जो मिला तो उसके (स्वतंत्रता के) दफ़नाये जाने के समय।

कोई भी ऐसा सम्प्रदाय, जो वर्तमान के घटियापन को गुज़रे हुए कल के घटियापन के आधार पर न्यायोचित ठहराता है, जो कोड़ों (जिन्हें कालजयी, पैतृक व ऐतिहासिक माना जाता है) के ख़िलाफ़ कृषिदास के हर चीत्कार को बग़ावत घोषित करता है, कोई भी ऐसा सम्प्रदाय जिसे इतिहास मात्र अपने अनुभवजन्य को दिखाता है—जैसे इज़रायल के देवता ने अपन सेवक मोज़ेज़ को दिखाया था— यानी विधि का ऐतिहासिक सम्प्रदाय यदि जर्मन इतिहास की खोज न भी होता तो वह जर्मन इतिहास की ही खोज कर लेता। विधि का ऐतिहासिक सम्प्रदाय[1] जनता के हृदय से काटे गये माँस के प्रत्येक पाउंड के लिए शाइलॉक[2] की भाँति अपने अनुबंध की प्रामाणिकता व ऐतिहासिकता की शपथ खाता है; ईसाई-जर्मन अनुबंध दुहाई देता है।

इसके विपरीत, सदाशयी उत्साही लोग—जो वंश के आधार पर जर्मनोन्मादी तथा चिंतन के आधार पर मुक्त चिंतक है—आदियुगीन जर्मन जंगलों में विकसित हमारे इतिहास के परे हमारी स्वतंत्रता के इतिहास की खोज में लगे हुए हैं। क्योंकि वे सोचते हैं कि यदि हमारी

---

1. विधि का ऐतिहासिक— सम्प्रदाय ऐतिहासिक एवं न्यायिक विज्ञान की प्रतिक्रियावादी धारा, जिसका उदय 18वीं शताब्दी के अंत में जर्मनी में हुआ।
2. शेक्सपियर के नाटक 'द मर्चेंट ऑफ़ वेनिस' का प्रमुख पात्र। यहूदी, जो सूदख़ोरी का तथा ईसाई-विरोध का पर्याय बन गया।

स्वतंत्रता का इतिहास जंगलों में ही ढूँढा जा सकता है, तो फिर हमारी स्वतंत्रता के इतिहास और सूअर की स्वतंत्रता के इतिहास में फ़र्क़ ही क्या रह जाएगा? साथ ही, यह भी आम जानकारी की बात है कि जंगल तो जो कुछ कहा जाए उसकी प्रतिध्वनि मात्र होता है। इसलिए बेहतर होगा कि प्राचीन जंगलों के साथ छेड़खानी न की जाए।

जर्मन परिस्थितियों से युद्ध ! बेशक ! वे इतिहास के तल के नीचे तथा किसी भी प्रकार की आलोचना के अयोग्य हैं, किन्तु फिर भी आलोचना की पात्र हैं, चाहे उस अपराधी की तरह ही जो मानवता के तल के नीचे होते हुए भी जल्लाद के लिए तो पात्र ही होता है। उन परिस्थितियों से संघर्ष में आलोचना बुद्धि का आवेग नहीं होकर आवेग का निकास ही होती है। आलोचना नश्तर नहीं होती, हथियार होती है। उसका निशाना उसका शत्रु ही होता है जिसका वह खंडन करना नहीं चाहती, बल्कि उन्मूलन कर देना चाहती है। क्योंकि उन परिस्थितियों के सार का खंडन होता है। अपने आप में परिस्थितियाँ चिंतन योग्य विषय नहीं होती बल्कि ऐसी परिघटनाएँ होती हैं जो घृणित तो होती ही हैं, तिरस्कार के योग्य भी होती हैं। आलोचना के लिए यह ज़रूरी नहीं होता कि वह विषय-वस्तु का ख़ुलासा करे क्योंकि इस काम को तो वह पहले ही कर चुकी होती है। आलोचना अब साध्य के रूप में नहीं बल्कि साधन के रूप में प्रकट होती है। इसका अनिवार्य मनोभाव होता है रोष तथा इसका अनिवार्य कार्यकलाप होता है प्रत्याख्यान व भर्त्सना।

यह समस्त सामाजिक क्षेत्रों के एक-दूसरे पर कुंद पारस्परिक दबाव या कहिए आम निष्क्रिय झुंझलाहट तथा सीमाबद्धता— जो ऐसी सरकार प्रणाली के चौखटे के भीतर, जो कि घिनौनेपन के संवर्द्धन के बूते पर जीती है तथा जो पदासीन घिनौनेपन के अलावा कुछ नहीं है, स्वयं को जितना पहचानती है उतना ही ग़लत भी समझती है— के वर्णन का मामला बन जाता है।

क्या दृश्य है ! समाज का अनेक जातियों में बँटते जाना और फिर टुच्ची दुर्भावनाओं, बेचैन अंतर्मन तथा एकदम औसत बुद्धि (संपन्न व्यक्ति) द्वारा इनके बीच आपसी विरोध व्यक्त होते रहना; इसलिए चल पाता है कि उनके पारस्परिक दृष्टिकोण अस्पष्ट तथा अविश्वसनीय हो जाते हैं। शासक वर्ग निरपवाद रूप से इन सबको लाइसेंसशुदा अस्तित्व के रूप में देखता है। यानी कि जनता को यह स्वीकार करना व मानना चाहिए कि ईश्वर की यह रियायत है कि उनके स्वामी हैं, उस पर शासन किया जाता है, उस पर हक़ जताया जाता है। दूसरी ओर शासक हैं, जिनकी महानता उनकी संख्या की विपर्यस्त अनुपाती है।

इस अंतर्वस्तु से सम्बन्धित आलोचना ऐसी आलोचना है जिसे आमने-सामने के संघर्ष की मुठभेड़ की संज्ञा दी जा सकती है और इस तरह के संघर्ष में मुद्दा यह नहीं होता कि विरोधी

प्रभावशाली (कुलीन), समान अथवा रुचिकर विरोधी है अथवा नहीं, असल मुद्दा उस पर आघात करना होता है। मुद्दा यह कि जर्मनों को आत्म-प्रवंचना तथा आत्म-तुष्टि का एक क्षण भी प्रदान न किया जाए। वास्तविक दबाव को, इसमें दबाव की सचेतनता को जोड़कर और भी अधिक दबावकारी बनाया जाना चाहिए। शर्म को सार्वजनिक रूप से प्रचारित करके और भी अधिक शर्मनाक बनाया जाना चाहिए। जर्मन समाज के हर क्षेत्र को जर्मन समाज के शर्मनाक अंग के रूप में दिखाया जाना चाहिए। इन पथराए (जड़ एवं भाव शून्य) सम्बन्धों को इन्हीं की धुनें गाकर नचाया जाना चाहिए। जनता को अपने आप से भयभीत होना सिखाया जाना चाहिए, ताकि वह साहसी बन सके। ऐसा करने का मतलब होगा जर्मन राष्ट्र की अनिवार्य आवश्यकता की पूर्ति करना। राष्ट्रों की आवश्यकताएँ स्वयं में अपनी पूर्ति का चरम कारण होती हैं।

जर्मन **यथास्थिति** की सीमित अंतर्वस्तु के विरुद्ध संघर्ष आधुनिक राष्ट्रों के लिए भी रुचिकर हुए बिना नहीं रह सकता क्योंकि जर्मन यथास्थिति **प्राचीन शासन**[1] की खुली संपूर्णता है तथा प्राचीन शासन आधुनिक राज्य की आच्छादित अपूर्णता है। जर्मन वर्तमान के विरुद्ध संघर्ष वस्तुतः समस्त आधुनिक राष्ट्रों के अतीत के विरुद्ध संघर्ष है। वे सब अभी भी अतीत के अवशेषों की मँडराती छाया से परेशान हैं। उनके लिए यह देखना-समझना शिक्षाप्रद होगा कि प्राचीन शासन, जो अपनी त्रासदी के दौर से गुज़र चुका है, जर्मन प्रेत के रूप में सुखांतिका अभिनीत कर रहा है। प्राचीन शासन का इतिहास वस्तुतः तब तक त्रासद ही रहा, जब तक कि वह दुनिया की पहले से अस्तित्वमान सत्ता बना रहा तथा दूसरी ओर स्वतंत्रता एक व्यक्तिगत धारणा बनी रही; यानी जब तक वह अपने स्वयं के औचित्य में विश्वास करता रहा या उसे ऐसा करना पड़ा। जब तक एक अस्तित्वमान विश्व-दृष्टि के रूप में प्राचीन शासन एक ऐसी दुनिया से संघर्ष करता रहा जो कि अभी जन्म ही ले रही थी, ऐतिहासिक त्रुटि (व्यक्तिगत त्रुटि नहीं) उसका साथ निभा रही थी। यही कारण है उसके त्रासद पतन का।

दूसरी ओर मौजूदा जर्मन शासन (जिसे पुरावशेष अथवा कालदोष कहा जा सकता है) आमतौर पर स्वीकृत सूक्तियों का लज्जानक खंडन है तथा प्राचीन शासन की असारता व शून्यता को दुनिया के सामने प्रदर्शित करता है। यह केवल कल्पना करता है कि इसे स्वयं में विश्वास है तथा यह दुनिया-भर से वैसी ही कल्पना करने की माँग भी करता है। ज़रा गौर कीजिए, यदि इसे अपने **सार-तत्व** पर वास्तव में भरोसा होता तो क्या यह अपने उस सार-तत्त्व को विजातीय सारतत्त्व के सादृश्य से छिपाने की कोशिश करता तथा पाखंड व वाक्छल

---

1. अथवा पुरातन समाज : 1789 की क्रांति से पूर्व फ्रांस की राजनीतिक-सामाजिक व्यवस्था। — अनु.

की शरण लेता? आधुनिक **प्राचीन शासन** उस विश्व-व्यवस्था का मात्र विदूषक है जिसके असली नायकों की मृत्यु हो चुकी है। इतिहास अतिसावधान तथा सम्पूर्ण होंता है व किसी पुरातन रूप को दफ़नाते हुए कई अवस्थाओं से गुज़रता है। विश्व ऐतिहासिक रूप की अंतिम अवस्था सुखांतिका होती है। यूनानी देवताओं (जो ईस्किलस[1] की रचना **प्रामिथियस बाउंड** में सांघातिक रूप से घायल होकर मर गये थे) की लूसियन[2] की रचना **डायलॉग्ज़** में पुनः मरना पड़ा था— पर इस बार की मौत हास्यास्पद थी। इतिहास का ऐसा प्रवाह क्यों? ताकि मानव जाति अपने अतीत को प्रसन्नतापूर्वक विदा दे सके। यही वह प्रसन्न ऐतिहासिक नियति है जिसे हम जर्मनी के राजनीतिक अधिकारियों के लिए न्यायसंगत पाते हैं।

तथापि आधुनिक राजनीतिक-सामाजिक यथार्थ को आलोचना का विषय बनाते ही तथा वास्तविक मानवीय समस्याओं के स्तर तक आलोचना के उठते ही यह (आलोचना) स्वयं को जर्मन यथास्थिति के बाहर पायेगी अन्यथा अपने विषय पर अपनी पकड़ क़ायम करने के लिए विषय की तह में जाएगी। एक उदाहरण देखें- राजनीतिक दुनिया के साथ उद्योग का या मोटे तौर पर दौलत की दुनिया का सम्बन्ध आधुनिक युग की प्रमुख समस्याओं में से एक बन गया है। यह समस्या जर्मनों का ध्यान किस रूप में आकृष्ट करने लगी है? ज़ाहिर है, संरक्षात्मक कर्त्तव्यों, निषेधात्मक व्यवस्था तथा राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के रूप में। जर्मन उन्माद मनुष्य से बाहर निकलकर वस्तु में प्रवेश कर गया है और इस तरह एक सुबह हमारे कपास के नवाब तथा लोहे के व्यापारी यकायक स्वयं को देशभक्त हुआ पाते हैं। इसीलिए विदेश में इसे सर्वोच्च सिद्ध करके लोगों ने जर्मनी में इज़ारेदारी की सर्वोच्चता को स्वीकार करना शुरू कर दिया है। जर्मनी में लोग अब वह शुरू करना ही चाहते हैं जिसे फ्रांस व इंग्लैंड के लोग ख़त्म करने वाले हैं। ये देश सैद्धान्तिक रूप से (चिन्तन के क्षेत्र में) जिस प्राचीन भ्रष्ट दशा के विरुद्ध विद्रोह कर रहे हैं तथा जिसे वे उसी तरह झेल रहे हैं जैसे बेड़ियों को झेला जाता है, उसी भ्रष्ट दशा का जर्मनी में सुन्दर भविष्य की भोर के रूप में स्वागत किया जा रहा है। यह दूसरी बात है कि इस धूर्त सिद्धान्त का निष्ठुर व्यवहार में रूपान्तरित होना अभी शेष है। फ्रांस तथा इंग्लैंड में प्रश्न यह है— राजनीतिक अर्थशास्त्र अथवा दौलत पर समाज का आधिपत्य, जबकि जर्मनी में इसके विपरीत प्रश्न राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का अथवा राष्ट्रीयता पर निजी सम्पत्ति का प्रभुत्व है। इस तरह फ्रांस तथा इंग्लैंड में मसला इज़ारेदारी को ख़त्म करने का है जो कि अपने अन्तिम निष्कर्ष तक पहुँच रहा है। इसके विपरीत जर्मनी में मसला इज़ारेदारी के चरम निष्कर्ष

1. **ईस्किलस**— ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी के महान् यूनानी कवि व नाटककार, जो त्रासदियों के लिए विश्वविख्यात हैं।— अनु.
2. **लूसियन** — ईसा पश्चात् दूसरी शताब्दी के प्रसिद्ध यूनानी व्यंग्यकार तथा साहित्यशास्त्री।— अनु.

तक पहुँचने का है। वहाँ यह समाधान का मामला है जबकि यहाँ (जर्मनी में—अनु.) अभी भी मामला संघर्ष का है। आधुनिक समस्याओं के जर्मन रूप का यह उपयुक्त उदाहरण है, इस बात का उदाहरण कि किस तरह हमारे इतिहास को एक गँवार रंगरूट की तरह उन मामलों में भी अतिरिक्त कवायद करनी पड़ेगी, जो कि इतिहास में पुराने तथा घिसे-पिटे मामले कहे जा सकते हैं। यदि इसलिए **सम्पूर्ण** जर्मन विकास जर्मन **राजनीतिक** विकास से आगे नहीं बढ़ पाया तो, एक जर्मन वर्तमान की समस्याओं के सम्बन्ध में अधिक-से-अधिक उतनी ही भागीदारी निभा सकेगा जितना की एक रूसी । किन्तु यदि पृथक् व्यक्ति राष्ट्र की परिसीमाओं में बँधा नही होता है, तो एक समूचा राष्ट्र तो एक व्यक्ति की विमुक्ति से और भी कम (व्यक्ति की तुलना में) विमुक्त होता है। इस तथ्य से कि यूनान के पास अपने दार्शनिकों के बीच एक सीथियाई[1] भी था, यूनानी संस्कृति की ओर एक क़दम भी बढ़ाने में सीथियाइयों को कोई मदद नहीं मिली।

सौभाग्य से हम जर्मन लोग सीथियाई लोगों की तरह नहीं हैं।

जिस प्रकार प्राचीन जनगण अपने प्राक्–इतिहास से कल्पना तथा मिथकशास्त्र (पुराण समूह) के माध्यम से परिचित हुए, हम जर्मनों ने अपने इतिहासोत्तर से चिन्तन तथा दर्शन के माध्यम से जाना है। हम वर्तमान के **दार्शनिक** समकालीन हैं, चाहे उसके **ऐतिहासिक** समकालीन हुए बग़ैर। जर्मन दर्शन जर्मनी इतिहास का भाववादी दीर्घीकरण है। तो यदि हम अपने वास्तविक इतिहास की **अपूर्ण कृतियों** की आलोचना करने के बजाय अपने भाववादी इतिहास दर्शन की परवर्ती रचनाओं की आलोचना करते हैं, तो हमारी यह आलोचना ऐसे प्रश्नों से घिर जाती है जिनके बारे में वर्तमान कहता है: **असल सवाल तो यह है**। विकसित राष्ट्रों में जिसे आधुनिक राजनीतिक परिस्थितियों से व्यावहारिक विच्छेदन की संज्ञा दी जा सकती है। जर्मन में जहाँ अभी वे परिस्थितियाँ विद्यमान तक नहीं है, वह उन परिस्थितियों के दार्शनिक प्रतिबिम्बन से आलोचनात्मक विच्छेदन का रूप धारण कर चुका है।

राज्य एवं विधि सम्बन्धी जर्मन दर्शन ही एकमात्र जर्मन इतिहास है जो कि शासकीय आधुनिक यथार्थ के समतुल्य है। इसलिए जर्मन राष्ट्र को चाहिए कि वह न केवल अपने वर्तमान का बल्कि अपने स्वप्न-इतिहास का भी लेखा-जोखा ले तथा न केवल इस मौजूदा परिस्थितियों को बल्कि उनके अमूर्त नैरंतर्य को भी आलोचना की कसौटी कर कसे। इसके भविष्य को राज्य एवं विधि की वास्तविक परिस्थितियों के तात्कालिक निषेध अथवा इसकी आदर्श राज्य एवं विधिक परिस्थितियों के तात्कालिक क्रियान्वयन तक परिसीमित नहीं किया

1. मार्क्स का संकेत यहाँ एनाचार्सिस नामक दार्शनिक की ओर है जिनका जन्म सीथिया में हुआ था, पर जिनकी गणना यूनानी सप्त ऋषियों में होती है।—— अनु.

जा सकता; क्योंकि इसकी वास्तविक परिस्थितियों का तात्कालिक निषेध तो इसकी भाववादी आदर्श परिस्थितियों में देखा जा सकता है तथा पड़ोसी राष्ट्रों के चिन्तन सन्दर्भ में अपनी आदर्श परिस्थितियों के तात्कालिक क्रियान्वयन को यह पीछे छोड़ आया है। अतः यह उपयुक्त ही है कि जर्मनी में **व्यावहारिक** राजनीतिक दल दर्शन के निषेध की माँग उठाये। वह (उक्त राजनीतिक दल) ग़लत है, उसकी माँग की दृष्टि से नहीं बल्कि उस माँग पर आकर रुक जाने के कारण, क्योंकि यह ऐसी माँग है जिसे न तो वह मूर्त रूप देता है और न दे सकता है। उसका विश्वास है कि दर्शन की ओर अपनी पीठ कर लेने तथा मुँह फेरकर उसके बारे में कुछ चालू तथा गुस्से से भरे जुमले बोल देने मात्र से उक्त निषेध को मूर्त रूप दे देता है। अपनी दृष्टि सीमाओं के कारण वह दर्शन को जर्मन चक्र में सम्मिलित नहीं करता। यही नहीं, वह दर्शन को जर्मन आचरण तथा उसके समर्थक सिद्धान्तों के उपयुक्त भी नहीं मानता। आप यह मांग तो करते हैं कि वास्तविक जीवित अंकुरों को प्रस्थान बिन्दु बनाया जाए, पर यह भूल जाते हैं कि जर्मन राष्ट्र का वास्तविक जीवित अंकुर अभी तक उसकी खोपड़ी (मस्तिष्क) के भीतर ही प्रस्फुटित हुआ है। या यूँ कहें, **आप दर्शन को वास्तविक बनाए बग़ैर उसे निरर्थक सिद्ध नहीं कर सकते हैं और न उसका स्थान ले सकते हैं।**

ऐसी ही ग़लती दर्शन से उदित होने वाले सैद्धांतिक राजनैतिक दल ने की थी, चाहे कारक पलट दिये गये थे।

मौजूदा संघर्ष में जर्मन दुनिया के ख़िलाफ़ दर्शन के आलोचनात्मक संघर्ष को ही देखा, इस तथ्य की ओर ध्यान नहीं दिया कि आज तक क़ायम दर्शन स्वयं इस दुनिया का हिस्सा तथा उसका अनुपूरक है, चाहे भाववादी रूप में ही क्यों न हो ? अपने विरोधी के प्रति आलोचनात्मक होकर भी स्वयं के प्रति आलोचनात्मक बना रहा। जब दर्शन की आधारभूमि को प्रस्थान बिन्दु बनाकर भी वह या तो दर्शन से प्राप्त निष्कर्षों पर रुक गया अथवा अन्यत्र से प्राप्त निष्कर्षों को जब उसने दर्शन की तात्कालिक अपेक्षाओं व निष्कर्षों का रूप दे दिया। यद्यपि ने निष्कर्ष (यदि इन्हें न्यायोचित मानें तो) मौजूदा दर्शन के या कहें दर्शन मात्र के निषेध से प्राप्त किये जा सकते हैं। इस दल के विस्तृत वर्णन के अधिकार को हम सुरक्षित रखते हैं। उसकी मूलभूत दुर्बलता को निम्न रूप से प्रस्तुत किया जा सकता है— उसने सोचा कि वह दर्शन को वास्तविकता बनाये बग़ैर उसे निरर्थक सिद्ध करके उसका स्थान ले सकता है।

राज्य एवं विधि सम्बन्धी जर्मन दर्शन की आलोचना, जो हेगेल के माध्यम से सर्वाधिक सुसंगत, समृद्ध एवं अन्तिम निरूपण की अवस्था में पहुँची; आधुनिक राज्य तथा उससे जुड़ी वास्तविकता का आलोचनात्मक विश्लेषण होने के साथ ही अब तक प्रभावी सम्पूर्ण जर्मन राजनीतिक एवं विधिक चेतना का दृढ़ निषेध भी है। जिसकी सबसे विशिष्ट एवं सार्वभौमिक

अभिव्यक्ति (जो विज्ञान के स्तर तक उठ जाती है) विधि का मीमांसात्मक दर्शन है। यदि विधि का मीमांसात्मक दर्शन (राज्य के सम्बन्ध में वह अमूर्त एवं बेतुका चिन्तन—जो दूर की चीज़ बना हुआ था, चाहे राइन नदी के परे का ही क्यों न हो)मात्र जर्मनी में ही सम्भव था, तो इसे उलटकर यूँ कहा जा सकता है कि वास्तविक मनुष्य का तिरस्कार करने वाले आधुनिक राज्य की जर्मन मानस-छवि मात्र इसलिए सम्भव थी कि आधुनिक राज्य या तो वास्तविक मनुष्य का तिरस्कार करता है या मात्र कल्पना के स्तर पर समूचे मनुष्य की आवश्यकता की पूर्ति करता है। राजनीति में जर्मनों का चिन्तन वही था जो कि अन्य राष्ट्रों का था। उनकी सैद्धान्तिक चेतना का आधार व सन्दर्भ-बिन्दु जर्मनी था। उसके चिन्तन की अमूर्तता व दम्भ उसके एकपक्षीय तथा ठूँठ भरे यथार्थ के साथ क़दम मिलाकर चल रहे थे। तो यदि जर्मन राज्य की यथास्थिति प्राचीन शासन की पूर्णता (आधुनिक राज्य के शरीर में काँटे की चुभनशीलता की पूर्णता) को व्यक्त करती है, तो जर्मन राजनीतिक सिद्धान्त की यथा स्थिति आधुनिक राज्य की अपूर्णता को, यानी इसके शरीर की दोषपूर्णता को—ही व्यक्त करती है।

जर्मन राजनीतिक चेतना के पूर्ववर्ती रूप से दृढ़ विरोधी के रूप में भी विधि के मीमांसात्मक दर्शन की आलोचना स्वयं की ओर नहीं मुड़ती है बल्कि उन प्रश्नों की ओर मुड़ जाती है जिनका समाधान मात्र एक तरीक़े—यानी व्यवहार—से किया जा सकता है।

यह प्रश्न किया जाता है : क्या जर्मनी व्यवहार की उस अवस्था तक पहुँच सकता है जहाँ क्रान्ति उसे न केवल आधुनिक जनगण के आधिकारिक स्तर पर उठाकर रख दे, बल्कि मानवता की उस बुलन्दी पर भी पहुँचा दे जो कि उन राष्ट्रों का निकट भविष्य दिखायी पड़ता है?

यह तय है कि आलोचना का अस्त्र अस्त्रों द्वारा आलोचना का स्थान नहीं ले सकता, भौतिक शक्ति को भौतिक शक्ति द्वारा ही उलटा जा सकता है; लेकिन सिद्धान्त भी एक भौतिक शक्ति का रूप धारण कर लेता है, जैसे ही वह जनता को अपनी पकड़ में ले लेता है। जितना जल्दी सिद्धान्त जनता की भावनाओं को प्रभावित कर सकेगा उतना ही जल्दी वह जनता की चेतना पर अपनी पकड़ क़ायम करने में समर्थ होगा, जैसे कि आमूल परिवर्तनवादी बनते ही भावनाओं को प्रभावित करने लगता है। आमूल परिर्वनवादी होने के मायने होते हैं—किसी चीज़ की जड़ में जाना और जहाँ तक मनुष्य का सम्बन्ध है, स्वयं मनुष्य ही वह जड़ है। जर्मन सिद्धान्त के आमूल परिवर्तनवादी होने का प्रत्यक्ष प्रमाण और उसकी व्यावहारिक ऊर्जा भी यह है कि वह धर्म के दृढ़ सकारात्मक उन्मूलन पर आधारित है। धर्म की आलोचना इस सीख पर ख़त्म होती है कि मनुष्य के लिए मनुष्य **सर्वोच्च प्राणि** है जिससे यह दुर्निवार अनिवार्यता उजागर होती है कि उन समस्त सम्बन्धों का ख़ात्मा कर दिया जाए जिनके भीतर

मनुष्य का दर्जा पतित, पराधीन, परित्यक्त तथा घृणात्मक प्राणि का बना दिया जाता है। इन सम्बन्धों का एकदम सटीक वर्णन एक फ्रांसीसी के उन शब्दों के माध्यम से किया जा सकता है जो कि कुत्तों पर टैक्स लगाये जाने की योजना की जानकारी मिलने पर उसके मुँह से अनायास निकल पड़े थे : 'बेचारे कुत्तों ! वे तुम्हारे साथ मनुष्यों जैसा सलूक करना चाहते हैं'!

ऐतिहासिक दृष्टि से भी जर्मनी के लिए सैद्धांतिक विमुक्ति का विशेष व्यावहारिक महत्त्व है। क्योंकि जर्मनी का क्रांतिकारी अतीत—यानी सुधार आन्दोलन—सैद्धान्तिक ही है। जैसे तब क्रान्ति का सूत्रपात एक संन्यासी के मस्तिष्क में हुआ था, आज इसका सूत्रपात दार्शनिक के मस्तिष्क में हो रहा है।

हम यह मानने को तैयार है कि लूथर ने धर्मनिष्ठा के बन्धन पर क़ाबू पाने के लिए उसके स्थान पर विश्वास के बन्धन को प्रतिष्ठित किया था। वह आस्था की सत्ता को पुनर्स्थापित करके ही सत्ता में आस्था को ध्वस्त कर पाया था। वह पुजारियों को आम आदमियों के रूप में इसलिए बदल पाया क्योंकि वह आम आदमियों को पुजारियों के रूप में स्थापित कर पाया था। वह मनुष्य को बाह्य धार्मिकता से मुक्त कर पाया क्योंकि वह धार्मिकता को मनुष्य के अन्तर्मन में प्रतिष्ठित कर पाया था। वह शरीर को बेड़ियों से मुक्त कर पाया क्योंकि उसने मन पर बेड़ियाँ डाल दी थी।

प्रोटेस्टेंटवाद चाहे सही समाधान नहीं था, कम-से-कम समस्या का सही प्रस्तुतीकरण तो था ही। अब यह आम का स्वयं से परे किसी पुजारी के विरुद्ध संघर्ष नहीं रहा था बल्कि स्वयं के भीतर के पुजारी यानी अपनी याजकीय (पुरोहिती) प्रकृति के विरुद्ध संघर्ष बन गया था। जर्मन आम आदमियों के पुरोहितों के रूप में प्रोटेस्टेंट रूपांतरण ने आम पोपों को, राजकुमारों (उनके धार्मिक गुट्टों समेत), विशिष्ट लोगों तथा मोह-माया में फँसे तमाम लोगों को विमुक्ति दिलायी। अब याजकीय जर्मनों का मनुष्यों के रूप में दार्शनिक रूपान्तरण सम्पूर्ण जनता को विमुक्ति दिलायेगा। लेकिन धर्मनिरपेक्षीकरण गिरिजाघरों की लूटपाट (जिसमें ढोंगी प्रशा संलग्न है) पर जाकर नहीं रुकेगा जैसे कि विमुक्ति अभिमान राजकुमारों की विमुक्ति पर जाकर नहीं रुक जाता। कृषक युद्ध— जो जर्मन इतिहास की सर्वाधिक आमूल परिवर्तनवादी घटना थी— धर्म विज्ञान के कारण असफल हुआ था। आज जब स्वयं धर्म विज्ञान विफल हो गया है, हमारी यथास्थिति, जो कि जर्मन इतिहास का सर्वाधिक परतंत्रतासूचक तथ्य है, दर्शन से टकराकर ध्वस्त हो जाएगी। सुधारवादी आन्दोलन की पूर्व संध्या पर अधिकृत जर्मनी रोम का सबसे बड़ा शर्तरहित गुलाम था। क्रान्ति की पूर्व संध्या को यह प्रशिया व आस्ट्रिया का तथा देहाती ज़मींदारों तथा कूपमंडूकों का गुलाम (जो रोम का गुलाम

होने से कुछ ही कम है) बना हुआ है।

फिर भी आमूल परिवर्तनवादी जर्मनी क्रान्ति के मार्ग में एक बड़ी अड़चन दिखायी पड़ती है।

क्रान्तियों के लिए एक निष्क्रिय तत्व, एक भौतिक आधार की आवश्यकता होती है। जनगण के बीच सिद्धान्त उतने भर में ही कार्यरूप पाता है, जितने में वह उक्त जनगण की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। किन्तु क्या जर्मन चिन्तन की अपेक्षाओं तथा जर्मन यथार्थ द्वारा प्रस्तुत उनकी पूर्ति के बीच की चौड़ी खाई का मेल नागर समाज एवं राज्य तथा नागर समाज व स्वयं के बीच तदनुरूप खाई से बैठ पायेगा? क्या सैद्धान्तिक आवश्यकताएँ तात्कालिक व्यावहारिक आवश्यकताएँ बन पायेंगी? यह काफ़ी नहीं है कि चिन्तन मूर्तरूप प्राप्त करने की दिशा में प्रयत्नशील हो, आवश्यकता यह भी है कि यथार्थ स्वयं चिन्तन की ओर उन्मुख हो।

किन्तु जर्मनी राजनीतिक विमुक्ति की मध्यवर्ती अवस्थाओं से अन्य आधुनिक राष्ट्रों की भाँति नहीं गुज़रा। व्यवहार में वह उन अवस्थाओं तक पहुँच भी नहीं पाया है, जिन्हें चिन्तन (सिद्धान्त) में उसने पीछे छोड़ दिया है। वह न केवल अपनी परिसीमाओं बल्कि साथ ही आधुनिक जनगण की परिसीमाओं की (उन परिसीमाओं की जिन्हें यथार्थ में उसे अपनी वास्तविक परिसीमाओं से विमुक्ति दिलाने वाले कारक के रूप में महसूस करना व उस दिशा में प्रयत्नशील रहना चाहिए) कायापलट कैसे कर सकता है? आमूल परिवर्तनवादी आवश्यकताओं की क्रान्ति ही आमूल परिवर्तनकारी क्रान्ति हो सकती है और ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी पूर्व शर्तें तथा ज़मीन अनुपस्थित है।

यदि फिर भी जर्मनी ने आधुनिक जनगण के विकास का साथ मात्र चिन्तन के अपने अमूर्त क्रिया-व्यापार से दिया है, उस विकास के वास्तविक संघर्ष में कोई प्रभावी भूमिका निभाये बग़ैर, तो दूसरी ओर उसने उक्त विकास की पीड़ाओं को तो भोगा है, चाहे उसके उल्लास अथवा आंशिक सन्तुष्टि (पूर्ति) में वह सहभोक्ता नहीं रहा हो। अमूर्त क्रिया-व्यापार की तदनुरूपता अमूर्त पीड़ा के साथ ही होती है। यही कारण है कि एक दिन जर्मनी यूरोप की विमुक्ति की बराबरी किये बग़ैर यूरोप की पतनशीलता की बराबरी अवश्य करेगा। उसकी तुलना एक ऐसे जड़ वस्तु पूजक से की जा सकेगी जो कि ईसाइयत की बीमारियों से मुरझा रहा हो।

यदि अब हम जर्मन सरकारों पर ग़ौर करें तो हम पाते हैं कि मौजूदा हालात के कारण, जर्मनी की दशा के कारण, जर्मन शिक्षा के दृष्टिकोण के कारण तथा अन्तिम रूप में उनकी सौभाग्यशाली सहजवृत्ति के उद्वेग के प्रभाव में उनमें आधुनिक, राजनीतिक दुनिया की सभ्य

कमियों—उनके लाभों का आनन्द हम नहीं उठा पाते—का प्राचीन शासन की बर्बरतापूर्ण अपूर्णताओं— जिनका हम पूरा भोग करते है— के साथ विवशता भरा संयोग देखा जा सकता है। यही कारण है कि जर्मनी अपनी यथास्थिति की परिधि से परे अस्तित्वमान राज्य संघटनों की असंगतता व बेतुकापन में अधिकाधिक साझेदारी निभाता है, चाहे उनकी तर्क संगति में उसका कोई हिस्सा न हो। उदाहरण के लिए, क्या दुनिया में कोई ऐसा देश है जो तथाकथित संवैधानिक जर्मनी की भाँति, संवैधानिक राज्य की वास्तविकताओं का साझा किये बग़ैर संवैधानिक राज्य के भ्रमों में इतनी मासूमी से साझेदारी निभाता हो? और क्या सेंसरशिप (प्रेस पर पाबन्दी) की यातनाओं के साथ फ्रांसीसी सितम्बर क़ानूनों[1] की यातनाओं का संयोग किया जाना जर्मन सरकार की लाचारी नहीं थी? जिस प्रकार रोमन देवकुल में आप सभी राष्ट्रों के देवताओं के दर्शन कर सकते हैं, उसी प्रकार जर्मनों के पवित्र रोमन साम्राज्य में समस्त राजनीतिक रूपों को भी देख सकते हैं। इस बात की गारण्टी कि यह विभिन्न दर्शन ग्रहण अकल्पित ऊँचाइयों को छू लेगा, ख़ासकर जर्मन सम्राट (फ्रेडरिक विलियम चतुर्थ) की राजनीतिक—सौन्दर्यशास्त्रीय पेटूपन की कार-गुज़ारियों से हो जाती है जो कि राजतंत्र की समस्त भूमिकाओं—चाहे सामन्ती अथवा नौकरशाही, निरंकुश अथवा संवैधानिक, एकतंत्रीय अथवा प्रजातंत्रीय—को निभा लेना चाहता है : ये सब जनता में मूर्तिमान न भी हों तो कम-से-कम स्वयं उसमें तो हों, ये सब जनता के लिए हों न हों, स्वयं उसके लिए तो हों ही। जर्मनी जो एक ख़ास क़िस्म की दुनिया के रूप में गठित राजनीतिक वर्तमान की अपूर्णता का मूर्तिमान रूप है। राजनीतिक वर्तमान की सामान्य परिसीमाओं को तोड़े बिना (पछाड़े बिना) विशिष्ट जर्मन परिसीमाओं को तोड़ नहीं पायेगा।

न तो आमूल परिवर्तनवादी क्रान्ति और न आम मानव विमुक्ति बल्कि आंशिक, मात्र राजनीतिक क्रांत ही जर्मनी का यूटोपियाई स्वप्न है — ऐसी क्रान्ति जो घर के खम्भों को खड़ा रहने दे यानी बुनियादी ढाँचे के साथ छेड़खानी न करे। इस आंशिक, मात्र राजनीतिक क्रान्ति का आधार क्या है? इसका आधार यह तथ्य है कि नागर समाज का एक हिस्सा स्वयं की विमुक्ति प्राप्त करके व्यापक प्रभुत्व ग्रहण कर ले। इसका आधार यह तथ्य भी है कि एक

1. फ्रांसीसी सरकार द्वारा सितम्बर, 1835 में पारित प्रतिक्रियावादी क़ानून जिनके अन्तर्गत ज्यूरी द्वारा मुक़दमों के विचारण का दायरा परिसीमित कर दिया गया था तथा प्रेस के विरुद्ध सख़्त उपाय किये गये थे। इन उपायों में पत्र-पत्रिकाओं द्वारा जमा की जाने वाली ज़मानत राशि को बढ़ा दिया गया था। निजी सम्पत्ति तथा मौजूदा राज्य प्रणाली पर आक्रमण करने के जुर्म के लिए दण्ड राशि तथा जेल में बन्द किये जाने की अवधि बढ़ा दी गयी थी।— अनु.

ख़ास वर्ग अपनी विशिष्ट स्थिति के दम पर समाज की आम विमुक्ति का दायित्व ग्रहण व वहन करे। यह वर्ग समूचे समाज को विमुक्त कराता है बशर्ते समूचा समाज उसी स्थिति में हो जिसमें कि वह वर्ग है—- यानी उसके पास धन तथा शिक्षा हो अथवा अपनी इच्छानुसार इन्हें प्राप्त करने की सामर्थ्य हो।

नागरिक समाज का कोई भी वर्ग स्वयं के भीतर तथा जनसमूहों के भीतर उमंग व आस्था का पल पैदा किये बग़ैर इस भूमिका का निर्वाह नहीं कर सकता और यह उमंग का पल भी ऐसा कि वह वर्ग आम समाज के साथ बन्धुत्व क़ायम करके उसमें विलीन हो जाए, उसमें एकाकार हो चुकने की भ्रान्ति पैदा कर सके तथा उसके आम प्रतिनिधि के रूप में देखा व माना जा सके; ऐसा पल जिसमें उसकी अपेक्षाएँ (माँगें) व अधिकार सही मायने में समूचे समाज की अपेक्षाएँ व अधिकार मान लिये जाएँ; एक ऐसा पल जिसमें कि उसे सही मायने में सामाजिक (समूचे समाज का) मस्तिष्क व सामाजिक हृदय के रूप में स्वीकृति मिल सके। समाज के आम अधिकारों के नाम पर ही कोई वर्ग व्यापक प्रभुत्व हासिल करने का दावा कर सकता है। इस विमुक्तिदायी ठिकाने पर धावा बोलने के लिए और इसलिए अपने तबक़े के हितों का ध्यान रखकर, समाज के सभी हिस्सों के राजनीतिक शोषण के लिए क्रान्तिकारी ऊर्जा तथा बौद्धिक आत्मविश्वास मात्र ही काफ़ी नहीं होते। किसी राष्ट्र की क्रान्ति तथा नागरिक समाज के एक विशिष्ट वर्ग की विमुक्ति के सहघटित (एक साथ घटित) होने के लिए, एक ख़ास स्तम्भ (सामाजिक-राजनीतिक समूह) की समूचे समाज के स्तम्भ के रूप में स्वीकृति के लिए यह आवश्यक है कि समाज की समस्त कमियाँ अन्य वर्ग में विलोमतः संकेन्द्रित हो जाएँ, एक ख़ास स्तम्भ को रास्ते का प्रमुख रोड़ा माना जाए, एक ख़ास सामाजिक संघटन को समूचे समाज के जघन्य अपराध के रूप में देखा जाए, ताकि उस संघटन से विमुक्ति व्यापक आत्म-मुक्ति के रूप में देखा जा सके। एक स्तम्भ के लिए मुक्ति का अप्रतिम स्तम्भ होने के लिए आवश्यक है कि दूसरा स्तम्भ विलोमतः उत्पीड़न व दमन का प्रत्यक्ष स्तंम्भ दिखना चाहिए। फ्रांसीसी कुलीन वर्ग तथा फ्रांसीसी पुरोहित वर्ग के नकारात्मक आम महत्त्व ने उसके तात्कालिक निकटवर्ती एक विरोधी वर्ग—पूँजीपति वर्ग—के सकारात्मक आम महत्त्व को निर्धारित किया था।

किन्तु जर्मन समाज में किसी भी ख़ास वर्ग में वह संसक्ति, प्रचण्डता, साहस अथवा निर्ममता नहीं है, जिसके बल पर वह समाज के नकारात्मक प्रतिनिधि के रूप में अलग दिख सके और न किसी स्तम्भ के पास आत्मा का वह विस्तार है जिसके बल पर वह एक पल के लिए राष्ट्र की आत्मा से तादात्म्य स्थापित कर सके न वह मनीषा (मेधा) है जो भौतिक बल

को राजनीतिक हिंसा की ओर प्रेरित कर सके और न ही वह क्रांतिकारी साहसिकता है जिससे वह विरोधी की ओर चुनौतीपूर्ण शब्द उछाल सके : **मैं कुछ भी नहीं हूँ लेकिन मैं सब कुछ होऊँगा।** जर्मन (वर्गों तथा व्यक्तियों दोनों ही की) नैतिकता एवं ईमानदारी का प्रमुख स्तंभ वह संयत अहं है जो उसकी परिसीमितता को प्रतिष्ठापित करता है तथा अपने विरुद्ध वह प्रतिष्ठापित होने भी देता है। जर्मन समाज की विभिन्न जमातों के सम्बन्ध इसलिए नाटकीय न होकर महाकाव्यात्मक हैं। उनमें से हरेक को अपने बारे में अहसास होने लगता है तथा अपने ख़ास दावों के साथ दूसरों से तालमेल बिठाने लगता है। यह दमन की प्रक्रिया शुरू होते ही नहीं हो जाता है बल्कि जैसे ही काल की परिस्थितियाँ, बिना इस हिस्से की प्रत्यक्ष भागीदारी के उस सामाजिक संस्तर को निर्मित कर देती है हैं जिस पर अपनी बारी में वह दबाव डाल सके, यह प्रक्रिया शुरू हो जाती है। जर्मन मध्य वर्ग की नैतिक आत्मविश्वास तक इस चेतना पर आश्रित होता है कि वह ही अन्य समस्त वर्गों के कूपमंडूकीय औसतपन का आम प्रतिनिधि है। जर्मन राजा ही असमय सिंहासन पर आरूढ़ नहीं होते बल्कि नागरिक समाज का प्रत्येक संवर्ग अपने सिर पर विजय का सेहरा बँधवाने से पूर्व पराजय का मुँह देख चुका होता है, अपनी परिसीमाओं पर क़ाबू पाने से पूर्व अपनी परिसीमाएँ विकसित कर चुका होता है तथा अपने विशाल हृदयी सार-तत्व का उद्घोष करने से पूर्व अपने संकीर्णमना सार-तत्व को स्वीकृति दे चुका होता है। इस प्रकार प्रत्येक अवसर पर महान भूमिका निभाने का मौक़ा हाथ से निकल जाता है और प्रत्येक वर्ग अपने से ऊपर के वर्ग से संघर्ष शुरू करते ही, अपने से नीचे के वर्ग के साथ संघर्ष में उलझ जाता है। राजकुमार राजतंत्र के विरुद्ध संघर्ष कर रहे हैं, नौकरशाह कुलीन वर्ग के विरुद्ध तथा पूंजीपति वर्ग इन सभी के विरुद्ध संघर्ष में लगा हुआ है, जबकि पूँजीपति वर्ग के विरुद्ध सर्वहारा का संघर्ष अभी शुरू ही हुआ है। मध्य वर्ग अपने स्वयं के दृष्टिकोण के आधार पर विमुक्ति की सोच का साहस ही जुटा रहा होता है कि सामाजिक परिस्थितियों का विकास तथा राजनीतिक सिद्धांत की प्रगति मिलकर उस दृष्टिकोण को प्रचलित या कम-से-कम संदिग्ध तो घोषित कर ही देते हैं।

फ्रांस में किसी व्यक्ति के लिए यह वाज़िब है कि यदि वह कुछ भी है तो सब कुछ की माँग करने लगे। जर्मनी में यदि व्यक्ति को सब कुछ का परित्याग नहीं करना है तो उसे नाकुछ ही होना चाहिए। फ्रांस में आंशिक विमुक्ति सार्वभौमिक मुक्ति का आधार होता है जबकि जर्मनी में सार्वभौमिक विमुक्ति किसी भी आंशिक विमुक्ति की अपरिहार्य शर्त है। फ्रांस में क्रमिक मुक्ति का यथार्थ सम्पूर्ण स्वतंत्रता को जन्म देता है, जर्मनी में क्रमिक मुक्ति की असम्भाव्यता संपूर्ण स्वतंत्रता को जन्म देती है। फ्रांस में प्रत्येक वर्ग राजनीतिक दृष्टि से आदर्शवादी है तथा शुरू में एक ख़ास वर्ग के रूप में नहीं बल्कि व्यापक सामाजिक आवश्यकताओं

के प्रतिनिधि के रूप में ही स्वयं ही पहचान बनाता है। अतः विमुक्तिदाता की भूमिका फ्रांसीसी राष्ट्र के विभिन्न वर्गों के मध्य नाटकीय गति से एक वर्ग से दूसरे वर्ग के हाथों में जाती रहती है, जब तक कि वह अन्तिम रूप से उस वर्ग के पास नहीं आ जाती जो कि सामाजिक स्वतंत्रता को मानव समाज द्वारा निर्मित किन्तु मनुष्य से परे मौजूद किन्हीं परिस्थितियों के आधार पर क्रियान्वित नहीं करता। बल्कि जो मानव जीवन (अस्तित्व) की समस्त परिस्थितियों को सामाजिक स्वतंत्रता की पूर्वधारणा मानकर संगठित करता है। जर्मनी में इसके विपरीत जहाँ व्यावहारिक जीवन उतना ही उल्लासहीन है जितना कि आत्मिक जीवन अव्यावहारिक है, नागर समाज के किसी भी वर्ग में—जब तक कि उसकी तात्कालिक परिस्थिति, **भौतिक** आवश्यकता, उसकी अपनी **बेड़ियाँ** ही उसे विवश न कर दें सार्विक विमुक्ति की न तो सामर्थ्य है और न उसे इसकी आवश्यकता ही महसूस होती है।

तो फिर जर्मन विमुक्ति की सकारात्मक सम्भावना किसमें निहित है?

उत्तर—उस वर्ग संघटन में जो मूलगामी बेड़ियों में जकड़ा हुआ है, यानी उस वर्ग जो नागरिक समाज का वर्ग होते हुए भी नागर समाज का वर्ग नहीं है, उस स्तम्भ में जो अन्य समस्त स्तम्भों के विखंडन का प्रतीक है, उस तबक़े में जिसका सार्वभौमिक पीड़ा के कारण एक सार्वभौमिक चरित्र है तथा जो अपने लिए किसी ख़ास अधिकार का दावा नहीं करता, क्योंकि उसके साथ कोई ख़ास क़िस्म का अन्याय नहीं बल्कि आम अन्याय जारी रहता है। एक ऐसा वर्ग जो किसी ऐतिहासिक हक़ (दावा) का नहीं, बल्कि मानवीय हक़ का स्मरण कराता है, जो परिणामों के एकपक्षीय निषेध का समर्थन नहीं हो, बल्कि जर्मन राज्य की आधारशिलाओं के चहुँमुखी निषेध का पक्षधर हो। एक ऐसा तबक़ा जो समाज के अन्य सभी तबक़ों से विमुक्त हुए बग़ैर स्वयं को विमुक्त नहीं कर सकता और जो इस प्रकार समाज के समस्त तबक़ों को विमुक्त करता है तथा एक शब्द में कहें तो जो **मनुष्य का सम्पूर्ण लोप** होने के कारण **मनुष्य की सम्पूर्ण पुनर्प्रतिष्ठा** के माध्यम से ही अपने लिए उसे प्राप्त कर सकता है। एक विशिष्ट स्तम्भ के रूप में समाज का यह विखंडन ही सर्वहारा है।

जर्मनी में सर्वहारा उदीयमान औद्योगिक विकास के परिणामस्वरूप ही आकार ग्रहण करने लगा है। जन्मजात ग़रीब नहीं बल्कि कृत्रिम रूप से कंगाल बना दिये गये लोग समाज के घनत्व द्वारा यांत्रिक रूप से उत्पीड़ित मानव समूह नहीं बल्कि समाज के भीषण विखंडन से पैदा होने वाले जनसमूह, ख़ासकर मध्यवर्ती स्तम्भ से निकलने वाले जनसमूह सर्वहारा का गठन करते हैं, यद्यपि यह भी एकदम साफ़ है कि जन्मजात ग़रीब तथा ईसाई-जर्मन कृषिदास भी इसकी क़तारों में जा मिलते हैं।

अब तक विद्यमान विश्व-व्यवस्था के विखंडन की घोषणा करके सर्वहारा मात्र अपने

अस्तित्व के रहस्य को उद्घाटित करता है क्योंकि वह वस्तुतः उस विश्व-व्यवस्था के विखंडन का ही दूसरा नाम है। निजी सम्पत्ति के निषेध की माँग करके सर्वहारा का नियम बना दिया है —यानी जो बिना उसके अपने सहयोग के समाज के नकारात्मक परिणाम के रूप में उक्त नियम में समाहित कर दिया गया है। उस दुनिया के संदर्भ में जिसका कि अभी उदय ही हो रहा है। सर्वहारा वर्ग का प्रतिनिधि स्वयं को उन्हीं अधिकारों से युक्त पाता है जैसे कि मौजूदा दुनिया के सम्बन्ध में जर्मन राजा जब वह जनगण को अपने लोग या घोड़े को अपना घोड़ा कहकर पुकारता है। जनगण को अपनी निजी सम्पत्ति घोषित करके राजा अपने इस मंतव्य को ही प्रकट करता है कि सम्पत्ति का स्वामी राजा होता है।

जैसे दर्शन सर्वहारा में अपने भौतिक अस्त्र देखता है उसी प्रकार सर्वहारा दर्शन में अपने आत्मिक अस्त्रों के दर्शन करता है। एक बार चिंतनरूपी तड़ित जन समूह की निष्कपट भूमि पर सीधा प्रहार भर कर दे, जर्मनों की मनुष्य के रूप में विमुक्ति में देर नहीं लगेगी।

आओ, निष्कर्ष पर नज़र डाल लें :—

जर्मनी की एकमात्र व्यावहारिक रूप से सम्भव मुक्ति वह मुक्ति है, जो उस सिद्धांत के आधार-बिंदु का परिणाम होगी, जो मनुष्य के लिए मनुष्य को सर्वोच्च प्राणी घोषित करता है। जर्मनी में मध्य काल से विमुक्ति इस रूप में ही सम्भव है कि वह मध्य काल पर आंशिक विजयों से भी विमुक्ति का रूप धारण करे। जर्मनी में किसी क़िस्म की दासता को तब तक नष्ट नहीं किया जा सकता जब तक कि हर क़िस्म की दासता को नष्ट न कर दिया जाए। सम्यक् जर्मनी आमूल-चूल (सांगोपांग, पक्की) क्रांति किए बग़ैर कोई क्रांति नहीं कर सकता। **जर्मनों की विमुक्ति मनुष्य मात्र की विमुक्ति है।** दर्शन इस विमुक्ति का मस्तिष्क है, सर्वहारा इसका हृदय है। सर्वहारा के उन्मूलन के बिना दर्शन वास्तविकता नहीं बन सकता, दर्शन के वास्तविकता बने बिना सर्वहारा का उन्मूलन नहीं हो सकता।

जब समस्त आंतरिक अपेक्षाओं की पूर्ति हो जाएगी, फ्रांसीसी (गालिक) मुर्गे की गूँजती आवाज़ जर्मन पुनरुत्थान की घोषणा कर देगी।

कार्ल मार्क्स—फ्रेडरिक एंगेल्स

पवित्र परिवार अथवा आलोचनात्मक आलोचना का विवेचन— ब्रूनो बावेर तथा उनकी मंडली के विरुद्ध

(अध्याय 6 से अंश)

फ्रांसीसी भौतिकवाद के विरुद्ध आलोचनात्मक संघर्ष

"स्पिनोज़वाद का अपने परवर्ती फ्रांसीसी संस्करण (जिसने भूतद्रव्य को द्रव्य में बदल दिया था) के रूप में तथा तटस्थेश्वरवाद (जिसने भूतद्रव्य पर अधिक आत्मिक नाम जड़ दिया) — दोनों ही रूपों में 18वीं शताब्दी में वर्चस्व था ....। स्पिनोज़ा का फ्रांसीसी पंथ तथा तटस्थेश्वरवाद के समर्थक ही वे दो सम्प्रदाय थे जो **उसकी प्रणाली** के वास्तविक अर्थ को लेकर जूझ रहे थे ..... फ्रांसीसी आंदोलन के पश्चात् प्रारम्भ प्रतिक्रिया के सामने घुटने टेक देने को विवश हो जाने पर इस प्रबोधन की सहज नियति थी रूमानियत के रूप में इसका पतन।"

आलोचना का कथन यही है।

फ्रांसीसी भौतिकवाद के आलोचनात्मक इतिहास के बरक्स उसके सामान्य चालू इतिहास की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत करेंगे। हम पूरे सम्मान के साथ उस अगाध गर्त को भी स्वीकृति (मान्यता) देंगे जो वास्तव में घटित इतिहास तथा **चरम आलोचना** के आदेश के अनुरूप घटित इतिहास के बीच विद्यमान है तथा जो पुराने तथा नये दोनों का समान रूप स स्रष्टा है और अन्त में आलोचना के नुस्ख़ों का पालन करते हुए हम आलोचनात्मक इतिहास के **क्यों? कहाँ से? कहाँ को? आदि को अध्यवसायी अध्ययन का विषय बनाएंगे।**

'यदि सटीक एवं शुष्क शैली में कहा जाए' तो 18वीं शताब्दी का प्रबोधन आंदोलन, ख़ासकर **फ्रांसीसी भौतिकवाद** मात्र विद्यमान संस्थाओं तथा उनके साथ ही विद्यमान-धर्म और धर्मशास्त्र के विरुद्ध ही संघर्ष नहीं था, वह **17वीं शताब्दी के अधिभूतवाद** के विरुद्ध

तथा हर प्रकार के अधिभूतवाद, विशेष रूप से **देकार्त, मालब्रांश, स्पिनोज़ा** तथा **लीबनिज़** के अधिभूतवाद के विरुद्ध **खुला, सुस्पष्ट रूप से अभिव्यक्त** संघर्ष भी था। दर्शनशास्त्र को अधिभूतवाद के बरक्स (आमने-सामने) खड़ा किया गया ठीक वैसे ही **फ़ायरबाख़** हेगेल पर अपने पहले सशक्त प्रहार में संयत दर्शनशास्त्र को **अनियंत्रित-असंयमित अटकलबाजी** (परिकल्पनात्मक चिंतन) के बरक्स खड़ा किया था। 17वीं शताब्दी के अधिभूतवाद का, जिसे फ्रांसीसी प्रबोधन आंदोलन ने तथा उल्लेखनीय रूप से 18वीं शताब्दी के फ्रांसीसी भौतिकवाद ने मैदान से खदेड़ दिया था, **जर्मन दर्शन** में, ख़ासकर 19वीं शताब्दी के **मीमांसात्मक जर्मन दर्शन में, विजयपूर्ण तथा सारगर्भित पुनर्स्थापन हुआ**। हेगेल द्वारा उसे समस्त उत्तरवर्ती अधिभूतवाद तथा जर्मन मानववाद से जोड़े जाने तथा अधिभूतवादी सर्वव्यापी जगत् की स्थापना किये जाने के बाद धर्मशास्त्र पर प्रहार, पुनः 18वीं की ही तरह, मीमांसात्मक अधिभूतवाद तथा आमतौर पर हर प्रकार के अधिभूतवाद पर प्रहार के समरूप सिद्ध हुआ। भौतिकवाद, जिसे अब स्वयं परिकल्पनात्मक चिंतन कर्म ने परिष्कृत कर दिया है तथा जो मानववाद से मेल खाता है, इसे सदा-सर्वदा के लिए समाप्त कर देगा। परन्तु जिस तरह फ़ायरबाख़ **सैद्धांतिक** क्षेत्र में **मानववाद** से मेल खाने वाले **भौतिकवाद** के प्रतिनिधि हैं, ठीक उसी तरह फ्रांसीसी तथा आंग्ल **समाजवाद** व **कम्युनिज़्म व्यावहारिक** क्षेत्र में इस भौतिकवाद के प्रतिनिधि हैं।

'सटीक एवं शुष्क शैली में कहा जाए'तो फ्रांसीसी भौतिकतावाद में **दो प्रवृत्तियाँ** विद्यमान हैं— एक प्रवर्तक **देकार्त** तथा दूसरे के **लॉक** हैं। दूसरी प्रवृत्ति मुख्यतया फ्रांसीसी परिघटना है जो सीधे समाजवाद की ओर ले जाती है। पहली प्रवृत्ति यांत्रिक भौतिकवाद का फ्रांसीसी प्रकृति विज्ञान में विलय हो जाता है। विकास के दौरान ये दोनों प्रवृत्तियाँ एक-दूसरी को काटती हैं। हमें न तो फ्रांसीसी भौतिकवाद जिसकी जड़ें सीधे देकार्त से जाकर मिलती है के भीतर ज़्यादा गहराई तक उतरने की आवश्यकता है और न न्यूटन के फ्रांसीसी पंथ की व सामान्य रूप में फ्रांसीसी प्रकृति विज्ञान के विकास की विस्तृत चर्चा करने की।

अतः हम केवल निम्नलिखित बातें ही कहेंगे :—

देकार्त ने अपनी **भौतिकी** में भूतद्रव्य को आत्म-जननकारी शक्ति से सम्पन्न बताया था तथा **यांत्रिक गति** की भूतद्रव्य के जीवन की अभिव्यक्ति के रूप में कल्पना की थी। उन्होंने अपनी भौतिकी को अपने अधिभूतवाद से पूर्णतया पृथक कर दिया। उनकी भौतिकी के **अन्तर्गत भूतद्रव्य** एकमात्र द्रव्य है, अस्तित्व तथा ज्ञान का एकमात्र आधार है।

फ्रांसीसी **यांत्रिक** भौतिकवाद ने **देकार्त** के अधिभूतवाद का विरोध किया तथा उनकी **भौतिकी** को अंगीकार किया। उनके अनुयायी घोषित रूप से **अधिभूतवाद विरोधी** अर्थात्

भौतिकीविज्ञ थे।

इस पंथ का आरम्भ चिकित्सक **ले रॉय** से होता है, चिकित्सक **काबानीस** के साथ वह चरम बिंदु पर पहुँच जाता है तथा चिकित्सक **ला मेत्री** इसके केन्द्र हैं। देकार्त उस समय जीवित थे जब ले रॉय ने पशु की कार्तेसियन संरचना को मानव पर लागू कर दिया (18वीं शताब्दी में ला मेत्री ने भी यही काम किया था) और यह घोषित किया कि **आत्मा शरीर की विधि है तथा विचार यांत्रिक गतियाँ हैं**। ले रॉय ने तो यह तक सोचा कि देकार्त ने अपने वास्तविक मत को गुप्त रखा था। देकार्त ने इसका विरोध किया। 18वीं शताब्दी के अन्त में काबानीस ने अपनी पुस्तक **'मानव में भूतद्रव्य तथा आत्मा का समन्वय'** में कार्तेसियन[1] भौतिकवाद को पूर्णता प्रदान की।

कार्तेसियन भौतिकवाद फ्रांस में आज भी विद्यमान है। उसने यांत्रिक प्रकृति विज्ञान में बड़ी-बड़ी सफलताएँ हासिल की हैं, जिस पर 'सटीक एवं शुष्क शैली में कहा जाए' तो रूमानियत का आरोप कतई नहीं लगाया जा सकता।

भौतिकवाद 17वीं शताब्दी के अधिभूतवाद का, जिसका फ्रांस में प्रतिनिधित्व देकार्त करते थे, अपने जन्म के समय से ही विरोधी रहा है। एपीक्यूरस के भौतिकवाद के पुनरुद्धारकर्ता गास्सेंदी भौतिकवाद द्वारा देकार्त के अधिभूतवाद के किये जाने वाले का विरोध का साकार रूप थे। फ्रांसीसी तथा आंग्ल भौतिकवाद **देमोक्रितस** तथा **एपीक्यूरस** से सदैव घनिष्ठ रूप में जुड़ा रहा। कार्तेसियन अधिभूतवाद के एक अन्य विरोधी थे— आंग्ल भौतिकवादी हाब्स। गास्सेंदी तथा हाब्स को अपने विरोधी पर विजय अपनी मृत्यु के भी काफ़ी समय बाद प्राप्त हुई, यानी उस समय जब अधिभूतवाद का समस्त फ्रांसीसी पंथों पर आधिकारिक रूप से वर्चस्व क़ायम हो गया था।

वाल्तेयर ने इस बात की ओर संकेत किया कि 18वीं शताब्दी के फ्रांसीसियों की जेसुइटों और यांसेनिस्टों[2] के बीच चले विवादों के प्रति उदासीनता का कारण दर्शन कम तथा विधि (क़ानून) की वित्तीय सट्टेबाज़ी अधिक था। वस्तुतः 17वीं शताब्दी के अधिभूतवाद के पतन के कारण 18वीं शताब्दी का भौतिकवाद उसी हद तक (माना जा सकता) है जिस हद तक स्वयं इस सैद्धांतिक आंदोलन का कारण उस समय के फ्रांसीसी जीवन के व्यावहारिक रूप

---

1. रेने देकार्त के भूतद्रव्यवादी भौतिकी के अनुयायियों का सिद्धांत काबानीस की उल्लिखित पुस्तक 1802 में प्रकाशित हुई थी। अनु.
2. हालैण्ड के धर्मशास्त्री यांसेन के अनुयायी— 17वीं शताब्दी तथा 18वीं शताब्दी के आरम्भ में फ्रांसीसी कैथोलिकों के बीच एक विपक्षी प्रवृत्ति के प्रतिनिधि, जो अधिकृत कैथोलिकवाद की सामंतवादी विचारधारा के प्रति फ्रांसीसी पूँजीपति वर्ग के एक भाग के रोष को व्यक्त करते थे।

को माना जा सकता है। यह जीवन तात्कालिक वर्तमान सांसारिक सुख-भोग, सांसारिक हितों तथा पार्थिव जगत् की ओर उन्मुख था। उसका धर्मशास्त्र-विरोधी, अधिभूतवाद-विरोधी, भौतिकवादी व्यवहार तदनुरूप धर्मशास्त्र-विरोधी, अधिभूतवाद-विरोधी, भौतिकवादी सिद्धांतों की अपेक्षा रखता (माँग करता) था। अधिभूतवाद व्यवहार में अपनी सारी साख खो चुका। यहाँ घटनाओं के सैद्धांतिक विकास-क्रम पर सरसरी तौर पर नज़र डालना ही हमारे लिए काफ़ी होगा।

17वीं शताब्दी के अधिभूतवाद में **सकारात्मक** लौकिक तत्त्व बचा हुआ था (संदर्भ देकार्त, लीबनिज़)। उसने गणित, भौतिकी तथा अन्य परिशुद्ध विज्ञानों (जो उसकी अध्ययन परिधि के भीतर प्रतीत होते थे) में खोजें कीं। किंतु 18वीं शताब्दी का आरम्भ होते-होते इस आभास को नष्ट कर दिया गया। वस्तुपरक (प्रत्यक्ष) विज्ञानों ने अधिभूतवाद से नाता तोड़ डाला और अपने स्वतंत्र क्षेत्र निश्चित कर लिये। अधिभूतवाद की समस्त सम्पदा अब मात्र काल्पनिक सत्त्वों (अस्तित्वों) तथा दिव्य वस्तुओं तक सिमटकर रह गयी, ख़ासकर वह भी ऐसे समय जब वास्तविक सत्त्व तथा पार्थिव वस्तुएँ समस्त रुचि का केन्द्र बनने लगी थीं। अधिभूतवाद फीका पड़ गया था। ठीक उसी वर्ष जब 17वीं शताब्दी के अन्तिम महान फ्रांसीसी अधिभूतवादियों— मालब्रांश तथा अर्नो की— मृत्यु हुई, **हेल्वेतियस** तथा **कोंदिलाक** (दोनों भौतिकवादी तथा निरीश्वरवादी थे) का जन्म हुआ।

जिस व्यक्ति ने 17वीं शताब्दी के अधिभूतवाद तथा मोटे तौर पर समूचे अधिभूतवाद को **सिद्धांत के क्षेत्र में समस्त विश्वसनीयता** से वंचित कर दिया, उसका नाम था पियेर बेल। पियेर बेल का अस्त्र संशयवाद[1] था जिसे उन्होंने अधिभूतवाद के जादुई सूत्रों से तैयार किया था। स्वयं उन्होंने आरम्भ में कार्तेसियन अधिभूतवाद को आधार बनाया। जिस तरह फ़ायरबाख़ को परिकल्पनात्मक धर्मशास्त्र के विरुद्ध संघर्ष ने मीमांसात्मक दर्शन के साथ भिड़ने की ओर ठीक इसलिए धकेला था कि वह परिकल्पना में धर्मशास्त्र का अन्तिम अवलम्ब देखते थे तथा उन्होंने धर्मशास्त्र को छद्म-विज्ञान से भोंडी, घृणित आस्था की ओर मुड़ने को बाध्य कर दिया था, उसी तरह बेल को धार्मिक संशय ने अधिभूतवाद के बारे में, जो उस धारणा का अवलम्ब था, संशय करने की ओर धकेला। अतः उन्होंने अधिभूतवाद की उसके पूरे ऐतिहासिक विकास समेत आलोचनात्मक जाँच की। वह उसके इतिहासकार बन गये ताकि उसकी मृत्यु का इतिहास लिख सकें। उन्होंने मुख्यतया **स्पिनोज़ा** तथा **लीबनिज़** का मत खंडन किया।

---

1. भाववादी दर्शन की एक प्रवृत्ति जो वस्तुपरक यथार्थता का संज्ञान करने में संशय का प्रचार करती है।

पियेर बेल ने अपने संशयवाद के अस्त्र से अधिभूतवाद की धज्जियाँ उड़ाकर फ्रांस में भौतिकवाद तथा सहज बुद्धि के दर्शन का मात्र आधार ही तैयार नहीं किया था, वह उस निरीश्वरवादी समाज के अग्रदूत भी थे; जिसे शीघ्र ही यह सिद्ध करते हुए अस्तित्वमान होना था कि ऐसा समाज **सम्भव** है, जिसमें केवल निरीश्वरवादी हों, कि निरीश्वरवादी आदर का पात्र हो **सकता** है, कि व्यक्ति स्वयं को निरीश्वरवाद से नहीं; अपितु अंधविश्वास व मूर्तिपूजा से भ्रष्ट करता है।

एक फ्रांसीसी लेखक के शब्दों में **पियेर बेल "17वीं शताब्दी की दृष्टि से अन्तिम अधिभूतवादी तथा 18वीं शताब्दी की दृष्टि से प्रथम दार्शनिक थे।"**

17वीं शताब्दी के धर्मशास्त्र तथा अधिभूतवाद के निषेधात्मक खंडन के अलावा एक **सकारात्मक अधिभूतवाद विरोधी** पद्धति की आवश्यकता थी। एक ऐसी पुस्तक की आवश्यकता थी जो उस समय के जीवन-व्यवहार को व्यवस्थित तथा सैद्धांतिक रूप से परिपुष्ट करती। लॉक की कृति मानवीय समझ के बारे में निबन्ध[1] का इंग्लिश चैनल[2] के उस पार से इस तरह आगमन हुआ मानो वह किसी की पुकार पर आयी हो। एक चिर-प्रतीक्षित अतिथि के रूप में उसका स्वागत हुआ।

सवाल यह उठता है: "क्या **लॉक स्पिनोज़ा** का शिष्य नहीं था?" लौकिक इतिहास यह उत्तर दे सकता है:

भौतिकवाद **ग्रेट ब्रिटेन का औरस पुत्र** है। **डंस स्कॉटस** नामक ब्रिटिश स्कूलमैन (मध्यकालीन दार्शनिक) पहले ही सवाल कर चुका था : **"क्या भूतद्रव्य के लिए चिन्तन कर पाना असम्भव है ?"**

इस चमत्कार को उन्होंने परमात्मा की सर्वशक्तिमत्ता की शरण ली, यानी उन्होंने **धर्मशास्त्र** से ही **भौतिकवाद** का प्रचार करवा दिया। यही नहीं, वह **नाममात्रवादी**[3] थे। नाममात्रवाद जो भौतिकवाद का प्रथम रूप है, मुख्यतया इंग्लैण्ड के स्कूलमैनों में पाया जाता है।

बेकल आंग्ल भौतिकवाद तथा समूचे **आधुनिक प्रायोगिक विज्ञान** के जनक हैं। उनके लिए प्रकृति-दर्शन एकमात्र सच्चा दर्शन है तथा इंद्रियानुभूति पर आधारित **भौतिकी** प्रकृति-दर्शन का सबसे प्रमुख भाग है। अपने पक्ष की पुष्टि के लिए वह अनाक्सागोरस और

---

1. इसका प्रथम संस्करण 1690 में लंदन में प्रकाशित हुआ था।
2. इंग्लिश चैनल इंग्लैंड तथा फ्रांस के बीच का समुद्री क्षेत्र।
3. मध्ययुगीन दर्शन की एक धारा। नाममात्रवाद तथा यथार्थवाद के बीच संघर्ष भौतिकवाद तथा भाववाद के बीच संघर्ष का एक भाग था जो मध्ययुगीन दर्शन में चलता रहा।

उनके **समावयव**[1] तथा **देमोक्रितस** और उनके परमाणुओं को प्रायः उद्धृत करते हैं। उनके कथनानुसार इंद्रियाँ कभी धोखा नहीं देतीं तथा वे ही समस्त ज्ञान का स्रोत हैं। समस्त विज्ञान अनुभव पर आधारित है तथा इंद्रियों द्वारा प्रस्तुत सामग्री की **बुद्धिपरक विधि** से जाँच करता है। इस प्रकार की बुद्धिपरक विधि के प्रमुख रूप हैं— आगमन, विश्लेषण, तुलना, प्रेक्षण, प्रयोग। **भूतद्रव्य** में अंतर्निहित गुणों में गति प्रथम तथा सर्वोपरि है, **यांत्रिक तथा गणितीय** गति के रूप में ही नहीं, वरन् भूतद्रव्य के **आवेग, जीवंत आत्मा**, तनाव (अथवा जैकब बेहमे के शब्दों में उसकी **यंत्रणा**) के रूप में भी। भूतद्रव्य के प्राथमिक रूप हैं— उसमें अंतर्निहित सजीव, व्यष्टिकरण करने वाली तथा विभिन्न प्राणी-जातियों (species) के बीच विशिष्ट अंतर उत्पन्न करने वाली **सत्त्व (अस्तित्व) की शक्तियाँ।**

अपने प्रथम स्रष्टा **बेकन** के दर्शन में भौतिकवाद स्वयं के भीतर बहुमुखी विकास के बीज सहज ढंग से सँजोये हुए हैं। एक ओर इंद्रियनिष्ठ, काव्यात्मक आकर्षण से घिरा भूतद्रव्य मनमोहक मुस्कानों के साथ मनुष्य के समूचे सत्त्व को अपनी ओर आकृष्ट करता प्रतीत होता है, तो दूसरी ओर सूत्रात्मक ढंग से निरूपित सिद्धांत धर्मशास्त्र से ग्रहण की गयी असंगतियों से ओत-प्रोत है।

अपने आगे के विकास क्रम में भौतिकवाद **एकांगी** बन जाता है। **हॉब्स** ही वह व्यक्ति हैं जिन्होंने **बेकन** के भौतिकवाद को व्यवस्थित रूप दिया है। इंद्रियों पर आधारित ज्ञान अपना काव्यात्मक सौरभ खो बैठता है और ज्यामितिविज्ञ के अमूर्त अनुभव में रूपांतरित हो जाता है। **यांत्रिक** अथवा **गणितीय** गति की ख़ातिर **भौतिक** गति की बलि चढ़ा दी जाती है; **ज्यामिति** को विज्ञानों की रानी घोषित कर दिया जाता है। भौतिकवाद **मानवद्वेषी** बन जाता है। यदि भौतिकवाद को अपने विरोधी, **मानवद्वेषी, हाड़-माँस रहित अध्यात्मवाद** को और वह भी उसके (अध्यात्मवाद के) घरेलू मैदान पर— परास्त करना है तो उसे अपने ही हाड़-माँस को दंडित करना होगा तथा **तपस्वी** बनना होगा। इस प्रकार वह **बौद्धिक प्राणी** बन जाता है। परन्तु इस तरह भी वह बुद्धि की समस्त सुसंगतता, परिणामों की परवाह किये बग़ैर विकसित करता है।

बेकन को आगे बढ़ाने वाले हॉब्स इस तरह का तर्क करते हैं : यदि समस्त मानवीय ज्ञान इंद्रियजनित है, तो फिर हमारी अवधारणाएँ एवं विचार वास्तविक जगत् की छायाएँ मात्र हैं, जो न्यूनाधिक रूप में अपने इंद्रियनिष्ठ रूप से वंचित है। दर्शन इन छायाओं को केवल नाम

---

1. प्राचीन यूनानी दार्शनिक अनाक्सागोरस के अनुसार लघु गुण द्वारा निर्धारित भौतिक कणों की विभाज्य क्षमता का कोई अंत नहीं है। जो कुछ भी अस्तित्व मान है, उसका वे प्राथमिक आधार हैं तथा उनका समावयव ही वस्तुओं की समस्त विविधता है।

दे सकता है। एक नाम उनमें से अनेक पर लागू हो सकता है। नामों तक के भी नाम हो सकते हैं। परन्तु यदि हम एक ओर यह कहें कि समस्त विचारों का स्रोत इंद्रियगोचर जगत है और दूसरी ओर यह मानें कि शब्द में शब्द से अधिक भी कुछ होता है, या यह कि इंद्रियों द्वारा ज्ञात उन सत्त्वों के अलावा, जो सब के सब व्यष्टि हैं —व्यक्तिगत स्वरूप के नहीं वरन् सामान्य स्वरूप के भी सत्त्व होते हैं—तो यह कथन अपने आप में अंतर्विरोधपूर्ण होगा। **देहहीन द्रव्य** वैसी ही बेतुकी बात है जैसी कि **देहहीन देह। शरीर, सत्ता,** द्रव्य एक ही वास्तविकता के अलग-अलग नाम हैं। चिन्तन को चिन्तन करने वाले भूतद्रव्य से पृथक करना असंभव है। यह भूतद्रव्य विश्व में घटित हो रहे समस्त परिवर्तनों का अधःसंस्तर (आधार) है। **अनंत शब्द अंतहीन है,** यदि वह यह न समझा दे कि हमारे मस्तिष्क में जोड़ लगाते जाने की अनंत प्रक्रिया सम्पन्न करने की क्षमता है। केवल भौतिक वस्तुओं का प्रत्यक्ष ज्ञान होने —यानी हमारे लिए ज्ञेय होने—के कारण ही हम परमात्मा के बारे में **कुछ नहीं** जान सकते। अकेले मेरा अस्तित्व ही सुनिश्चित है। प्रत्येक मानवीय आवेग यांत्रिक गति है, जिसका आरंभ है तथा अंत भी। जो हमारे आवेग के विषय हैं उन्हीं को हम श्रेष्ठ कहते हैं। मनुष्य भी उन्हीं नियमों के अधीन होता है, जिनके अधीन प्रकृति होती है। शक्ति एवं स्वतंत्रता समरूप होती है।

हॉब्स ने बेकन के चिंतन को व्यवस्थित रूप तो प्रदान किया था किन्तु उनके इस मूलभूत सिद्धांत का कि समस्त मानवीय ज्ञान तथा विचारों का स्रोत इंद्रियगोचर जगत है, कोई और प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया। यह प्रमाण **लॉक** ने अपनी रचना 'मानवीय समझ के बारे में निबंध' में प्रस्तुत किया था।

हॉब्स ने बेकन के **ईश्वरवादी** पूर्वाग्रहों को ध्वस्त कर दिया था। इसी तरह कॉलिंस, डॉडवेल, कावर्ड, हार्टले, प्रीस्टले ने **लॉक** के संवेदनवाद[1] को जकड़े रहने वाले अंतिम धर्मशास्त्रीय बंधनों को तोड़ डाला। जो भी हो, भौतिकवादियों के लिए तटस्थेश्वरवाद[2] धर्म से छुटकारा पाने का सुगम मार्ग मात्र है।

हम पहले ही इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि लॉक की कृति फ्रांसीसियों से कितनी अधिक सामयिक व प्रासंगिक सिद्ध हुई थी। लॉक ने सहज बुद्धि के दर्शन की स्थापना

---

1. दर्शन की वह धारा जिसके पक्षधर संवेदनों, प्रत्यक्ष ज्ञान आदि को समस्त ज्ञान का एकमात्र स्रोत तथा आधार मानते हैं। इनका मूल मंत्र है "अनुभूति होने से पूर्व कुछ भी बोधगम्य नहीं होता।" संवेदनवादी भौतिकवादी तथा भाववादी दोनों ही थे।
2. एक धार्मिक-दार्शनिक मत जो ईश्वर को जगत् का निर्वैयक्तिक, बुद्धियुक्त मूल कारण मानता है परन्तु इस बात से इंकार करता है कि वह प्रकृति तथा समाज के जीवन में हस्तक्षेप करता है।

की थी; अर्थात् उन्होंने परोक्ष रूप से कहा था कि ऐसा कोई दर्शन हो ही नहीं सकता जिसकी स्वस्थ मानव इंद्रियों तथा उन पर आधारित विवेक से असंगति हो।

लॉक के निकटतम शिष्य कोंदिलाक ने, जिन्होंने लॉक की कृति का फ्रांसीसी में अनुवाद किया था, तत्काल उनके संवेदनवाद को 17वीं शताब्दी के अधिभूतवाद के विरुद्ध इस्तेमाल किया। उन्होंने सिद्ध किया कि फ्रांसीसियों ने इस अधिभूतवाद को कल्पना की उड़ान तथा धर्मशास्त्रीय पूर्वाग्रहों का भोंडा योग बताते हुए उसे ठुकराकर ठीक काम ही किया था। कोंदिलाक ने देकार्त, स्पिनोज़ा, लीबनिज़ तथा मालब्रांश की पद्धतियों का खंडन करने वाली एक कृति भी प्रकाशित की।[1]

अपनी रचना 'मानवीय ज्ञान के आविर्भाव के बारे में निबंध'[2] में उन्होंने लॉक के विचारों की व्याख्या की तथा यह सिद्ध किया कि केवल आत्मा ही नहीं, वरन् इंद्रियाँ भी; विचारों के सृजन की कला ही नहीं बल्कि इंद्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान की कला भी अनुभव तथा आदत के विषय होती हैं। इसलिए मानव का संपूर्ण विकास **शिक्षा** तथा **बाह्य परिस्थितियों** पर निर्भर करता है। केवल **सारसंग्रहवादी** दर्शन द्वारा ही कोंदिलाक को फ्रांसीसी पंथों के बाहर धकियाया जा सका था।

फ्रांसीसी तथा **आंग्ल** भौतिकवाद के बीच जो फ़र्क़ है— वह दो राष्ट्रों के बीच के फ़र्क़ को प्रतिबिंबित करता है। फ्रांसीसियों ने आंग्ल भौतिकवाद को वाग्विदग्धता, हाड़-माँस तथा ओज प्रदान किया। उन्होंने उसे आवेग तथा लालित्य दिया, जिसका उसमें अभाव था। उन्होंने उसे **सभ्य** बनाया।

हेल्वेतियस, इन्होंने भी लॉक के चिंतन के आधार बनाया था, के चिंतन में भौतिकवाद ने सही अर्थों में फ्रांसीसी स्वरूप ग्रहण किया। हेल्वेतियस ने अपनी कृति 'मनुष्य के विषय में'[3] में उसे सामाजिक जीवन पर तात्कालिक रूप से लागू करके ही अपना भौतिकवादी मंतव्य प्रकट किया। एंद्रिय गुण, आत्म-प्रेम, आनंदोपभोग तथा सही ढंग से समझा जाने वाला व्यक्तिगत हित— ये समस्त नैतिकता के आधार हैं। मानवीय बुद्धि-क्षमताओं की नैसर्गिक क्षमता, विवेक की उन्नति तथा परिश्रम के विकास की एकता, मनुष्य की नैसर्गिक साधुता तथा शिक्षा की सर्वशक्तिमत्ता उनके सिद्धांत के प्रमुख लक्षण हैं।

---

1. यहाँ संकेत कोंदिलाक की रचना 'प्रणालियों के बारे में निबंध' (1749) की ओर है।
2. इस कृति का पहला संस्करण 1746 में एम्सटरडम में गुमनाम प्रकाशित हुआ था।
3. यह कृति लेखक के मरणोपरांत 1773 में हेग में प्रकाशित हुई थी।

ला मेत्री की कृतियाँ कार्तेसियन तथा आंग्ल भौतिकवाद का संश्लेषण प्रस्तुत करती हैं। वह देकार्त की भौतिकी का विस्तारपूर्वक उपयोग करते हैं। उनकी कृति 'मानव-मशीन'[1] देकार्त के पशु-मशीन की तर्ज़ पर तैयार किया गया शोधप्रबंध है। होलबाख़ की रचना 'प्रकृति की प्रणाली'[2] का भौतिकी सम्बन्धी अंश भी फ्रांसीसी तथा आंग्ल भौतिकवाद के संयोजन का फल है, जबकि नैतिक अंश मूलतया हेल्वेतियस की नैतिकता की अवधारणा पर आधारित है। फ्रांसीसी भौतिकवादी रोबिने ('प्रकृति के विषय में)[3], जिनका अधिभूतवाद के साथ सर्वाधिक सम्बन्ध रहा था तथा इसी कारण हेगेल ने जिनकी प्रशंसा की थी, मुखर रूप से **लीबनिज़** की चर्चा करते हैं।

यह सिद्ध कर चुकने के बाद कि फ्रांसीसी भौतिकवाद की दोहरी जड़ें देकार्त की भौतिकी व आंग्ल भौतिकवाद में हैं तथा फ्रांसीसी भौतिकवाद का 17वीं शताब्दी के अधिभूतवाद से तथा देकार्त, स्पिनोज़ा, मालब्रांश व लीबनिज़ के अधिभूतवाद से विरोध है, अब न तो बोल्ने, दुपुई, दिदेरो आदि की और न फ़िज़ियोक्रेटों[4] की ही चर्चा करने की आवश्यकता रह जाती है। यह विरोध जर्मनों की समझ में साफ़ तौर से तब आया जब वे **परिकल्पनात्मक अधिभूतवाद** के विरुद्ध संघर्ष में उतर आये थे।

जिस तरह **कार्तेसियन** भौतिकवाद प्रकृति विज्ञान में जा मिलता है, उसी तरह फ्रांसीसी भौतिकवाद की दूसरी धारा सीधे **समाजवाद** तथा **कम्युनिज़्म** की ओर ले जाती है।

मनुष्यों की मूल साधुता तथा बौद्धिक प्रतिभा संपन्नता की समानता, अनुभव, आदत तथा शिक्षा की सर्वशक्तिमत्ता, मनुष्य पर परिवेश के प्रभाव, परिश्रम के अतीव महत्व, आनन्दोपभोग के औचित्य सम्बन्धी भौतिकवाद की शिक्षा में यह देखने-समझने के लिए बहुत गहराई तक पैठेने की ज़रूरत नहीं है कि भौतिकवाद किस तरह कम्युनिज़्म तथा समाजवाद से

---

1. यह पुस्तक 1748 में लेडेन में गुमनाम प्रकाशित हुई थी। इसे जला दिया गया था तथा लेखक को हालैंड से (जहाँ वह फ्रांस से 1745 में आये थे) निर्वासित कर दिया गया था।
2. इस कृति का प्रथम संस्करण जब 1770 में प्रकाशित हुआ था, तो लेखक को पर्दे के पीछे रखने के लिए इस पर फ्रांसीसी अकादमी के सचिव जे.बी. मिराबो का नाम लेखक के रूप में दिया गया था, जिनकी मृत्यु 1760 में हो गयी थी।
3. चार खंडों में प्रकाशित ग्रंथ।
4. प्रकृतितंत्रवादी—पूँजीवादी क्लासिकीय अर्थशास्त्र की एक धारा—18वीं शताब्दी के छठे दशक में फ्रांस में उदय। बड़े पैमाने पर कृषि के पक्षधर .....

सार रूप में जुड़ा हुआ है। यदि मनुष्य एंद्रिय जगत् से तथा उससे प्राप्त अनुभव से अपना समस्त ज्ञान, संवेदन आदि अर्जित करता है तो फिर आवश्यकता केवल इस बात की रह जाती है कि इंद्रियानुभविक जगत् को इस तरह व्यवस्थित किया जो कि उसमें जो कुछ भी मानवीय है उसे मनुष्य अनुभव करे, उसका आदी बने और इस प्रकार मनुष्य के रूप में स्वयं को पहचाने। यदि सही तौर पर समझा गया हित ही समस्त नैतिकता का नियम है तो यह आवश्यक है कि मनुष्य भौतिकवादी अर्थ में स्वतंत्र नहीं है, यानी वह इससे या उससे बचने की नकारात्मक शक्ति के माध्यम से नहीं; अपितु अपने सच्चे व्यक्तित्व की प्रतिष्ठापना करने की सकारात्मक शक्ति के माध्यम से स्वतंत्र है, तो अपराध के लिए व्यक्ति को दंडित नहीं किया जाना चाहिए बल्कि अपराध के समाज-विरोधी स्रोतों को नष्ट किया जाना चाहिए तथा प्रत्येक व्यक्ति को अपनी अस्मिता की जीवंत अभिव्यक्ति के लिए पूरी गुंजाइश होनी चाहिए। यदि मनुष्य का निर्माण परिवेश करता है, तो परिवेश को मानवीय बनाया जाना चाहिए। यदि मनुष्य स्वभाव से सामाजिक है तो वह समाज में ही अपने वास्तविक स्वभाव को विकसित करेगा और इसीलिए मानव स्वभाव की शक्ति को पृथक्-पृथक् व्यक्तियों की शक्ति से नहीं बल्कि समाज की शक्ति से मापा जाना चाहिए।

ये तथा ऐसी ही अन्य प्रस्थापनाएँ प्राचीनतम फ्रांसीसी भौतिकवादियों की कृतियों में भी पायी जा सकती हैं। यह उनका मूल्यांकन करने का स्थान नहीं है। **मांदेवील,** जो लॉक के आरम्भिक अनुयायियों में से थे, **दुर्गुण के पक्ष में सफ़ाई** भौतिकवाद की समाजवादी प्रवृत्तियों का अभिलक्षण है। वह सिद्ध करते हैं कि **आधुनिक** समाज में दुर्गुण **अपरिहार्य** तथा **उपयोगी** है।[1] यह आधुनिक समाज के पक्ष में सफ़ाई क़तई नहीं थी।

फुरिये[2] सीधे फ्रांसीसी भौतिकवादियों की शिक्षा को अपना आधार बनाते हैं। **बाव्योफ़पंथी**[3] अपरिष्कृत, असभ्य भौतिकवादी थे, किन्तु उन्नत समाज का भी **सीधा स्रोत फ्रांसीसी भौतिकवाद** ही है। यह भौतिकवाद **हेल्वेतियस** द्वारा उसे दिये गये रूप में अपनी

---

1. **बर्नार्द दे मांदेवील**—'मधुमक्खियों की कहानी : अथवा वैयक्तिक बुराइयाँ।' सार्वजनिक लाभ।
2. **जाँ बातिस्त जोज़ेफ़ फुरिये**—फ्रांसीसी गणितज्ञ। बीजगणित तथा गणित भौतिकी के क्षेत्र में अनेक वैज्ञानिक खोजें की।
3. **बाव्योफ़ पंथ**—कल्पनाविलासवादी, समतावादी कम्युनिज़्म की एक क़िस्म, जिसके जन्मदाता 18वीं शताब्दी के क्रांतिकारी **ग्राक्ख बाव्योफ़** थे।

मातृभूमि यानी इंग्लैंड लौटा। बेंथम ने हेल्वेतियस की नैतिकता को **सही ढंग से समझे गये हित** की अपनी पद्धति का आधार बनाया था तथा **ओवेन** ने **बेंथम** की पद्धति को अपना आधार बनाकर आंग्ल कम्युनिज़्म की नींव रखी थी। इंग्लैंड में निर्वाचित **काबे** पर वहाँ के कम्युनिस्ट विचारों का ही प्रभाव पड़ा तथा फ्रांस लौटकर वह कम्युनिज़्म के सबसे लोकप्रिय—चाहे सतही ढंग के ही सही—प्रतिनिधि बने। ओवेन की तरह ही अधिक वैज्ञानिक फ्रांसीसी कम्युनिस्टों—देज़ामी, गेई आदि— ने **भौतिकवाद** की शिक्षा को **वास्तविक मानववाद** की शिक्षा तथा कम्युनिज़्म के तर्क-संगत आधार के रूप में विकसित किया था।

कार्ल मार्क्स

फ़ायरबाख़ पर निबंध[1]

1

अब तक के सारे भौतिकवाद की—जिसमें फ़ायरबाख़ का भौतिकवाद भी शामिल है की मुख्य त्रुटि यह है कि वस्तु, वास्तविकता तथा एंद्रियता को केवल **विषय या अनुध्यान** के रूप में कल्पित किया जाता है; न कि **मानव के इंद्रियगत क्रियाकलाप** व्यवहार के रूप में। इसका परिणाम यह हुआ कि **क्रियाशील पक्ष** भौतिकवाद द्वारा नहीं, बल्कि भाववाद द्वारा विकसित किया गया किन्तु मात्र अमूर्त रूप में। क्योंकि भाववाद वास्तविक इंद्रियगत क्रियाकलाप से सर्वथा अपरिचित है। फ़ायरबाख़ विचार-वस्तुओं से वास्तव में विभेदित इंद्रियगत वस्तुओं को चाहते हैं, पर वह स्वयं मानव-क्रियाकलाप को वस्तुनिष्ठ क्रियाकलाप के रूप में नहीं देखते। इसलिए अपनी पुस्तक 'ईसाई धर्म का सार' में वह सैद्धांतिक रुख़ को ही एकमात्र सच्चा मानवीय रुख मानते हैं, जबकि व्यवहार को प्रतीति का निकृष्ट प्रवंचक रूप ही मानते व सिद्ध करते हैं। इसीलिए वह **'क्रांतिकारी'** तथा व्यावहारिक-आलोचनात्मक क्रियाकलाप का महत्त्व नहीं समझ पाते।

2

यह प्रश्न, कि क्या वस्तुनिष्ठ सत्य को मानवीय चिंतन का सहज गुण माना जा सकता है, सैद्धांतिक नहीं बल्कि व्यावहारिक प्रश्न है। व्यवहार में मनुष्य को अपने चिंतन की सत्यता यानी यथार्थता एवं शक्ति, उसकी इहपक्षता को प्रमाणित करना पड़ता है। व्यवहार से पृथक रूप में चिंतन की यथार्थता अथवा अयथार्थता संबंधी विवाद कोरा वितंडावादी प्रश्न है।

---

1. फ़ायरबाख़ पर निबंध की रचना कार्ल मार्क्स ने 1845 के बसंत में ब्रुसेल्स में की थी। यह निबंध उनकी 1844-1847 की 'नोट-बुक' में शामिल है। सबसे पहले इसे एंगेल्स ने अपनी कृति 'लुडविग फ़ायरबाख़ और क्लासिकीय जर्मन दर्शन का अंत' में परिशिष्ट के रूप में शामिल किया था।

3

यह भौतिकवादी सिद्धांत कि मनुष्य परिस्थितियों तथा शिक्षा-दीक्षा की उपज हैं और इसलिए परिवर्तित मनुष्य भिन्न परिस्थितियों एवं भिन्न शिक्षा-दीक्षा की उपज हैं, इस बात को भुला देता है कि परिस्थितियों को मनुष्य ही बदलते हैं और स्वयं शिक्षक को शिक्षा ग्रहण करने की आवश्यकता होती है। अतः यह सिद्धांत अनिवार्यतः समाज को दो भागों में विभक्त कर देने के निष्कर्ष पर पहुँचता है— जिनमें से एक भाग समाज से ऊपर होता है (राबर्ट ओवेन का सिद्धांत इसका उदाहरण है)।

परिस्थितियों के परिवर्तन तथा मानवीय क्रियाकलाप का संयोग केवल **क्रांतिकारी व्यवहार** के रूप में ही विचारा तथा तर्कबुद्धि द्वारा समझा जा सकता है।

4

फ़ायरबाख़ धार्मिक आत्म-वियोजन— अर्थात् जगत के दो दुनियाओं : एक काल्पनिक, धार्मिक दुनिया तथा दूसरी : वास्तविक दुनिया में विभाजन के तथ्य से आरंभ करते हैं। उन्होंने काम यह किया कि इस धार्मिक जगत् को उसके लौकिक आधार में विलयित कर दिया। वह इस तथ्य को नज़रंदाज कर देते हैं कि उपरोक्त कार्य की पूर्ति के बाद मुख्य कार्य फिर भी अधूरा रह जाता है। इसलिए यह बात कि भौतिक आधार स्वयं को स्वयं से पृथक कर लेता है और जाकर आसमान में स्वयं को एक स्वतंत्र क्षेत्र के रूप में स्थापित कर लेता है, केवल इस लौकिक आधार के आत्म-विभाजन व आत्म-विरोध द्वारा ही समझी जा सकती है। अतः लौकिक आधार को पहले उसके अंतर्विरोध की अवस्था में समझा जाना चाहिए और फिर अंतर्विरोध को दूर करके उसे व्यवहार में क्रांतिकारी रूप दिया जाना चाहिए। मिसाल के तौर पर— एक बार यह सिद्ध हो जाने पर कि पवित्र परिवार की जड़ वास्तव में पार्थिव परिवार है, पार्थिव परिवार की सिद्धांततः आलोचना की जानी चाहिए और फिर व्यवहार में उसका क्रांतिकारी रूपांतरण किया जाना चाहिए।

5

अमूर्त चिंतन से असंतुष्ट फ़ायरबाख़ **एंद्रिय अनुध्यान** की शरण लेते हैं, पर वह एंद्रियता को **व्यावहारिक** मानवीय-एंद्रिय क्रिया के रूप में नहीं विचारते।

6

फ़ायरबाख़ धार्मिक सार-तत्त्व को मानवीय सार-तत्व में विघटित कर देते हैं। पर

मानवीय सार-तत्त्व कोई अमूर्त तत्त्व नहीं है जो प्रत्येक व्यक्ति में अंतर्निहित हो।

अपनी यथार्थता में वह सामाजिक संबंधों का समुच्चय है।

फ़ायरबाख़ जो इस यथार्थ सार-तत्त्व की समीक्षा नहीं करते, परिणामस्वरूप इस बात के लिए बाध्य होते हैं कि :-

1. ऐतिहासिक प्रक्रिया से अपकर्षित करके धार्मिक भावना को स्वयंस्थित वस्तु के रूप में प्रतिष्ठित करें और एक अमूर्त पृथक्कृत मानव व्यक्ति की पूर्व धारणा करें।
2. उनकी दृष्टि में मानवीय सार-तत्व केवल वंश की शक्ल में समझा जा सकता है, अर्थात् मूक अंतर्निहित सामान्यतया के रूप में जो केवल **प्रकृत्या** नाना व्यक्तियों को एक्यबद्ध कर देती है।

7

परिणामस्वरूप फ़ायरबाख़ यह नहीं देख पाते कि **धार्मिक भावना** स्वयं ही एक **सामाजिक उपज** है तथा जिस अमूर्त व्यक्ति का उन्होंने विश्लेषण किया है, वह वस्तुतः समाज की एक विशेष अवस्था (निश्चित रूप) का प्राणी है।

8

सामाजिक जीवन मूलतः **व्यावहारिक** है। सारे रहस्य, जो सिद्धांत को रहस्यवाद के ग़लत रास्ते पर भटका देते हैं, मानव व्यवहार में और इस व्यवहार के संज्ञान में अपना बुद्धिसंगत समाधान पाते हैं।

9

अनुध्यानवादी भौतिकवाद की अर्थात् उस भौतिकवाद की जो एंद्रियता को व्यावहारिक क्रियाकलाप नहीं मानता 'चरम उपलब्धि' नागरिक समाज में पृथक व्यक्तियों का अनुध्यान है।

10

पुराने भौतिकवाद का दृष्टि-बिन्दु **'नागरिक'** समाज़ है, नये भौतिकवाद का दृष्टि **बिंदु मानव** समाज या समाजीकृत मानव जाति है।

11

दार्शनिक ने विभिन्न विधियों से दुनिया की केवल **व्याख्या** ही की है, लेकिन प्रश्न दुनिया को **बदलने** का है।

✤ ✤

कार्ल मार्क्स—फ्रेडरिक एंगेल्स

जर्मन विचारधारा

(अध्याय 1 से)

.....अतः बात यह है कि निश्चित व्यक्ति, जो उत्पादकता की दृष्टि से निश्चित ढंग[1] से सक्रिय हैं, निश्चित सामाजिक तथा राजनीतिक संबंधों में प्रवेश करते हैं। इंद्रियानुभविक पर्यवेक्षण के लिए यह आवश्यक है कि वह हर अलग-अलग मामले में अनुभव के आधार पर तथा किसी रहस्यमयीकरण तथा परिकल्पना के बग़ैर उत्पादन के साथ सामाजिक एवं राजनीतिक संरचना के संबंध को सामने लाए। सामाजिक संरचना तथा राज्य निश्चित व्यक्तियों की जीवन-प्रक्रिया में से निरंतर विकसित होते आ रहे हैं, परन्तु उस तरह के व्यक्तियों की जीवन-प्रक्रिया से नहीं जिस तरह वे अपनी या दूसरे लोगों की कल्पना में प्रकट हो सकते हैं परन्तु जिस तरह वे **सचमुच** हैं अर्थात् जिस तरह वे काम करते हैं, भौतिक रूप से उत्पादन करते हैं और इस कारण वे उन निश्चित सीमाओं, पूर्व मान्यताओं तथा अवस्थाओं के अंतर्गत काम करते हैं जो उनकी इच्छाशक्ति से स्वतंत्र हैं।[2]

विचारों की, संप्रत्ययनों (अवधारणाओं), चेतना की रचना (उत्पादन) आरंभ में लोगों के भौतिक कार्यकलाप तथा भौतिक संसर्ग, वास्तविक जीवन की भाषा से प्रत्यक्षतया

1. मूल रूप : उत्पादन के निश्चित संबंधों के अंतर्गत निश्चित व्यक्ति।—संपा.
2. पांडुलिपि में निम्नलिखित अंश को काट दिया गया है :
   'ये व्यक्ति जो विचार बनाते हैं वे या तो प्रकृति के साथ उनके संबंधों के बारे में होते हैं अथवा उनके पारस्परिक संबंधों के बारे में या फिर स्वयं की प्रकृति के बारे में। यह सुस्पष्ट है कि इन तमाम मामलों में उनके विचार अपने वास्तविक संबंधों तथा कार्यकलाप की, अपने उत्पादन, परस्पर व्यवहार तथा अपने सामाजिक व राजनीतिक संगठन की सचेत अभिव्यक्ति—वास्तविक या काल्पनिक—होते हैं। विपरीत पूर्वधारणा तभी संभव है जब वास्तविक भौतिक रूप से विकसित व्यक्तियों की छवि के अलावा किसी पृथक छवि की पूर्वकल्पना की जाए। यदि इन व्यक्तियों के संबंधों की सचेत अभिव्यक्ति काल्पनिक है, यदि अपनी कल्पना में वे वास्तविकता को उलट देते हैं तो फिर यह अपनी बारी में कार्यकलाप की उनकी सीमित भौतिक विधि का तथा उससे उत्पन्न होने वाले उनके सीमित सामाजिक संबंधों का परिणाम है।

गुँथी हुई होती है। लोगों की परिकल्पना, चिन्तन तथा मानसिक संसर्ग इस अवस्था (मंज़िल) में उनके भौतिक आचरण के प्रत्यक्ष परिणाम के रूप में प्रकट होते हैं। यही बात लागू होती है मानसिक सर्जना पर उस रूप में जिस रूप में वह किसी जनगण की राजनीति, क़ानूनों, नैतिकता, धर्म, तत्त्व–मीमांसा आदि की भाषा में व्यक्त होती है। अपने संप्रत्ययनों, विचारों आदि के सृजनकर्त्ता होते हैं मनुष्य—वास्तविक, सक्रिय मनुष्य उस रूप में जिस रूप में वे अपनी उत्पादक शक्तियों के तथा इसके समरूप संसर्ग के निश्चित विकास द्वारा उसके सुदूरतम रूपों तक अनुकूलित होते हैं।[1] चेतना सचेत अस्तित्व के अलावा और कुछ हो ही नहीं सकती तथा मनुष्यों का अस्तित्व उनकी वास्तविक जीवन–प्रक्रिया होता है। यदि समग्र विचारधारा में मनुष्य तथा उसके संबंध Camera obscura (बक्सानुमा कैमरा जिसमें उलटी छवि उभरती है) की तरह उलटे नज़र आते हैं तो यह घटना उनकी जीवन–प्रक्रिया से उसी तरह उत्पन्न होती है जिस तरह चक्षु पटल पर वस्तुओं का प्रतिलोभन उनकी शारीरिक जीवन–प्रक्रिया के कारण होता है।

जर्मन दर्शन, जो स्वर्ग से पृथ्वी पर उतरता है, के ठीक विपरीत यहाँ हम पृथ्वी से स्वर्ग पर आरोहण करते हैं। कहने का मतलब यह है कि मनुष्य जो कहते हैं, कल्पना करते हैं, अनुमान लगाते हैं हम उसे आधार बनाकर अग्रसर नहीं होते और न हम लोगों को उस रूप में आधार बनाकर अग्रसर होते हैं जिस रूप में उनका वर्णन किया जाता है, उनके बारे में सोचा जाता है, उनकी कल्पना की जाती है, उनके बारे में अनुमान लगाया जाता है ताकि वास्तविक मनुष्यों तक पहुँचा जा सके। हम तो वास्तविक, सक्रिय मनुष्यों को आधार बनाकर अग्रसर होते हैं तथा उनकी जीवन–प्रक्रिया के आधार पर हम इस जीवन–प्रक्रिया के वैचारिक प्रतिवर्तों तथा प्रतिध्वनियों को प्रदर्शित करते हैं। मानव–मस्तिष्क में बनने वाले छायाभास भी अनिवार्यतः उस जीवन–प्रक्रिया के पदार्थ हैं, जो अनुभव द्वारा परखी जा सकती है और जो भौतिक पूर्वाधारों से संबद्ध है। इस तरह नैतिकता, धर्म, तत्त्वमीमांसा, शेष समस्त विचारधारा तथा चेतना के उनके तद्नुरूपी रूप स्वतंत्र नहीं हो सकते। उनका कोई इतिहास, कोई विकास नहीं होता। परन्तु मनुष्य अपने भौतिक उत्पादन तथा अपने भौतिक संघर्ष का विकास करते हुए अपने इस वास्तविक अस्तित्व के साथ अपने चिन्तन तथा अपने चिन्तन के परिणामों को भी बदलते हैं। जीवन चेतना द्वारा निर्धारित नहीं होता अपितु चेतना जीवन द्वारा निर्धारित होती है। निरीक्षण की पहली विधि में प्रस्थान बिंदु है— सजीव व्यक्ति के रूप में चेतना;

---

1. **मूल रूप** : अपने संप्रत्ययनों, विचारों आदि के सृजनकर्त्ता होते हैं मनुष्य और ठीक मनुष्य ही जो अपने भौतिक जीवन के उत्पादन की विधि, अपने भौतिक संसर्ग तथा सामाजिक एवं राजनीतिक संरचना में उसके और आगे विकास द्वारा अनुकूलित होते हैं।

दूसरी विधि में, जो वास्तविक जीवन के अनुरूप है यह स्वयं वास्तविक, सजीव मनुष्य ही हैं तथा चेतना को उनकी चेतना मात्र माना जाता है।

अतएव चेतना आरम्भ से ही एक सामाजिक उपज होती है और वह तब तक ऐसी बनी रहती है जब तक मनुष्यों का अस्तित्व बना रहता है। निस्संदेह चेतना शुरू में तात्कालिक इंद्रियग्राह्य परिवेश से सरोकार रखने वाली चेतना मात्र होती है तथा अन्य व्यक्तियों व आत्म-चेतना विकसित करने वाले व्यक्तियों के बहिर्गत वस्तुओं के साथ सीमित संबंध की चेतना होती है। साथ ही यह प्रकृति की चेतना है, जो आरम्भ में मनुष्यों के सामने सर्वथा विजातीय, सर्वशक्तिशाली, अप्रतिवादनीय शक्ति के रूप में प्रकट होती है, जिसके साथ मनुष्यों के संबंध विशुद्ध रूप से पशु-सदृश होते हैं तथा जिससे वे पशुओं की तरह भयभीत रहते हैं : यह प्रकृति की विशुद्ध पशुवत् चेतना है (प्राकृतिक धर्म)।

यहाँ हमें तुरन्त यह दिखाई देता है : यह प्राकृतिक धर्म अथवा प्रकृति के साथ मनुष्यों का यह विशेष संबंध समाज के रूप द्वारा निर्धारित होता है तथा समाज का रूप प्राकृतिक धर्म द्वारा निर्धारित होता है। जैसा कि हर जगह होता है, यहाँ भी प्रकृति तथा मनुष्य का तादात्म्य इस रूप में प्रकट होता है कि प्रकृति के साथ मनुष्य का सीमित संबंध एक-दूसरे के साथ उनके सीमित संबंध को निर्धारित करता है तथा एक-दूसरे के साथ उनका सीमित संबंध प्रकृति के साथ उनके सीमित संबंध को निर्धारित करता है, ठीक इसीलिए कि प्रकृति में ऐतिहासिक दृष्टि से अभी तक कोई ख़ास परिवर्तन नहीं हो पाया है और दूसरी ओर, अपने इर्द-गिर्द के व्यक्तियों के साथ संसर्ग की आवश्यकता की मनुष्य की चेतना इस चेतना की शुरुआत है कि वह समाज में ही रह रहा है। यह शुरुआत उतनी ही पशु-सदृश है जितना कि इस अवस्था में सामाजिक जीवन स्वयं है। यह तो झुण्ड की चेतना मात्र है तथा इस पड़ाव पर मनुष्य को भेड़ से केवल यह तथ्य ही अलग करता है कि उसमें चेतना सहजवृत्ति का स्थान ले लेती है अथवा यह कि उसकी सहजवृत्ति सचेतन है। यह भेड़ तुल्य या क़बायली चेतना उत्पादकता में वृद्धि, आवश्यकताओं की वृद्धि तथा आबादी की वृद्धि (जो पहले दोनों के लिए आधारभूत है) के साथ-साथ विकसित तथा विस्तारित होती है। इनके साथ विकसित होता है— श्रम का विभाजन जो आरम्भ में यौन क्रिया में श्रम के विभाजन के अलावा और कुछ नहीं था और उसके बाद श्रम का वह विभाजन प्राकृतिक पूर्वानुकूलता (उदाहरण के लिए शारीरिक शक्ति), आवश्यकताओं, आकस्मिकताओं आदि के कारण स्वतःस्फूर्त रूप से या स्वाभाविक रूप से विकसित होता है। श्रम का विभाजन सही अर्थों में उसी क्षण से ऐसा बनता है जिस क्षण से

भौतिक तथा मानसिक श्रम का विभाजन प्रकट होता है।[1] इस क्षण के उपरान्त चेतना इस बात पर सन्तोष प्रकट कर सकती है कि वह मौजूद व्यवहार की चेतना के अलावा कुछ और भी है, कि वह **सचमुच** किसी यथार्थ का प्रतिनिधित्व किए बग़ैर किसी चीज़ का वास्तव में प्रतिनिधित्व करती है। इसके बाद से चेतना स्वयं को जगत् से छुटकारा दिलाने तथा शुद्ध सिद्धांत, धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र, आचार शास्त्र आदि की संरचना की ओर अग्रसर होने की स्थिति में होती है। किन्तु यदि इस सिद्धांत, धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र, आचार शास्त्र आदि का मौजूदा संबंधों से विरोध भी हो जाता है तो यह केवल इसी वजह से होता है कि मौजूदा सामाजिक तथा उत्पादन की सामाजिक शक्तियों के बीच विरोध उत्पन्न हो चुका होता है। इसके अलावा संबंधों के किसी ख़ास जातीय क्षेत्र में—जातीय घेरे के बीच में नहीं बल्कि इस जातीय चेतना तथा अन्य जातियों के व्यवहार के बीच[2] अर्थात् किसी जाति की जातीय तथा आम चेतना के बीच विरोध प्रकट होने के (जैसा हमें जर्मनी में दिखाई पड़ता है) माध्यम से भी ऐसा हो सकता है; परन्तु यह विरोध चूँकि जातीय चेतना के अन्तर्गत विरोध के रूप में ही विद्यमान प्रतीत होता है, इसलिए इस जाति को यह लग सकता है कि संघर्ष भी इस जातीय कूड़ा-करकट तक ही सीमित है।

प्रसंगवश यह बात एकदम बेमानी है कि चेतना अपने आप क्या करना शुरू कर देती है। इस सारे कूड़ा-करकट से हमें केवल यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि ये तीन कारक-उत्पादन की शक्तियाँ, समाज की अवस्था तथा चेतना—एक-दूसरे के विरोध में खड़े हो सकते हैं तथा यह विरोध अवश्यंभावी भी है; क्योंकि श्रम-विभाजन का अर्थ यह संभावना ही नहीं बल्कि यह तथ्य भी है कि बौद्धिक तथा भौतिक क्रिया[3], आनंदोपभोग तथा श्रम, उत्पादन तथा ख़पत—भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के ज़िम्मे आती है। इसका अर्थ यह है कि उनके एक-दूसरे के विरोध में खड़े न होने की संभावना अपनी बारी में श्रम-विभाजन के ख़त्म हो जाने में ही निहित है। यह स्वतः स्पष्ट है कि 'प्रेतात्माएँ', 'बन्धन', 'परमात्मा', 'संप्रत्यय', 'नैतिक संकोच' ज़ाहिरा तौर पर अलग-अलग पड़े व्यक्ति की भाववादी आत्मिक अभिव्यक्ति, संप्रत्यायन मात्र हैं, ठीक उन इंद्रियगोचर बेड़ियों तथा सीमाओं की छवि हैं जिनके भीतर जीवन की उत्पादन-विधि तथा उससे संलग्न संसर्ग का रूप अग्रसर होते हैं।

---

1. (हाशिये पर मार्क्स की टिप्पणी) : सिद्धांतकारों का पहला रूप, 'पुजारी' समवर्ती है।
2. (हाशिये पर मार्क्स की टिप्पणी) : धर्म। जर्मन तथा उसी रूप में विचारधारा।
3. (हाशिये पर मार्क्स की टिप्पणी पर काटे का निशान लगा है) : कार्यकलाप तथा चिन्तन अर्थात् चिंतन से वंचित कार्यकलाप तथा निष्क्रिय चिंतन।

इतिहास का यह संप्रत्ययन स्वयं जीवन के भौतिक उत्पादन से शुरू होकर उत्पादन की वास्तविक प्रक्रिया की व्याख्या करने और इससे जुड़े तथा उत्पादन की इस विधि द्वारा रचित संसर्ग के रूप को (यानी नागरिक समाज की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में) सारे इतिहास के आधार के रूप में समझने तथा राज्य के रूप में नागरिक समाज के कार्य व्यापार को दिखाने, चेतना की समस्त भिन्न-भिन्न उपजों तथा रूपों—धर्म, दर्शनशास्त्र, आचारशास्त्र आदि पर—प्रकाश डालने तथा उस आधार पर उनके स्रोतों तथा विकास का पता लगाने की हमारी योग्यता व सामर्थ्य पर निर्भर करता है। इस तरह से निःसंदेह पूरी प्रक्रिया को उसकी समग्रता में (और इसलिए इन विविध पहलुओं की अन्योन्य क्रिया को भी) चित्रित किया जा सकता है। इतिहास के इस दृष्टिकोण को भाववादी दृष्टि के विपरीत हर काल में प्रवर्ग की तलाश नहीं करनी पड़ती, वह तो इतिहास के वास्तविक आधार पर बराबर क़ायम रहता है; वह विचारों से व्यवहार पर प्रकाश नहीं डालता, बल्कि भौतिक व्यवहार से विचारों की संरचना पर प्रकाश डालता है और तदनुसार इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि चेतना के समस्त रूपों तथा उपजों को बौद्धिक आलोचना से 'आत्म-चेतना' के अन्दर विलयन से अथवा 'भूत-प्रेतों', 'बेतालों', 'मनोभावों'[1] आदि के रूपांतरण से नहीं बल्कि उन वास्तविक सामाजिक संबंधों को व्यवहारतः ख़त्म करके ही विघटित किया जा सकता है; जिन्होंने कि इन वाहियात भाववादी बातों को जन्म दिया है कि इतिहास की (धर्म, दर्शनशास्त्र तथा सिद्धांत की तमाम क़िस्मों की भी) प्रेरकशक्ति आलोचना नहीं, वरन् क्रांति है। इससे पता चलता है कि इतिहास 'आत्मा की आत्मा'[2] की तरह आत्म-चेतना में विलयित होकर ख़त्म नहीं होता, बल्कि यह कि उसके अन्दर प्रत्येक अवस्था में एक भौतिक परिणाम प्रकट होता है, जिसे इस रूप में रखा जा सकता है— उत्पादक शक्तियों का योगफल, प्रकृति के साथ व्यक्तियों का तथा उनका एक-दूसरे के साथ ऐतिहासिक रूप से निर्मित संबंध जिसे हर पीढ़ी अपनी पूर्ववर्ती पीढ़ी से प्राप्त करती है; उत्पादक शक्ति समूह, पूँजी कोषों तथा परिस्थितियों का योगफल एक ओर निस्संदेह नई पीढ़ी द्वारा परिवर्तित-संशोधित किया जाता है, परन्तु दूसरी ओर वह उसके लिए जीवन की शर्तें निर्धारित करता है तथा उसे एक निश्चित विकास, एक निश्चित स्वरूप प्रदान करता है। वह बताता है कि परिस्थितियाँ मनुष्यों को निर्मित करती हैं, ठीक वैसे ही जैसे मनुष्य परिस्थितियों को निर्मित करते हैं।

उत्पादक शक्तियों, पूँजी कोषों तथा संसर्ग के सामाजिक रूपों का यह योगफल, जिसे हर व्यक्ति तथा पीढ़ी किसी प्रदत्त वस्तु के रूप में अस्तित्वमान पाती है, उस चीज़ का

1. ये शब्द मार्क्स स्टर्नर की पुस्तक 'अनुपम तथा उसकी संपत्ति' से लिये गये हैं।
2. ब्रूनो बावेर के शब्द।—सम्पा.

वास्तविक आधार है जिसे दार्शनिकों ने 'तत्त्व' तथा 'मनुष्य के सार-तत्त्व' के रूप में परिकल्पित किया है, जिसे उन्होंने देवत्व प्रदान किया है तथा जिस पर उन्होंने प्रहार भी किए हैं। यह वास्तविक आधार है जिसे मनुष्यों के विकास पर उसके प्रभाव की दृष्टि से इस तथ्य से लेशमात्र भी ठेस नहीं पहुँचती कि ये दार्शनिक 'आत्म-चेतना' तथा 'अनुपम' के रूप में उसके विरुद्ध विद्रोह करते हैं। जीवन की ये अवस्थाएँ, जिन्हें भिन्न-भिन्न पीढ़ियाँ अस्तित्व में पाती हैं, यह भी तय करती हैं कि समय-समय पर होने वाली क्रांतिकारी उथल-पुथलों में समूची मौजूदा व्यवस्था का मूलोच्छेदन करने लायक़ शक्ति होगी या नहीं और यदि संपूर्ण क्रांति के ये भौतिक तत्त्व विद्यमान नहीं हैं (यानी एक ओर मौजूदा उत्पादक शक्तियाँ तथा दूसरी ओर ऐसे क्रांतिकारी समूह का गठन, जो समाज की अब तक की पृथक-पृथक अवस्थाओं के खिलाफ़ ही नहीं, बल्कि तब तक के 'जीवन के उत्पादन' के ही ख़िलाफ़ उस समय कार्यकलाप के ख़िलाफ़, जिस पर वह आधारित है, विद्रोह करता है), तो जैसा कि कम्युनिज़्म का इतिहास इसे सिद्ध करता है, व्यावहारिक विकास के लिए इस बात का क़तई कोई अर्थ नहीं होता कि इस क्रांति का **विचार** पहले ही सौ बार व्यक्त किया जा चुका है।

वर्तमान काल तक इतिहास के संपूर्ण संप्रत्ययन में इतिहास के इस वास्तविक आधार को या तो पूरी तरह उपेक्षित किया गया अथवा गौण चीज़, यानी इतिहास की धारा के लिए एकदम अप्रासंगिक माना गया। इसलिए इतिहास हमेशा एक असंगत प्रतिमान के अनुरूप लिखा जाता रहा। जीवन का वास्तविक उत्पादन प्रागैतिहासिक प्रतीत होता था, जबकि जो वास्तविक रूप से ऐतिहासिक है, वह सामान्य जीवन से पृथक किया हुआ तथा किसी अन्य लोक की चीज़ प्रतीत होता था। इस तरह प्रकृति से मनुष्य के संबंध को इतिहास से बाहर कर दिया जाता है तथा प्रकृति एवं इतिहास की प्रतिपक्षता क़ायम कर दी जाती है। फलस्वरूप इस संप्रत्ययन के प्रतिपादक इतिहास में केवल राजाओं तथा राज्यों की राजनीतिक कार्यवाइयों, धार्मिक तथा सब तरह के संघर्षों को ही देख पाए हैं तथा उन्हें विशेष रूप से उस (प्रत्येक) **ऐतिहासिक युग के भ्रमों में** सहभागिता निभाने को विवश होना पड़ा है। उदाहरण के लिए, यदि कोई युग अपने को विशुद्ध 'राजनीतिक' या 'धार्मिक उद्देश्यों से चालित माने—हालाँकि 'राजनीति' तथा 'धर्म' उसके वास्तविक उद्देश्यों के रूप मात्र होते हैं—तो इतिहासकार इस राय को स्वीकार कर लेता है। अपने वास्तविक व्यवहार के बारे में संबंधित लोगों के 'भाव', 'संप्रत्ययन' को एक मात्र निर्धारक, सक्रिय शक्ति में रूपांतरित कर दिया जाता है, जो उनके व्यवहार को निर्धारित तथा नियंत्रित करती है। जब वह आदिकालीन रूप, जिसमें भारतीयों तथा मिस्रवासियों के बीच श्रम-विभाजन प्रकट होता है, उनके राज्य तथा धर्म में जात-पाँत को जन्म देता है, तो इतिहासकार यह विश्वास कर बैठता है कि जात-पाँत व्यवस्था ही वह

शक्ति है जिसने इस आदिकालीन सामाजिक रूप को जन्म दिया है।

जबकि फ्रांसीसी तथा अंग्रेज़ कम-से-कम उस राजनीतिक भ्रम, जो भावार्थ के कुछ-कुछ समीप होता है, को तो पाले रहते हैं, जर्मन 'विशुद्ध आत्मा' के जगत् में विचरण करते हैं तथा धार्मिक भ्रम को इतिहास की प्रेरक शक्ति बना देते हैं। इतिहास का हेगेलीय दर्शन उस सारे जर्मन इतिहास-लेखन का अंतिम, 'सर्वोत्तम अभिव्यक्ति ' तक पहुँचाया गया परिणाम है, जिसके लिए प्रश्न वास्तविक हितों, यहाँ तक कि राजनीतिक हितों का भी नहीं है, बल्कि विशुद्ध विचारों का है, जो तदनुसार संत ब्रूनो को ऐसे 'विचारों' की शृंखला प्रतीत होता है जो एक-दूसरे को हड़प लेते हैं और जो अंततः आत्म-चेतना में विलीन हो जाते हैं;[1] इतिहास की धारा इससे भी ज़्यादा सुसंगत रूप में स्वनाम-धन्य माक्स स्टर्नर को प्रतीत होती है, जिन्हें वास्तविक इतिहास का रत्तीभर भी ज्ञान नहीं है, जिन्हें ऐतिहासिक प्रक्रिया 'सूरमाओं', डाकुओं तथा भूत-प्रेतों का क़िस्सा मात्र लगती है, जिनकी छायाओं से वह अपनी रक्षा मात्र 'असाधुता' से ही कर सकते हैं। यह संप्रत्ययन सही अर्थों में धार्मिक है : धार्मिक मनुष्य को प्राथमिक (आदिम) मनुष्य के रूप में, इतिहास के समारंभ बिन्दु के रूप में अभिकल्पित करता है तथा जीवन-निर्वाह के साधनों एवं स्वयं जीवन के वास्तविक उत्पादन के स्थान पर वह अपने मन में स्वच्छंद कल्पनाओं के धार्मिक सृजन को बिठा देता है।

इतिहास का यह संपूर्ण संप्रत्ययन अपने विघटन तथा उससे उद्‌भूत नैतिक संकोच व मनस्तापों समेत जर्मनों का विशुद्ध जातीय मामला है, जो उनके लिए मात्र स्थानीय महत्व की चीज़ है; जैसे यह महत्वपूर्ण प्रश्न जिस पर पिछले दिनों अनेक बार बहस हुई है कि हम वस्तुतः कैसे 'ईश्वर के जगत् से मनुष्य के जगत् में पहुँचते हैं'— जैसे ईश्वर के जगत कल्पना के बाहर कभी भी कहीं और विद्यमान रहा हो, यथा विद्वज्जन अनजाने ही, 'मनुष्य के जगत्' में निरंतर नहीं रहते आए, जहाँ पहुँचने का अब वे रास्ता ढूँढ रहे हैं और मानो इस सैद्धांतिक बुलबुले को उड़ाने का रहस्य समझाने का विद्वज्जनीय 'मनबहलाव ' (क्योंकि यह इससे ज़्यादा और कुछ है भी नहीं), इसके विपरीत इसके मूल को वास्तविक पार्थिव परिस्थितियों में दिखाने में निहित न रहा हो। ये जर्मन हमेशा पूर्ववती लेखकों की निरर्थक (मूर्खतापूर्ण) बात को किसी अन्य अनोखी बात में बदलने में, यानी इस बात को मानकर चलने में व्यस्त हैं कि ज़रूर इस सारी सैद्धांतिक बात को मौजूदा परिस्थितियों के माध्यम से समझाने का प्रश्न भर है। इन जुमलों को वास्तविक, व्यावहारिक रूप से मिटाने, मनुष्यों की चेतना से इस धारणाओं को

---

1. (हाशिये पर मार्क्स की टिप्पणी) : तथाकथित वस्तुपरक इतिहास-लेखन का अर्थ ऐतिहासिक अवस्थाओं को क्रियाकलाप के बाहर निरूपित करने में ही निहित है। प्रतिक्रियावादी स्वरूप।

हटाने का काम, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, परिवर्तित परिस्थितियाँ करेंगी, सैद्धांतिक निगमन नहीं। जन-समूह के लिए अर्थात् सर्वहारा के लिए इन सैद्धांतिक संप्रत्ययनों का अस्तित्व ही नहीं है, अतः उनके लिए इन्हें मिटाने की ज़रूरत भी नहीं है और यदि इस समूह की कभी कोई सैद्धांतिक धारणाएँ — धर्म आदि — रही भी हों, तो उन्हें परिस्थितियाँ बहुत पहले ही मिटा चुकी हैं।

❖ ❖

कार्ल मार्क्स

राइने ब्योबाख़्तर[1] का कम्युनिज़्म

(अंश)

..... परिषद सलाहकार आयकर के अलावा कम्युनिज़्म (जैसा वह इसे समझते हैं) लागू करने का एक और तरीक़ा जानते हैं :

''ईसाई धर्म की आस्था का आदि व अन्त क्या है? मूल पाप तथा उद्धार सम्बन्धी धर्म-सिद्धांत और इसमें मानव जाति की संघबद्ध एकजुटता की चरम सम्भावनाएँ निहित हैं : **— एक सबके लिए तथा सब एक के लिए।''**

धन्य हैं ये लोग ! मूलभूत प्रश्न का सदा-सर्वदा के लिए समाधान कर दिया ! प्रशियाई गरुड़ तथा पवित्र आत्मा के दोहरे डैनों के नीचे सर्वहारा को दो अक्षय जीवन-स्रोत मिलेंगे : एक राज्य की साधारण व असाधारण ज़रूरतों की पूर्ति के बाद आयकर से बची अतिरिक्त राशि, जो वास्तव में शून्य से अधिक नहीं होगी; दो मूल पाप तथा उद्धार के स्वर्गीय साम्राज्य से प्राप्त धनराशि जो भी शून्य के बराबर होगी। तो ये दोनों शून्य मिलकर एक-तिहाई उन लोगों—जिनके पास अस्तित्व का कोई आधार नहीं है—भव्य आधार प्रस्तुत करेंगी तथा एक-तिहाई लोगों को—जो पतन की ओर अग्रसर हैं— शक्तिशाली समर्थन प्रदान करेंगी। काल्पनिक अधिशेष राशियाँ, मूल पाप तथा उद्धार मिलकर निश्चय ही उदारवादी जन-प्रतिनिधियों के लम्बे-लम्बे भाषणों से भिन्न तरीक़े से लोगों की भूख को शांत कर देंगे। आगे कहा गया है:

''ईश्वर की प्रार्थना में हम भी अपना स्वर मिलाकर प्रार्थना करते हैं 'हमें प्रलोभन के जाल में फँसने मत दो ' और जिस चीज़ की याचना हम स्वयं के लिए करते हैं, उसे हमें मानव परिवार के अन्य सदस्यों के सम्बन्ध में तो व्यवहार में लाना ही चाहिए। हमारी सामाजिक परिस्थितियाँ निस्सन्देह मनुष्य को लुभाती हैं तथा अतिशय दरिद्रता उसे अपराध की ओर प्रवृत्त

1. रूढ़िवादी दैनिक समाचार-पत्र जो 1844 में शुरू होकर 1848 के शुरू के दिनों तक कोलोन से प्रकाशित होता रहा।

करती है।''

और सज्जनों सुनो ! हम प्रशियाई राज्य के नौकरशाह, न्यायाधीश तथा परिषदों के सलाहकार इसी विचार का अनुपालन करते हैं जब हम लोगों पर शिकंजा कसवाकर उनका कचूमर निकलवा देते हैं, उनके सिर उड़वा देते हैं, उन्हें जेल में बंद करवाकर उन पर भी जी भरकर कोड़े बरसवाते हैं; सिर्फ़ इसलिए कि इस तरह हम सर्वहारा को 'प्रलोभन' के जाल में फँसा दें—बाद में हम पर शिकंजा कसवाकर हमारा कचूमर निकाल देने, हमारे धड़ों से सिर अलग करवा देने तथा जेल में बंद करवाकर हम पर कोड़े बरसाने के प्रलोभन के जाल में। ऐसा हुए बिना नहीं रहेगा।

परिषद-सलाहकार घोषणा करते हैं : ''ईसाई राज्य को इस तरह के हालात को सहन नहीं करना चाहिए। उसे इनका निवारण करना चाहिए।''

क्यों नहीं? और यह निवारण होगा समाज के एकजुटता दायित्वों के बारे में बेतुकी दर्पोक्तियों (डींगबाज़ी), काल्पनिक अंतिरिक्त धनराशियों तथा पिता (ईश्वर), पुत्र (ईसा) तथा कम्पनी के नाम अस्वीकार्य हुण्डियों के माध्यम से !

चौकस परिषद-सलाहकार महोदय की राय में : ''हम कम्युनिज़्म की उबाऊ चर्चा से स्वयं को बचा सकते हैं; यदि वे सब जो इसके योग्य हैं— ईसाई धर्म के सामाजिक सिद्धांतों को विकसित करें तो कम्युनिस्ट जल्दी ही ठण्डे पड़ जाएंगे।''

ईसाई धर्म के सामाजिक सिद्धांतों के विकास की प्रक्रिया अब अठारह सौ वर्ष पुरानी हो चुकी है तथा वह प्रशियाई परिषद-सलाहकारों द्वारा विकसित किये जाने की मोहताज नहीं है।

ईसाई धर्म के सामाजिक सिद्धांतों में प्राचीन काल की दासता का औचित्य मिलता है, मध्य युगों की कृषि दास-व्यवस्था का गौरव-गान सुनायी पड़ता है तथा इनमें इतनी सामर्थ्य है कि जरूरत पड़ने पर सर्वहारा के उत्पीड़न को भी—चाहे चेहरे पर दुख व विषाद की अभिव्यक्तियाँ उभारकर—सही ठहरा सकें।

ईसाई धर्म के सामाजिक सिद्धांत शासक वर्ग तथा उत्पीड़ित वर्ग के बने रहने की आवश्यकता को प्रतिपादित-प्रचारित करते हैं तथा बाद वाले वर्ग को देने के लिए उनके पास सिर्फ़ यह पवित्र कामना है कि पहला वर्ग उदार व दयालु हो सके।

ईसाई धर्म के सामाजिक सिद्धांत यह बताते हैं कि परिषद-सलाहकार की दुष्टताओं का हर्ज़ाना स्वर्ग में मिलेगा और ऐसा कहकर इस लोक में तमाम दुष्टताओं के जारी रहने को उचित पाते हैं।

ईसाई धर्म के सामाजिक सिद्धांत–शोषितों के विरुद्ध शोषकों की तमाम कार्यवाइयों को या तो मूल पाप तथा अन्य पापों की सज़ा अथवा ईश्वर द्वारा अपने असीम विवेक के तहत आदेशित परीक्षा घोषित करते हैं— ऐसी परीक्षा जिसमें खरा साबित होने पर उद्धार सुनिश्चित है।

ईसाई धर्म के सामाजिक सिद्धांत कायरता, आत्म–ग्लानि, अधोगति, दब्बूपन तथा विनम्रता— संक्षेप में— कुली–कबाड़ी वर्ग के समस्त गुणों व विशेषताओं का प्रतिपादन व प्रचार करते हैं। सर्वहारा, जो अपने–आपको कुली–कबाड़ी वर्ग के रूप में देखा जाना बर्दाश्त नहीं करेगा, को रोटी से भी ज़्यादा ज़रूरत है साहस की, आत्म–विश्वास की, गर्व की तथा स्वतंत्रता–बोध की।

ईसाई धर्म के सामाजिक सिद्धांत नज़र–चोर व पाखंडी हैं, जबकि सर्वहारा क्रांतिकारी है:

बस, ईसाई धर्म के सामाजिक सिद्धांतों के बारे में इतना ही पर्याप्त होगा!

आगे कहा गया है:

"हमने समाज–सुधार को राजतंत्र की सर्वाधिक विशिष्ट वृत्ति माना है।"

सच? अभी तक इसके बारे में (उक्त लेख में) एक शब्द भी नहीं कहा गया है। फिर भी इस प्रस्थापना को बना रहने दें। राजतंत्र का समाज–सुधार किसमें निहित है? क्या उदारवादी प्रेस से चुराये गये आयकर क़ानूनों के क्रियान्वयन में, जिनसे अकाल–प्रसूत भू–वार्षिक भृत्ति बैंकों में, प्रशियाई पूर्वी रेलवे में तथा ख़ास तौर से मूल पाप व उद्धार की विशाल पूँजी से प्राप्त मुनाफ़ों से अतिरिक्त राशियाँ (जिनके बारे में वित्त मंत्री की समझ शून्य है) जमा होंगी?

"स्वयं राजतंत्र का हित इस कार्य (समाज–सुधार) को उचित बना देता है"—इसी से ज़ाहिर है कि राजतंत्र का कितना पतन हो चुका है!

"विपत्ति में फँसा समाज इसकी माँग करता है"— फिलवक़्त तो यह धर्म–सिद्धांतों से कहीं अधिक संरक्षात्मक प्रथाओं की माँग कर रहा है।

"धर्म–ग्रंथ इसे उपयुक्त मानता है"— कुल मिलाकर सब कुछ ही इसे उपयुक्त मानता है, यदि नहीं तो केवल प्रशियाई राज्य कोष की दहलाने व आतंकित करने वाली निराशाजनक स्थिति। यह अगाध गर्त अगले तीन वर्षों में डेढ़ करोड़ रूसी रूबलों को लील चुका होगा जो वहाँ से कभी निकलकर बाहर नहीं आ पाएँगे। धर्मग्रंथ इसके अलावा और कई चीज़ों को उपयुक्त व आवश्यक मानता है, जिनमें अन्य के अलावा स्वयं से समाज–सुधार की शुरुआत करने के रूप में नपुंसकीकरण (बंध्यकरण) की सिफ़ारिश की गयी है। **(मैथ्यू 19:12)**।

परिषद–सलाहकार यह घोषित करते हैं कि ''राजतंत्र जनता के साथ (एकाकार) है।''

यह घोषणा उसी पुरानी उक्ति 'मैं राज्य हूँ' (लुई चौदहवें का कथन) की नये रूप में अभिव्यक्ति है तथा इसमें विद्रोहियों को लुई चौदहवें द्वारा 23 जून, 1789 को दी गयी चेतावनी 'यदि तुम मेरा हुकुम नहीं मानोगे तो मैं तुम्हें वापस घर भिजवा दूँगा'— ही ध्वनित होती है, जिसके पीछे 'केवल मैं ही अपनी जनता की ख़ुशी क़ायम करूँगा' वाला भाव है।

राजतंत्र यदि इस सूत्र का इस्तेमाल करने का निश्चय करता है तो जाहिर है वह दबाव व विवशता में ही ऐसा करेगा, और हमारे विद्वान परिषद–सलाहकार निश्चय ही यह जानते हैं कि फ्रांसीसी जनता ने उस मौक़े पर इस सूत्र के इस्तेमाल का क्या जवाब दिया था।

श्रीमान् परिषद–सलाहकार हमें आश्वस्त करते हुए आगे कहते हैं : ''राज–सिंहासन का व्यापक आधार जनता होनी चाहिए, उस पर यह आराम से टिका रहता है।''

यानी तब तक तो टिका रह ही सकता है जबतक कि जनता के वे मज़बूत कंधे एक ताक़तवर झटके के साथ इस बोझबनी अधिरचना को गंदी नाली (गटर) में फेंक न दें।

श्रीमान् परिषद–सलाहकार इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं : ''कुलीनतंत्र राजतंत्र की गरिमा को सुरक्षित छोड़कर उसे काव्यमय अलंकरण प्रदान करता है, किंतु असली सत्ता को उससे छीन लेता है। पूँजीपति वर्ग दोनों—गरिमा एवं सत्ता—ही को उससे छीन लेता है तथा उसकी वार्षिक आय (घर ख़र्च व जेब ख़र्च के लिए) तय करके सौंप देता है। **जनता** राजतंत्र को उसकी सत्ता, उसकी गरिमा तथा उसकी काव्यात्मकता सुरक्षित लौटा देती है।''

अब अवतरण में श्रीमान् परिषद–सलाहकार ने दुर्भाग्य से फ्रेडरिक विलियम द्वारा सिंहासन से दिये गये भाषण में **अपनी जनता** से जो गर्वोक्तिपूर्ण अपील की थी उसे कुछ ज़्यादा ही गम्भीरता से ले लिया है। उसका आख़िरी हिस्सा है कुलीनतंत्र का ख़ात्मा, पूँजीपति वर्ग का ख़ात्मा तथा जनता से समर्थन प्राप्त करने वाले राजतंत्र की स्थापना।

ये माँगें यदि कल्पना की बेलग़ाम उड़ानें नहीं रही होतीं तो ये अपने–आप में सम्पूर्ण क्रांति समाहित किये हुए होतीं।

विस्तार से इस बात पर बहस करने की हमारी क़तई इच्छा नहीं है कि कुलीनतंत्र (सामंती शासन) का ख़ात्मा पूँजीपति वर्ग तथा जनता द्वारा मिलकर ही किया जा सकता है, किसी अन्य तरीक़े से नहीं; कि जिस देश में कुलीनतंत्र तथा पूँजीपति वर्ग अग़ल–बग़ल में विद्यमान हों वहाँ जनता के शासन की बात शुद्ध बकवास है। आइक हार्न के एक परिषद–सलाहकार की इस तरह की क़िस्सागोई का विचारों के गम्भीर विकास को प्रस्तुत करके

जवाब नहीं दिया जा सकता।

हम उन व्यक्तियों, जो आशंकाग्रस्त प्रशियाई राजतंत्र को कलाबाज़ी के ज़रियें जनता के समर्थन के आधार पर बचाना चाहते हैं, के लिए मात्र कुछ सदाशयी टिप्पणियाँ करना चाहेंगे।

राजा के लिए जो राजनीतिक तत्त्व सर्वाधिक ख़तरनाक हो सकते हैं, उनमें जनता का स्थान निस्संदेह सर्वोपरि है। यहाँ हम उस जनता की बात नहीं कर रहे जिसकी चर्चा फ्रेडरिक विलियम करते हैं, वह तो लात और चाँदी के छोटे सिक्के के लिए गीली आँखों से कृतज्ञता व्यक्त करती है। यह जनता तो पूर्णतया निरापद होती है क्योंकि वह केवल राजा की कल्पना में अस्तित्वमान होती है। किंतु वास्तविक जनता—सर्वहारा के लोग, छोटे किसान, साधारण जन यानी हॉब्स के शब्दों में हट्टा-कट्टा किंतु बदमिजाज़ युवा वर्ग किसी राजा को चाहे वह मोटा हो या पतला अपने पर भारी नहीं पड़ने देगा।

यह जनता महाराजाधिराज से अन्य चीज़ों के अलावा संविधान, सार्वभौम मताधिकार, संघबद्ध होने की स्वतंत्रता, प्रेस की स्वतंत्रता तथा अन्य **अप्रिय** चीज़ें ऐंठ ही लेगी।

यदि उसके पास यह सब होता तो वह इसका इस्तेमाल राजतंत्र की **सत्ता, गरिमा** तथा काव्यात्मकता पर यथाशीघ्र अपना फ़ैसला सुनाने के लिए ही करती।

इस राजतंत्र का मौजूदा योग्य पदाधिकारी अपने को सौभाग्यशाली ही मानता, यदि जनता उसे बर्लिन कारीगर संघ का मुनादी पीटने वाला नियुक्त कर देती तथा प्रतिदिन 250 जर्मन सिक्कों तथा ठंडी बीयर का उसके लिए बंदोबस्त कर देती।

यदि प्रशियाई राजतंत्र तथा **राइने ब्योबाख़्तर** की नियति को निर्देशित— संचालित करने वाले परिषदीय सज्जनों को इसमें तनिक भी शक है, तो उन्हें इतिहास पर एक सरसरी नज़र डाल लेनी चाहिए। इतिहास जनता से अपील करने वाले राजाओं की एकदम अलग क़िस्म की जन्मपत्रियाँ उपलब्ध कराता है।

इंग्लैंड के चार्ल्स प्रथम ने भी भू-स्वामी वर्ग के **ख़िलाफ़ जनता** से अपील की थी। उन्होंने जनता से संसद के ख़िलाफ़ सशस्त्र विद्रोह करने की अपील की थी। बहरहाल, जनता ने स्वयं को राजा के विरुद्ध खड़ा कर दिया, जनता का प्रतिनिधित्व न करने वाले समस्त सदस्यों को संसद से बाहर खदेड़ दिया तथा अन्त में संसद — जो अब सही मायने में जनता का प्रतिनिधित्व करने लगी थी, से राजा का सिर उड़वा दिया। तो चार्ल्स प्रथम की जनता के नामअपील का यह हश्र हुआ। यह घटना 30 जनवरी, 1649 को घटित हुई थी तथा 1849 में इसकी द्विशताब्दी मनायी जानी है।

इसी तरह फ्रांस के लुई चौदहवें ने भी **अपनी जनता** से अपील की थी। तीन साल तक वह जनता के एक हिस्से से दूसरे हिस्से तक अपील करते रहे, **अपनी जनता**––सच्ची जनता, उनके लिए उत्साह से भरी जनता को तलाशते रहे और वह जनता उन्हें कहीं नहीं मिली। आख़िरकार उन्हें वह मिली प्रशियाई तथा आस्ट्रियाई सेना की क़तारों के पीछे कोब्लेंज के पड़ाव के पीछे। बहरहाल, यह फ्रांस की जनता के लिए कुछ ज़्यादा ही अच्छी बात थी। 10 अगस्त, 1792 को जनता ने अपीलकर्ता (राजा) को टैम्पल (पेरिस सैन्य-धार्मिक प्रतिष्ठान) में बंद कर दिया तथा राष्ट्रीय अधिवेशन बुलाया, जिसमें सही मायने में जनता का प्रतिनिधित्व उभरकर आया।

इस अधिवेशन ने भूतपूर्व राजा की अपील पर फ़ैसला सुनाने के लिए अपने-आपको सक्षम घोषित किया। काफ़ी सलाह-मशविरे के बाद अपीलकर्ता को क्रांति मैदान में ले जाया गया, जहाँ उसे 21 जनवरी, 1793 को (सिर उड़ाकर) मार दिया गया।

तो अपनी **जनता** से अपील करने वाले राजाओं का यह हाल होता है। जब परिषद-सलाहकार जनवादी राजतंत्र क़ायम करने की आकांक्षा पाले हुए हों, तब क्या होता है? यह देखने के लिए हम इंतज़ार करेंगे और देखेंगे क्या होता है?

❖ ❖

कार्ल मार्क्स—फ्रेडरिक एंगेल्स

कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा-पत्र

(अध्याय 293 से लिये गये अंश)

धार्मिक, दार्शनिक और सामान्यतः विचारधारात्मक दृष्टि से कम्युनिज़्म के ख़िलाफ़ जो आरोप लगाये जाते हैं, वे इस लायक़ नहीं हैं कि उन पर गम्भीरता से विचार किया जाए।

क्या यह समझने के लिए गहरी अंतर्दृष्टि की ज़रूरत है कि मनुष्य के विचार, मत व उसकी धारणाएँ—संक्षेप में उसकी चेतना—उसके भौतिक अस्तित्व की अवस्थाओं, उसके सामाजिक संबंधों तथा सामाजिक जीवन के प्रत्येक परिवर्तन के साथ बदलती है?

विचारों का इतिहास इसके सिवा क्या सिद्ध करता है? कि जिस अनुपात में भौतिक उत्पादन में परिवर्तन होता है, उसी अनुपात में बौद्धिक उत्पादन का स्वरूप भी परिवर्तित होता है? हर युग के प्रभुत्वशील विचार सदा उसके शासक वर्ग के ही विचार रहे हैं।

जब लोग समाज में क्रांति ला देने वाले विचारों की बात करते हैं, तो वे केवल इस तथ्य को अभिव्यक्त करते हैं कि पुराने समाज के भीतर एक नये समाज के तत्व पैदा हो गये हैं तथा पुराने विचारों का विघटन अस्तित्व की पुरानी अवस्थाओं के विघटन के साथ क़दम मिलाकर चलता है।

प्राचीन दुनिया जिस समय अपनी अंतिम सांसें गिन रही थी, उस समय प्राचीन धर्मों को ईसाई धर्म ने पराभूत कर दिया था। 18वीं शताब्दी में जब ईसाई मत तर्क बुद्धिवादी विचारों के सामने धराशायी हुआ, उस समय सामंती समाज ने तत्कालीन क्रांतिकारी पूँजीपति वर्ग से अपनी मौत की लड़ाई लड़ी थी। धर्म और अंतःकरण की स्वतंत्रता की बातें ज्ञान जगत् में मुक्त होड़ के प्रभुत्व को ही व्यक्त करती थीं।

कहना होगा कि ''यह ठीक है कि इतिहास के विकास-क्रम में धार्मिक, नैतिक, दार्शनिक, राजनीतिक तथा क़ानून संबंधी विचार बदलते आये हैं; किन्तु धर्म, नैतिकता, दर्शनशास्त्र, राजनीतिशास्त्र तथा क़ानून तो सदा इस परिवर्तन से बचे रहे हैं।''

“इसके अलावा स्वाधीनता, न्याय आदि ऐसे शाश्वत् सत्य भी हैं, जो समाज की हर अवस्था में समान रूप से लागू होते हैं। लेकिन उन्हें नये आधार पर प्रतिष्ठित करने के बजाय कम्युनिज़्म सभी शाश्वत् सत्यों को ख़त्म कर देता है; वह समस्त धर्म तथा समस्त नैतिकता को मिटा देता है। इसलिए कम्युनिज़्म अतीत के समस्त ऐतिहासिक अनुभव के विपरीत काम करता है।”

इस आरोप का सार-तत्त्व क्या है? पिछले प्रत्येक समाज का इतिहास वर्ग विरोधों के विकास का इतिहास है, उन वर्ग विरोधों का— जिन्होंने भिन्न युगों में भिन्न रूप धारण किया था।

पर उन्होंने चाहे जो भी रूप धारण किया हो, पिछले सभी युगों में हर चीज़ हर अवस्था में मौजूद थी— समाज के एक हिस्से द्वारा दूसरे हिस्से का शोषण। अतः यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि विगत युगों की सामाजिक चेतना अनेकानेक विविधता तथा भिन्नता के बावजूद किन्हीं ऐसे समान रूपों तथा सामान्य विचारों के दायरे में गतिशील रही है, जो वर्ग-विरोधों के पूर्ण रूप से विलुप्त होने से पहले पूरी तरह से नहीं मिट सकते।

कम्युनिस्ट क्रांति समाज के परम्परागत स्वामित्व संबंधों से आमूल विच्छेद है; फिर इसमें आश्चर्य क्या कि इस क्रांति के विकास का अर्थ है— समाज के परम्परागत विचारों से आमूल संबंध विच्छेद।

जिस तरह पादरी तथा ज़मींदार का चोली-दामने का साथ रहा है, उसी तरह पादरी समाजवाद और सामंती समाजवाद दोनों जन्म के साथी हैं।

ईसाइयों की वैराग्य भावना को समाजवाद का रंग दे देने से अधिक आसान काम दूसरा नहीं है। क्या ईसाई धर्म निजी स्वामित्व, विवाह तथा राज्य के ख़िलाफ़ फ़तवे नहीं देता रहा है? इन चीज़ों के बदले क्या उसने दान-पुण्य और ग़रीबी, ब्रह्मचर्य और शारीरिक तप, मठ-निवास तथा मातृ गिरजाघर की शरण लेने का उपदेश नहीं दिया है? ईसाई समाजवाद केवल वह पवित्र जल है जिसकी छींट मारकर पादरी अमीर-उमरा के संतप्त हृदयों का पवित्रीकरण करता है।

दॉमेर की कृति 'नये युग का धर्म' की समीक्षा

संयोजक एवं सूत्रात्मक प्रवर्तन का प्रयास

(2 खंडों में, हैंबर्ग, 1850)

''न्यूरेंबर्ग में एक व्यक्ति, जो अन्यथा मुक्त चिन्तक था तथा जो नये के प्रति उदासीन तो नहीं था किन्तु जनवादी कार्यवाइयों से अतिशय घृणा करता था। वह रोंज का भक्त था तथा उसने अपने कमरे में उसकी तस्वीर टाँग रखी थी। लेकिन जब उसने सुना कि रोंज जनवादियों से जा मिला है, तो उसने उसकी तस्वीर उतार कर शौचालय में रख दी। उसने एक बार कहा—''काश हम रूसी कोड़े के अधीन रह रहे होते, तब मैं कितना खुश होता!'' दंगों तथा गड़बड़ियों के दौरान उसकी मृत्यु हो गयी और मेरी यह धारणा है कि चाहे वह काफ़ी बूढ़ा हो चुका था, फिर भी घटनाक्रम से जन्मी निराशा तथा व्यथा ही उसे कब्र तक पहुँचाने के लिए ज़िम्मेदार थीं। (खंड 2, पृ. 321-22)।

यदि मरने के बजाय इस दयनीय न्यूरेंबर्ग निवासी ने कारेस्पोंडेंट ऑन एंड फ़ॉर जर्मनी (नामक समाचार-पत्र) से, शिलर व गेटे से, पुरानी स्कूली पुस्तकों तथा पुस्तकालयों से उधार मिलने वाली आधुनिक पुस्तकों से अपने चिंतन का रद्दी माल बटोर लिया होता तो वह मरने के कष्ट से स्वयं को तो बचा ही लेता, श्रीमान् दॉमेर को उसने संयोजक एवं सूत्रात्मक प्रवर्तन के तेज़ाबी विवेचन से युक्त दो खंडों वाले ग्रंथ से बचा लेता। तब हमें भी यह निश्चित है कि नये युग के धर्म से तथा उसके प्रथम शहीद से परिचित होने का शिक्षाप्रद अवसर नहीं मिला होता।

श्रीमान् दॉमेर की कृति दो भागों—'प्रारंभिक' तथा 'मुख्य'—में विभाजित हैं। प्रारंभिक भाग में जर्मन दर्शन का वफ़ादार एकार्ट[1] इस बात पर अपनी गहरी चिंता व्यक्त करता है कि

1. जर्मन मध्ययुगीन क़िस्से-कहानियों का पात्र, जो वफ़ादार आदमी तथा विश्वसनीय रक्षक है। तॉन हॉसर संबंधी एक पौराणिक कथा में वह वीनस के पर्वत के पास तैनात है और जो कोई भी उसके निकट आता है, उसे वीनस के घातक सौंदर्य की चेतावनी देता है।

सोचने-समझने वाले तथा शिक्षित जर्मन भी पिछले दो वर्षों के दौरान पथभ्रष्ट हो गये हैं तथा उन्होंने मात्र 'बाह्य' क्रांतिकारी कार्यकलाप के लिए चिंतन की अकूत उपलब्धियों को समर्पित कर दिया है। वह वर्तमान को राष्ट्र के सद्विवेक से एक बार फिर अपील करने का उपयुक्त समय मानता है तथा इस ओर संकेत करता है कि जर्मन संस्कृति (जिसके माध्यम से ही जर्मन नागरिक की पहचान बनी हुई है) को प्रस्थान करने देने की ग़ैर-ज़िम्मेदारीपूर्ण कार्यवाइयों के अर्थ क्या हैं। वह जर्मन संस्कृति की संपूर्ण अंतर्वस्तु को अपने ज्ञान-पिटारे में सूक्तियों के रूप में संकलित करके जर्मन संस्कृति की ही नहीं, जर्मन दर्शन की भी प्रतिष्ठा व साख को कम करता है। जर्मन मेधा की श्रेष्ठतम रचनाओं का उक्त संकलन नीरसता व सतहीपन (सामान्योक्तियों व घिसे-पिटेपन से उत्पन्न) की दृष्टि से उन सामान्य पुस्तकों को भी पीछे छोड़ देता है जो शिक्षित इलाक़ों की युवतियों को ध्यान में रखकर लिखी जाती हैं। प्रथम फ्रांसीसी क्रांति के संबंध में शिलर व गेटे के फूहड़ चुटकुलों से 'शेर को जगाना ख़तरनाक होता है'[1] जैसे श्रेष्ठ उद्धरण से लेकर अत्यन्त आधुनिक साहित्य तक से नये धर्म के इस पुरोहित ने प्रत्येक उस अवतरण को उत्साहपूर्वक खोदकर निकाला है जिसमें उस ऐतिहासिक आंदोलन के ख़िलाफ़ जिससे उसे घृणा है, जर्मन झांसापट्टी उनींदी झुंझलाहट के साथ कड़ी पड़ने (ऐंठने) लगती हैं। फ्रेडरिक रॉमर, बर्थोल्द आवरबाख़, लोख़्नर, मोरिज़ कैरिएर, एल्फ्रेड माइस्नर, क्रुग, दिंगलस्तेद्त, रोंज, न्यूरेंजबर्गर बोट, माक्स वाल्दौ, स्टर्नबर्ग, हरमन मौरे, लुई एस्टन, एकरमन, नोआक, ए-कुंज़े, ग़िलेनी, सफ़ीर, गुत्ज़कोव, किसी 'गेतरर' जन्म-नाम की महिला तथा ऐसे ही अनेक लोगों को स्तंभ बनाया गया है जिन पर नये धर्म का मंदिर टिका हुआ है। क्रांतिकारी आंदोलन, जिसे यहाँ इतनी भिन्न-भिन्न आवाज़ों में अभिशाप की संज्ञा दी गयी है, श्रीमान् दॉमेर के एक ओर तो 'कारेस्पोंडेंट ऑन एंड फ़ॉर जर्मनी' नामक समाचार-पत्र के तत्त्वावधान में न्यूरेंबर्ग में राजनीति के संबंध में चलायी जाने वाली घिसीपिटी बकझक तक तथा दूसरी ओर भीड़ की घृणित कार्यवाइयों (जिनके बारे में लेखक का ख़याल अजीबोग़रीब है) तक सीमित है। जिन स्रोतों से उन्होंने अपना ज्ञान संचित किया है वे पूर्व वर्णित नामों के साथ रखे जाने के अधिकारी हैं : बहुचर्चित **न्यूरेंबर्ग कारेस्पोंडेंट** के आसपास ही **बेंबर्गर ज़ाइटुंग**, म्यूनिख़ के **लैंडबोटिन**, एप्सबर्ग के **एलगिमाइन ज़ाइटुंग** तथा ऐसे ही अन्य समाचार-पत्रों के नाम उभरते हैं। वही टुटपुंजिया फूहड़पन जिसे सर्वहारा में घृणित, भ्रष्ट तथा चीथड़ों में लिपटे मनुष्य के अलावा कुछ दिखायी नहीं पड़ता तथा जिसे जून 1848 में पेरिस में हुए

1. शिलर की रचना 'दास लाइड फ़ॉन देर ग्लोक' से।

नरसंहार में ऐसे ही तीन हज़ार लोगों के मर जाने की ख़बर से ख़ुशी होती है, ठीक वही फूहड़पन गुस्से से भरकर पशुओं पर क्रूरता की रोकथाम के लिए गठित भावुक संघों को मखौलबाज़ी का पात्र बनाने वालों पर बरसने लगता है।

श्रीमान् दॉमेर प्रथम खंड के पृष्ठ 293 पर विस्मय प्रकट करते हैं : ''निरीह पशु मनुष्य के अत्याचारी तथा निर्मम हाथों जो भयानक यातनाएँ झेलते हैं, वह इन असभ्य–जंगली लोगों को बेकार की चर्चा लगती है।''

हमारे युग का सारा वर्ग–संघर्ष श्रीमान् दॉमेर को 'संस्कृति' के ख़िलाफ़ 'गँवारूपन' का संघर्ष दिखाई देता है। इन वर्गों की ऐतिहासिक अवस्थाओं के माध्यम से उसकी व्याख्या करने के बजाय वह इसके स्रोतों की खोज कुछेक बुरे व्यक्तियों (जो शिक्षित वर्ग के ख़िलाफ़ आम लोगों की हिंस्र भावना को भड़काते हैं) की बग़ावती कार्यवाइयों में करते हैं।

''यह जनवादी सुधारवाद समाज के निम्नवर्गों की उच्च वर्गों के ख़िलाफ़ ईर्ष्या, क्रोध, लूट–मार की वृत्ति को भड़काता है — मनुष्य को बेहतर तथा अधिक उदात्त बनाते तथा संस्कृति का उच्चतर स्तर क़ायम करने का क्या शानदार तरीक़ा है ! '' (खंड 1, पृ. 298)

श्रीमान् दॉमेर को यह पता नहीं है कि संस्कृति को न्यूरेंबर्गी स्तर तक लाने और **दॉमेर की तर्ज़** पर मोलोख़ से संघर्ष करने वाले[1] को संभव बनाने में **समाज के निम्न वर्गों को उच्च वर्गों के ख़िलाफ़ कितने व कैसे संघर्ष करने पड़े हैं ?**

दूसरे यानी मुख्य खंड में नये धर्म का सकारात्मक पक्ष समाहित है। इसमें जर्मन दार्शनिक की सारी नाराज़गी इस बात पर व्यक्त हुई है कि ईसाई धर्म के ख़िलाफ़ उसके समस्त संघर्ष विस्मृति के गर्त में समा गये हैं कि धर्म (जिसे यह दार्शनिक विचार किये जाने योग्य एकमात्र विषय मानता है) के प्रति लोगों में उदासीनता छायी हुई है। अपने व्यापार— जो स्पर्द्धा द्वारा खदेड़ दिया गया है— की साख फिर से जमाने के लिए, हमारा यह विश्व-ज्ञानी मात्र यह कर सकता है कि पुराने धर्म के ख़िलाफ़ लंबे समय से भौंकते रहने के बाद नये धर्म का आविष्कार कर ले। किन्तु यह नया धर्म प्रथम खंड के अनुरूप सूक्तियों, वंशावली पत्रावलियों से ली गयी कविताओं तथा जर्मन टुटपुंजिया संस्कृति की यादगार रचनाओं के संकलन का नैरंतर्य मात्र है। नयी क़ुरान के अध्याय मौजूदा जर्मन परिस्थितियों को नैतिक दृष्टि से सफ़ाई देने तथा काव्यात्मक दृष्टि से अलंकृत करने वाले जुमलों के अलावा कुछ नहीं है—ये जुमले चाहे तात्कालिक रूप से धार्मिक रूप तत्व से मुक्त दिखते हों किन्तु फिर भी पुराने धर्म के अनिवार्य अंग हैं।

''पूर्णतया नयी विश्व परिस्थितियों तथा नये संबंधों का उदय नये धर्मों के माध्यम से ही

---

1. जर्मन मध्ययुग

हो सकता है। ईसाई धर्म तथा इस्लाम इस बात के उदाहरण व प्रमाण हैं कि धर्मों में क्या कुछ करने की सामर्थ्य है। अमूर्त, एकांतिक राजनीति की शक्तिहीनता तथा निरर्थकता का सजीव तथा सार्थक प्रमाण 1848 में शुरू हुए आंदोलनों में दिखायी देता है।'' (खंड 1, पृ. 313)

अंतर्वस्तु से लबालब यह प्रस्थापना जर्मन 'चिंतक' की सपाटबयानी व अज्ञानता को तत्काल उजागर कर देती है। वह छिटपुट घटनाओं तथा विशेषकर बावेरियाई 'मार्च उपलब्धियों' को 1848 व 1949 के यूरोपीय आंदोलन का पर्याय मान लेते हैं तथा यह माँग करते हैं कि क्रमशः विकसित एवं संकेन्द्रित होने वाली बड़ी क्रांति के आरंभिक उद्‌भेदनों—चाहे वे कितने ही सतही क्यों न हों को पूर्णतया नयी विश्व परिस्थितियों व नये सामाजिक संबंधों को जन्म देना चाहिए। विश्व-ज्ञानी दॉमेर समस्त जटिल सामाजिक संघर्ष—जिसकी आरंभिक भिड़ंतों का दायरा पेरिस से देब्रेसेन तक तथा बर्लिन से पालर्मो तक फैला हुआ था— को इस तथ्य में घटा देते हैं कि जनवरी 1849 में ''एर्लांजेन के संवैधानिक समाजों की आशाएँ अनिश्चित काल के लिए स्थगित हो गयी थी'' (खंड 1, पृ. 312) तथा एक नये संघर्ष के भय में घटा देते हैं जो श्रीमान् दॉमेर के लिए हफ़ीज, मोहम्मद तथा बर्थोल्द आवरबाख़ के साथ उनकी संलग्नताओं के संदर्भ में अप्रिय आघात दे सकता है।

वैसा ही निर्लज्ज सतहीपन श्रीमान् दॉमेर को इस तथ्य की पूर्णतया अनदेखी करनेकी अनुमति देता है कि ईसाई धर्म के उदय से पूर्व प्राचीन विश्व परिस्थितियाँ (ईसाई धर्म जिनकी अभिव्यक्ति मात्र है) पूरी तरह धराशायी हो गयी थीं। वह इस बात की भी अनदेखी कर जाते हैं कि 'पूर्णतया नयी विश्व परिस्थितियों' का उदय ईसाई धर्म के भीतर से नहीं, किन्तु तब हुआ जब हूणों तथा जर्मनों 'रोमन साम्राज्य की लाश पर बाहर से हमला बोल दिया'; कि जर्मन आक्रमण के बाद 'नयी विश्व परिस्थितियों' ने स्वयं को ईसाई धर्म के अनुरूप नहीं ढाला बल्कि स्वयं ईसाई धर्म भी इन विश्व परिस्थितियों की प्रत्येक अवस्था के अनुरूप परिवर्तित होता रहा। हम श्रीमान् दॉमेर से निवेदन करेंगे कि वह एक ऐसा उदाहरण दें— जहाँ नये धर्म के साथ विश्व-परिस्थितियाँ तो बदली हों, पर ठीक उसी समय वेगपूर्ण 'बाहरी तथा अमूर्त राजनीतिक हलचलें' घटित न हुई हों।

यह स्पष्ट है कि सामाजिक स्थितियों में होने वाली हरेक महान् ऐतिहासिक क्रांति के साथ-साथ मनुष्यों की दृष्टियों व विचारों में तथा तदनंतर उनके धार्मिक विचारों में भी क्रांतिकारी परिवर्तन घटित होते हैं। मौजूदा क्रांति तथा समस्त पूर्ववर्ती क्रांतियों के बीच भेद इस बात में निहित है कि मनुष्य ने इस ऐतिहासिक क्रांति के रहस्य का पता लगा लिया है और यही कारण है कि वह इस व्यावहारिक 'बाहरी' प्रक्रिया को नये धर्म के आह्लादकारी रूप के बतौर महिमामंडित करने के बजाय स्वयं को सब धर्मों से मुक्त करने लगा है।

नये विश्व-ज्ञान (के मूर्तरूप लेखक) के सौम्य नैतिक सिद्धांतों—जो इस मायने में तो क्नीग[1] से श्रेष्ठ हैं ही कि उसमें वह सब कुछ निहित है जो मनुष्य के साथ संसर्ग के लिए ही नहीं अपितु पशुओं के साथ संसर्ग के लिए भी आवश्यक है— के बाद यानी सोलोमन की लोकोक्तियों के बाद नये सोलोमन का गीत आता है।

''प्रकृति एवं स्त्री मानव तथा मनुष्य के विपरीत सचमुच दैवीय होता हैं .... प्राकृतिक के समक्ष मानवीय की तथा स्त्री के समक्ष पुरुष की बलि ही असली तथा एकमात्र सच्ची दासता तथा आत्म-परायापन है तथा सर्वोच्च, नहीं एकमात्र गुण एवं धर्मनिष्ठा है।''

यहाँ हम देखते हैं कि धर्म के अनुध्यानवादी प्रवर्तक का सतहीपन व अज्ञानता सुस्पष्ट कायरता में रूपांतरित हो जाती है। श्रीमान् दॉमेर अत्यन्त निकट से चुनौती देने वाली ऐतिहासिक त्रासदी से मुँह चुराकर प्रकृति की शरण में पहुँच जाते हैं—यानी ग्राम्य काव्यात्मकता की शरण लेकर अपनी स्वयं की स्त्रैण वश्यता को ढाँपने के लिए स्त्री-पंथ का प्रचार-प्रसार करने लगते हैं।

श्रीमान् दॉमेर का प्रकृति-पंथ प्रसंगवश काफ़ी विचित्र है। ईसाई धर्म की तुलना में भी वह स्वयं को प्रतिक्रियावादी बनाये रखने में सफल हुए हैं। उनकी कोशिश पुराने प्राक्—ईसाई प्राकृतिक धर्म को आधुनिकीकृत रूप में स्थापित करने की है। इस प्रकार वह प्रकृति के संबंध में ईसाई—जर्मन—पितृसत्तात्मक बकबक, जैसी कि निम्न पंक्तियों में व्यक्त की गयी है, के अलावा कुछ भी हासिल नहीं कर पाते :

प्रकृति पुनीत, प्यारी माँ
अपने पद-चिह्नों पर मेरे पैरों को रख दे
मेरा नन्हा हाथ तेरे हाथ को थामे हुए है
मुझे थाम ले।

''इस प्रकार की चीज़ें अप्रचलित हो गयी हैं, पर इससे संस्कृति, प्रगति तथा मानवीय आनंद को हानि ही हुई है।''

हमारी समझ में यह प्रकृति-पंथ किसी छोटे क़स्बे के निवासी के रविवारीय भ्रमणों के समान हैं जो किसी दूसरे पक्षी के घोंसले में कोयल द्वार अंडे सेने (खंड 2, पृ. 40) अथवा आँखों की सतह को गीला रखने की दृष्टि से आँसुओं की रचना (खंड 2, पृ. 73) पर बच्चों की तरह विस्मय प्रकट करता है तथा आख़िर में जो अपने बच्चों को क्लोपस्तोक की कविता 'वसंत की प्रशस्ति में' सुनाते-सुनाते श्रद्धाभाव से काँपने लगता है (खंड 2, पृ. 23)। आधुनिक प्रकृति-विज्ञान का तो कोई प्रश्न ही नहीं है, जिसने आधुनिक उद्योग के साथ

1. क्नीग की कृति 'मनुष्यों के साथ संसर्ग' की ओर संकेत।

समूची प्रकृति में क्रांतिकारी बदलाव ला दिया है तथा प्रकृति के प्रति मनुष्य के बचकाने नज़रिये तथा बचकाने-पन के अन्य रूपों को समाप्त कर दिया है। लेकिन उसके स्थान पर यहाँ हमें नास्त्रेदामस की भविष्यवाणियों, स्कॉटिश लोगों की द्वितीय दृष्टि तथा पशु चुंबकत्व के बारे में रहस्यात्मक संकेत तथा स्तंभिक असभ्य अटकलबाजियाँ देखने को मिलती हैं। बाक़ी बातों के बारे में तो यही कहना काफ़ी होगा कि बावेरिया की मंद अर्थव्यवस्था तथा भूमि जिस पर पुरोहित व दॉमेर जैसे व्यक्ति समान रूप से उपजते हैं, पर कम-से-कम आधुनिक खेती व आधुनिक मशीनों का हल तो चलाया ही जाना चाहिए।

स्त्री-पंथ के सम्बन्ध में भी स्थिति वही है जो प्रकृति-पंथ के संदर्भ में है। श्रीमान् दॉमेर स्वभावतया स्त्रियों की वर्तमान सामाजिक स्थिति के बारे में एक शब्द भी नहीं कहते, इसके विपरीत उन्होंने इसे मादा मात्र का प्रश्न बनाकर पेश किया है। वह स्त्रियों के सामाजिक कष्टों के लिए उन्हें ढाढ़स दिलाना चाहते हैं, पर उन्हें जो पंथ समर्पित करते हैं वह शब्दों में जितना थोथा है उतना ही रहस्यमय भी। इस प्रकार वह उन्हें इस बात के लिए शांत करना चाहते हैं कि विवाह उनकी प्रतिभाओं को कुंद कर देता है क्योंकि उन्हें बच्चों की देखभाल करनी पड़ती है (खंड 2, पृ. 237), ऐसा करने के लिए वह उन्हें बताते हैं कि वे 60 वर्ष की उम्र तक बच्चों को स्तन पान करा सकती हैं (खंड 2, पृ. 251) आदि। श्रीमान् दॉमेर इसे 'नट की मादा को बलि' की संज्ञा देते हैं। अपनी मातृभूमि में नर की बलि के लिए आवश्यक आदर्श महिला पात्रों की तलाश में, वह पिछली शताब्दी की विभिन्न कुलीन महिलाओं की शरण लेने को विवश होते हैं। इस प्रकार उनका स्त्री-पंथ सम्मानित संरक्षिकाओं के प्रति साहित्यकारों के दमित रुझान के स्तर तक चला जाता है। (संदर्भ-गेटे की रचना विल्हेल्म माईस्तर)।

जिस 'संस्कृति' के पतन (क्षय) पर श्रीमान् दॉमेर बार-बार विलाप करते हैं वह उस समय की है जब न्यूरेंबर्ग एक स्वतंत्र जर्मन राज्य के रूप में फल-फूल रहा था, जब न्यूरेंबर्ग उद्योग— कला एवं शिल्प के संकरण का परिणाम— महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहा था, जर्मन टुटपुंजिया संस्कृति का पतन उस टुटपुंजिया वर्ग के पतन के साथ ही घटित हो रहा है। जहाँ पूर्ववर्ती वर्गों (जैसे सूरमाओं) का पतन श्रेष्ठ त्रासद कलाकृतियों के लिए विषय उपलब्ध करा सकता था, असभ्य पूँजीपति वर्ग सांको पाज़ा सूक्तियों तथा ज्ञान के टोटकों के संकलन तथा मतांध विद्वेश की शक्तिहीन अभिव्यक्तियों के सिवा कुछ भी हासिल नहीं कर सकता। श्रीमान् दामर हैंस साख़्स के शुष्क, एकदम हास्यविहीन विकास हैं। जर्मन दर्शन अपने धर्म पिता— जर्मन असभ्य पूँजीपति वर्ग— की मरण-शैया पर विलाप करता हुआ अपने हाथ मल रहा है —यही है वह द्रवित करने वाला चित्र जो नये युग के दर्शन ने हमारे सामने खोलकर रखा है।

✤ ✤

फ्रेडरिक एंगेल्स

जर्मनी में किसान युद्ध

(अध्याय 2)

विकेन्द्रीकरण, स्थानीय एवं प्रांतीय स्वतंत्रता, एक प्रान्त का दूसरे प्रान्त से औद्योगिक एवं व्यापारिक पार्थक्य तथा परिवहन एवं संचार के साधनों के अभाव ने तत्काल अनेकानेक तथा विविधतापूर्ण श्रेणियों के समूहीकरण तथा एकीकरण को एकदम असंभव बना दिया था। सुधार-आन्दोलन के दौरान क्रांतिकारी, राजनीतिक-धार्मिक विचारों के प्रसार के साथ ही यह विकसित हो सका। उन विचारों की समर्थक अथवा विरोधी विभिन्न श्रेणियों ने पूरे राष्ट्र को परिश्रमपूर्वक तथा मोटे तौर पर तीन शिविरों—प्रतिक्रियावादी या कैथोलिक शिविर, लूथरपंथी पूँजीवादी सुधारवादी शिविर तथा क्रांतिकारी शिविर— में संकेन्द्रित कर दिया। और यदि हमें राष्ट्र के महान विभाजन में कोई तुक न दिखे या पहले दो शिविरों में आंशिक रूप से समान तत्त्व दिखें, तो इसका स्पष्टीकरण (व्याख्या भी) इस बात से हो जाता है कि विकेन्द्रीकरण ने मध्य युग से चली आ रही शासक श्रेणियों को समाप्त कर दिया था तथा अलग-अलग बस्तियों में उन्हें चाहे अस्थायी तौर पर विरोधी अवस्थितियाँ प्रदान कर दी थीं। जर्मनी में हाल ही के वर्षों में इसी प्रकार के तथ्यों से हमारा सामना इतनी अधिक बार हुआ है कि 16वीं शताब्दी की कहीं अधिक जटिल परिस्थितियों के अंतर्गत श्रेणियों तथा वर्गों की यह प्रकट गड्ड-मड्ड हमें चकित नहीं करती।

अद्यतन अनुभवों के बावजूद जर्मन विचारधारा को मध्य युग के अन्तिम दिनों के संघर्षों में अभी भी उग्र धर्मशास्त्रीय कलह के अलावा कुछ दिखाई नहीं पड़ता। काश कि उस युग के लोग या यों कहें कि हमारे देशी (अपरिष्कृत) इतिहासकार तथा तपस्वी खगोलीय (दिव्य) वस्तुओं के बारे में एकमत हो जाते, तो फिर लौकिक मामलों को लेकर झगड़ने का तो कोई आधार ही नहीं बचता। ये सिद्धांतकार इतने भोले-भाले हैं कि एक युग द्वारा अपने बारे में सृजित भ्रमों अथवा एक युग के सिद्धांतकारों द्वारा अपने युग के बारे में सृजित भ्रमों को

निर्विवाद (यानी जहाँ उनकी व्याख्या-विश्लेषण की ज़रूरत ही न महसूस की जाय।—अनु.) मान लेते हैं। ऐसे लोगों को उदाहरणार्थ 1789 की क्रांति में निरंकुश राजतंत्र की तुलना में संवैधानिक राजतंत्र के अधिक लाभों के संबंध में गर्मागर्म बहस के सिवा कुछ दिखाई नहीं पड़ता; जुलाई क्राति में इन्हें ईश्वरीय न्याय की अतर्कसंगतता को लेकर छिड़ा व्यावहारिक विवाद ही दिखाई देता है तथा फ़रवरी क्रांति में इन्हें इस प्रश्न—जनतंत्र अथवा राजतंत्र?—के उत्तर का प्रयास भर दिखाई देता है। उन्हें आज के दिन तक उन वर्ग-संघर्षों के बारे में रंच मात्र भी जानकारी नहीं है, जो कि इन विद्रोहों तथा उथल-पुथलों के माध्यम से लड़े गये थे तथा पताका पर लिखा राजनीतिक नारा हर बार जिनकी (वर्ग-संघर्षों की) खुली अभिव्यक्ति होता है; यद्यपि उनकी सूचना-संकेत न केवल विदेशों से, बल्कि हज़ारों-हज़ार स्वदेशी सर्वहारावादियों के गर्जन-तर्जन में भी सुनाई देते हैं।

16वीं शताब्दी के तथाकथित धार्मिक युद्धों में भी मूलतः प्रत्यक्ष एवं निश्चित भौतिक वर्ग हित अंतर्निहित थे; वे वर्ग युद्ध भी थे जैसे कि इंग्लैंड तथा फ्रांस में बाद में घटित आंतरिक टकरावों तथा संघर्षों का भी वर्गीय आधार था। यद्यपि उस काल के वर्ग-संघर्ष भी धार्मिक दकियानूसी विश्वासों के तहत लड़े जाते थे और यद्यपि विभिन्न वर्गों के हित, आवश्यकताएँ तथा मांगें भी एक धार्मिक पर्दे के पीछे छिपे होते थे, फिर भी इससे असल बात में कोई फ़र्क़ नहीं आता तथा इसे युगीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में आसानी से समझा-समझाया जा सकता है।

मध्य युग तो कुल मिलाकर अनगढ़ से ही विकसित हुआ था। उसने अपनी तख़्ती (स्लेट) पर से प्राचीन सभ्यता, प्राचीन दर्शन, राजनीति, न्यायशास्त्र सब कुछ को ही पोंछ कर मिटा दिया था तथा हर क्षेत्र में नये सिरे से शुरुआत की थी। ध्वस्त प्राचीन विश्व से एक मात्र जो चीज़ उन्होंने ली वह था— ईसाई धर्म तथा कुछ टूटे-फूटे नगर जो अपनी सभ्यताओं को खो चुके थे। परिणामस्वरूप जैसा कि विकास की हर आदिम अवस्था में होता है कि पुरोहित वर्ग ने बौद्धिक शिक्षा पर एकाधिकार जमा लिया तथा स्वयं शिक्षा भी अनिवार्य रूप से धर्मशास्त्रीय बन गयी। पुरोहित वर्ग के हाथों में पड़कर राजनीति तथा न्यायशास्त्र भी समस्त अन्य विज्ञानों की तरह धर्मशास्त्र की शाखाएँ बनकर रह गये तथा उनका विवेचन धर्मशास्त्र के प्रचलित सिद्धांतों के अनुरूप ही किया गया। चर्च के जड़सूत्रों ने राजनीतिक उक्तियों का रूप धारण कर लिया तथा बाइबिल के उद्धरणों को वह बल प्राप्त हो गया जो न्यायालय में क़ानून को प्राप्त होता है। यद्यपि न्यायविदों की एक विशिष्ट श्रेणी आकार ग्रहण कर रही व विकसित

हो रही थी फिर भी न्यायशास्त्र दीर्घकाल तक धर्मशास्त्र के संरक्षण में बना रहा और बौद्धिक क्रिया व्यापार के सम्पूर्ण क्षेत्र में धर्मशास्त्र की यह सर्वोच्चता मौजूदा सामन्ती आधिपत्य के सर्वाधिक सामान्य संश्लेषण तथा स्वीकृति के रूप में चर्च को प्राप्त सम्मानित स्थान का अवश्यंभावी परिणाम भी थी।

यह साफ़ ही है कि उन परिस्थितियों में सामन्तवाद के विरुद्ध आमतौर पर होने वाले लगभग सभी आक्रमण सर्वोपरि चर्च के विरुद्ध आक्रमण भी थे तथा साथ ही साथ सामाजिक, राजनीतिक, क्रांतिकारी सिद्धांत अनिवार्यतः तथा मुख्यतः धर्मशास्त्र की नज़र में अपसिद्धांत ही थे। मौजूदा सामाजिक परिस्थितियों पर आक्रमण करने के लिए यह ज़रूरी था कि पहले उनकी दिव्यता प्रभामंडल को झीर-झीर किया जाये।

सामंतवाद का क्रांतिकारी विरोध समूचे मध्ययुग में चल रहा था। उसने रहस्यवाद, मतांतर तथा सशस्त्र विद्रोह के अलग-अलग रूप धारण कर लिये, जो सब उस युग की परिस्थितियों पर निर्भर थे। जहाँ तक रहस्यवाद का प्रश्न है, यह सुविख्यात है कि 16वीं शताब्दी के समाज-सुधारक इस पर बेहद निर्भर थे। स्वयं मुंज़र उसके बहुत ऋणी थे। मतांतरों ने आंशिक रूप से आल्प्स पर्वत-क्षेत्रीय पितृसत्तात्मक गड़रियों द्वारा सामंतवाद पर किये गये हमलों (वाल्देसों)[1] को अभिव्यक्ति दी, तो आंशिक रूप से नगरों—जो कि काफ़ी विकसित हो गये थे—में सामंतवाद के विरोध को (आल्बीजांसों[2] ब्रेशिया का आर्नल्ड आदि) भी अभिव्यक्ति दी और आंशिक रूप से प्रत्यक्ष किसान विद्रोहों (जान बाल, पिकार्डी के हंगेरी शिक्षक[3] आदि) को भी अभिव्यक्ति दी। हम यहाँ वाल्देंसो के पितृसत्तात्मक मतान्तर को तथा

---

1. **वाल्देसों**—12वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में दक्षिण फ्रांस के शहरी निम्न वर्गों के बीच से उदित एक धार्मिक पंथ। इसका संस्थापक ल्योन्स के व्यापारी पीटर वाल्द को बताया जाता है। इस पंथ के अनुयायियों ने संपत्ति के उन्मूलन की वकालत की, कैथोलिक चर्च द्वारा अपार धन-संचय की भर्त्सना की तथा आरंभिक ईसाई धर्म के रीति-रिवाजों की पुनर्स्थापना की माँग की। इस पंथ के मतान्तर ख़ासकर दक्षिणी स्विट्ज़रलैंड तथा सेवाय के पर्वतीय क्षेत्रों की देहाती जनता के बीच ख़ूब फैले, जहाँ उन्होंने आदिम सामुदायिक व्यवस्था तथा पितृसत्तात्मक संबंधों के अवशेषों को समर्थन दिया।
2. **आल्बीजांसों**—12वीं और 13वी शताब्दियों में दक्षिण फ्रांस तथा उत्तर इटली में प्रचलित धार्मिक संप्रदाय। आल्बीजांसों ने ठाठदार कैथोलिक कर्मकांड तथा पादरी पद-सोपान के विरुद्ध आन्दोलन चलाया था और साथ ही नगरों की व्यापारी तथा दस्तकार जनता की सामन्तवाद से असंतुष्टि को धार्मिक रूप में व्यक्त किया था। दक्षिण फ्रांस का अभिजात वर्ग भी उनके साथ हो गया, जो चर्च की भूमि का लौकिकीकरण चाहता था। 1209 में पोप इनोसेंट तृतीय ने उनके ख़िलाफ़ एक धर्म-युद्ध छेड़ दिया तथा लम्बे युद्ध तथा तीव्र दमन की घटनाओं के बाद आन्दोलन कुचल दिया गया।
3. फ्रांस में 1251 में किसान (गड़रियों के) आन्दोलन के नेताओं में एक।

स्विस विद्रोह को एक ओर छोड़ सकते हैं क्योंकि ये रूप एवं अंतर्वस्तु की दृष्टि से प्रतिक्रियावादी तथा इतिहास के वेग को थामने के शुद्ध स्थानीय प्रयास थे। मध्ययुगीन मतान्तर के अन्य दो रूपों में हमें काफ़ी पहले यानी 12वीं शताब्दी में ही— बर्गरों तथा किसान— साधारण जन के विरोधों (जिनकी वजह से किसान युद्ध विफल हुआ) के अग्रदूतों के दर्शन होते हैं। यह विरोध समूचे उत्तर मध्य युग में दिखाई देता है।

नगरीय मतान्तर— जो कि मध्ययुग का असल अधिकृत मतान्तर था, का मुख्य रूप से निशाना पुरोहित वर्ग को बनाया गया था; जिसकी धन-संपदा तथा राजनीतिक वर्चस्व पर उसने आक्रमण किया। जैसे आजकल का पूँजीपति **कम-ख़र्चीली सरकार** की माँग उठाता है ठीक वैसे ही मध्ययुगीन बर्गरों ने **कम ख़र्चीले चर्च** का नारा बुलन्द किया था। बर्गर मतान्तर ने—किसी भी अन्य मतान्तर के समान जो चर्च तथा जड़सूत्रवाद के आगे विकास में सिर्फ़ पतनशीलता को ही देखता है—जो कि रूप-तत्त्व की दृष्टि से प्रतिक्रियावादी था आरंभिक ईसाई चर्च के सीधे-साधे संघटन को पुनरुज्जीवित करने तथा अनन्य पौरोहित्य के उन्मूलन की माँग की। इस सस्ते (कम ख़र्चीले) बन्दोबस्त से साधु-संन्यासियों, धर्माधिकारियों, तथा रोमन दरबार का— या कहिए चर्च में जो कुछ भी महँगा था, उसका ख़ात्मा हो जाता। स्वयं नगरों तथा गणतंत्रों ने अलबत्ता शासकों के संरक्षण में ही, परम धरमाध्यक्ष (पोप) के पद पर अपने हमलों के ज़रिये पहले-पहल सामान्य शर्तों को प्रतिपादित करते हुए स्पष्ट किया कि पूँजीवादी शासन का मानकीय रूप गणतंत्र ही था। अनेक जड़सूत्रों तथा चर्च के नियमों के प्रति उनकी शत्रुता को आंशिक रूप से तो अब तक जो कहा गया है, उससे समझा जा सकता है तथा आंशिक रूप से उनके जीवन की परिस्थितियों से समझा जा सकता है। उदाहरण के लिए— ब्रह्मचर्य के प्रति उनका जो कटुविरोध का भाव था— उसका स्पष्टीकरण बोकेशियो से बेहतर किसी ने नहीं किया है। इटली तथा जर्मनी में ब्रेशिया निवासी आर्नल्ड, दक्षिण फ्रांस में आल्बीजांस, इंग्लैंड में बाइक्लिफ़ तथा बोहेमिया में हस एवं कैलिक्स्टीन,[1] इस प्रवृत्ति के प्रमुख प्रतिनिधि थे। नगर, जो कि हर जगह एक पुनर्संगठित श्रेणी का रूप धारण कर चुके थे, शस्त्रबल के आधार पर अथवा विधान सभाओं में अपने विशेषाधिकारों का उपयोग करके लौकिक सामंतवाद से लड़ाई करने में सक्षम थे। इससे यह एकदम साफ़ हो जाता है कि सामंतवाद का विरोध पुरोहिती सामंतवाद के विरोध के रूप में ही क्यों प्रकट हुआ।

---

1. **कैलिक्स्टीन** — बोहेमिया में 15वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जर्मन अभिजात वर्ग, जर्मन साम्राज्य तथा कैथोलिक चर्च विरोधी हसपंथी राष्ट्रीय मुक्ति एवं सुधार आन्दोलन की दो धाराओं में से एक। इनका मानना था कि जनसाधारण को यूख़ारिस्त में शराब का प्याला तथा रोटी दोनों ही मिलने चाहिए। इसमें उन्हें बोहेमिया के अभिजात वर्ग तथा बर्गरों का भी समर्थन मिला। वे मामूली चर्च सुधार तथा चर्च की ज़मीनों के लौकिकीकरण से अधिक कुछ चाहते भी नहीं थे।

हम दक्षिण फ्रांस में तथा इंग्लैंड व बोहेमिया में भी यह पाते हैं कि अभिजात वर्ग के निचले संस्तर का अधिकांश भाग पुरोहितों के विरुद्ध अपने संघर्ष में नगरों के साथ हो लिये। उन्होंने अपने मतान्तरों के सन्दर्भ में भी यही किया, जो ऐसी घटना क्रिया है जिसे नगरों पर उनकी निर्भरता तथा राजाओं व धर्माधिकारियों के विरुद्ध उनके साझे हितों पर ग़ौर करके ही समझा जा सकता है। किसान युद्ध में भी हमें यही चीज़ दिखाई देगी।

उस मतान्तर की प्रकृति एकदम भिन्न थी, जो किसान-साधारण जन की माँगों को सीधे-सीधे अभिव्यक्ति देता था तथा लगभग अनिवार्य रूप से विद्रोह का सहयात्री था। हालाँकि इस मतान्तर में पुरोहित वर्ग,पोप तथा आरंभिक ईसाई चर्च संघटन के संबंध में जो माँगें थीं, वे बर्गर मतान्तर से मिलती-जुलती थीं पर यह उसकी तुलना में बहुत आगे तक गया। इसने समुदाय के सदस्यों के मध्य आरंभिक ईसाई समानता की पुनर्स्थापना की माँग करने के साथ-साथ इस बात पर भी ज़ोर दिया कि उक्त समानता को बर्गर जगत् के लिए भी आदेश के रूप में मान्यता दी जाये।'ईश्वर की सन्तानों की समानता' से इसने नागरिक समानता का तथा आंशिक रूप से संपत्ति संबंधी स्वतंत्रता का भी निष्कर्ष निकाला। अभिजातों व किसानों की, कुलीन तथा विशेषाधिकार प्राप्त बर्गर व साधारण जन की समानता, **बेगार**, लगान, कर, विशेषाधिकार तथा कम-से-कम संपत्ति संबंधी ग़ैर-बराबरी का उन्मूलन आदि— वे माँगें थीं जो आरंभिक ईसाई मत के स्वाभाविक निहितार्थों के रूप में कमोबेश संकल्प व दृढ़ता के साथ प्रस्तुत की गयीं। उस समय जब सामंतवाद अपने चरण उत्कर्ष (शिखर) पर पहुँचा हुआ था, इस किसान—साधारण जन मतान्तर—उदाहरण के लिए आल्बीजांसों के मध्य—तथा बर्गर संचालित विरोध के बीच से चुनने जैसा कुछ नहीं था, किन्तु 14वीं व 15वीं शताब्दियों में यह सुपरिभाषित पार्टी मत के रूप में विकसित हो गया तथा बर्गरों के मतान्तरों के बरक्स आमतौर पर स्वतंत्र रुख़ अपनाने लगा। जॉन बाल—इंग्लैंड में वाट टायलर की बग़ावत के प्रेरक—तथा बाइक्लिफ़ आन्दोलन के बारे में और बोहेमिया में कैलिक्स्टीन तथा टेबरपंथी[1] आन्दोलन के साथ ऐसा ही हुआ। टेबरपंथियों ने तो धर्मतंत्रीय वेश में साधारणजन समर्थक प्रवृत्ति भी दर्शायी, जिसे बाद में, 15वीं व 16वीं शताब्दियों में जर्मनी में साधारण जन ने और अधिक विकसित किया।

---

1. **टेबरपंथी** — (आन्दोलन केन्द्र टेबर नामक नगर के नाम पर आधारित यह पंथ)— हस पंथी आन्दोलन की दूसरी प्रवृत्ति। इनकी माँगों में सामंती दमन के उन्मूलन की किसानों तथा निम्न वर्गों की आकाँक्षा प्रतिबिंबित हुई। सामंती प्रतिक्रियावादियों ने कैलिक्टीलों द्वारा टेबर-पंथियों के साथ किये गये विश्वासघात का इस्तेमाल हसपंथी आन्दोलन को कुचलने के लिए किया।

रहस्यवादी संप्रदायों—ख़ास कर फ्लैजेलेंट[1] तथा लौलार्ड[2]—की कट्टरता—जिसने दमन के काल में क्रांतिकारी परम्परा को आगे बढ़ाया— मतान्तर के इस रूप के इर्द-गिर्द लामबंद हुआ।

उस काल में साधारण जन का ही एकमात्र ऐसा वर्ग था जो मौजूदा अधिकृत (शासकीय) समाज के बाहर खड़ा था। वे (साधारण जन) सामन्ती तथा बर्गर—दोनों ही—संघों से बाहर थे। उनके पास न तो विशेषाधिकार थे और न सम्पत्ति; उनके पास तो उस तरह की सम्पत्ति भी न थी जो किसान अथवा निम्न बर्गर के पास हुआ करती थी और तिस पर भी वे करों के बोझ के नीचे दबे हुए थे। वे हर दृष्टि से सम्पत्तिविहीन तथा अधिकारविहीन थे। उनकी जीवन-परिस्थितियाँ ऐसी थीं कि मौजूदा संस्थाओं—जिन्होंने इस वर्ग को पूरी तरह नज़रंदाज़ कर रखा था—से उनका प्रत्यक्ष सम्पर्क तक असम्भव हो गया था। वे सामन्ती तथा दस्तकार संघ—बर्गर समाज की पतनशीलता के जीते-जागते लक्षण थे तथा साथ-ही-साथ आधुनिक पूँजीवादी समाज के सर्वप्रथम अग्रदूत थे।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि साधारण जन का विरोध पक्ष ने उस ज़माने में भी सामन्तवाद तथा विशेषाधिकार प्राप्त बर्गरों से संघर्ष करने तक ही क्यों सीमित नहीं रखा; या वह चाहे कल्पना में ही सही आधुनिक पूँजीवादी समाज जिसके उदय का धुंधला-सा भी आभास नहीं हो रहा था—के परे तक क्यों चला गया; कि उसने पूरी तरह सम्पत्तिविहीन समूह होते हुए भी, उन संस्थाओं विचारों, धारणाओं को चुनौती क्यों दी जो वर्ग-विरोध पर आधारित सभी समाजों में समान रूप से प्रचलित होती हैं। इस दृष्टि से आरम्भिक ईसाई धर्म के सहस्राब्दी स्वप्न-दर्शन[3] ने एक सुविधाजनक प्रस्थान बिन्दु प्रस्तुत किया। दूसरी ओर, वर्तमान के तथा भविष्य के भी परे की यह गैर संवेगमय, उग्र तथा भव्य— काल्पनिक के सिवा

---

1. **फ़्लैजेलेंट**— यूरोप में 13वीं और 15वीं शताब्दियों के बीच व्यापक रूप से फैला तपस्वियों का संप्रदाय। वे पाप शांति के एक साधन के रूप में आत्म दंड को सही मानते थे।
2. **लौलार्ड**— इंग्लैंड तथा अन्य यूरोपीय देशों का एक धार्मिक संप्रदाय। उसका उदय 14वीं शताब्दी में हुआ तथा उसने कैथोलिक चर्च का भीषण विरोध किया। वे अंग्रेज़ सुधारवादी वाइक्लिफ़ के अनुयायी थे तथा उन्होंने उनकी शिक्षाओं से अत्यन्त मूल परिवर्तनवादी निष्कर्ष निकाले। सामंती विशेषाधिकारों के ख़िलाफ़ उनका विरोध धार्मिक तथा रहस्यवादी रूप में व्यक्त हुआ था। उनमें से बहुतों ने वाट टाइलर के 1381 के विद्रोह में भाग लिया था। 14वीं शताब्दी के अन्तिम दिनों में उनके क्रूर उत्पीड़न की शुरुआत हुई जो आगे भी जारी रही।
3. **सहस्राब्दी स्वप्न दर्शन**— इसकी व्युत्पत्ति किलियास—एक हज़ार—से है। एक रहस्यवादी सिद्धांत जो ईसा मसीह के दूसरे अभ्युदय में विश्वास रखता था। इसके अनुसार एक हज़ार वर्षों का न्यास, समानता समृद्धि का युग आयेगा। इस पंथ का उदय दास समाज के पतन के काल में, मेहनतकशों के असह्य दमन व तकलीफ़ों के कारण हुआ। वे लोग मुक्ति के एक भव्य काल्पनिक स्वप्न-दर्शन की तलाश में थे। ये विश्वास आरम्भिक ईसाई धर्म में व्यापक रूप से प्रचलित थे तथा बाद में इन्हें विभिन्न मध्य-युगीन संप्रदायों के सिद्धांतों में निरन्तर पुनरुज्जीवित किया गया।

और कुछ हो भी कैसे सकती थी और इसलिए जैसाकि होना था, समकालीन स्थिति द्वारा निर्धारित संकीर्ण सीमाओं के भीतर जा गिरी। निजी सम्पत्ति पर आक्रमण, साझे स्वामित्व की माँग का समाधान परोपकार के आदिम संगठन में ही हो सकता था; अस्पष्ट (धुँधली) ईसाई समानता का समाहार ज़्यादा-से-ज़्यादा 'क़ानून के समक्ष नागरिक समानता' में ही हो सकता था; समस्त प्राधिकारी शक्तियों के उन्मूलन की चरम परिणति जनता द्वारा निर्वाचित गणतंत्रीय सरकारों के रूप में ही होती है। भव्य कल्पना के सहारे कम्युनिज़्म का पूर्वानुमान दरअसल आधुनिक पूंजीवादी परिस्थितियों का पूर्वानुमान हो गया।

आने वाले ऐतिहासिक घटना-विकास क्रम के इस संवेगमय, उग्र पूर्वानुमान—जिसे साधारण जन की जीवन-परिस्थितियों के सन्दर्भ में आसानी से समझा-समझाया जा सकता है — को जर्मनी में टामस मुंज़र तथा उनकी मंडली में पहले-पहल देखा जा सकता है। टेबर पंथियों की दृष्टि जिस साझे स्वामित्व पर थी, वह एक तरह से सहस्राब्दी-स्वप्न-दर्शन में वर्णित समानता से मेल खाती थी, किन्तु वह भी मात्र एक सैनिक उपाय था। केवल मुंज़र की शिक्षाओं में ही इन कम्युनिस्टलयों ने समाज के वास्तविक अंश की आकांक्षाओं को मुखरित किया। मुंज़र सबसे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने इन आकांक्षाओं को एक ख़ास सुनिश्चितता के साथ सूत्रबद्ध किया और उसके बाद से वे लगभग हर महान जन-विद्रोह में दिखायी देती रहीं जब तक कि वे क्रमशः आधुनिक सर्वहारा आंदोलन में विलीन न हो गयीं—ठीक वैसे ही, जैसे मध्य युग में स्वतंत्र किसानों के सामंती आधिपत्य (जिसने किसानों को बुरी तरह कस रखा था) विरोधी संघर्षों के साथ हुआ था, जब वे सामंतवादी व्यवस्था के सम्पूर्ण उन्मूलन के लिए कृषि-दासों के संघर्षों में विलीन हो गये।

इन तीन बड़े शिविरों में पहले शिविर—रूढ़िवादी कैथोलिक शिविर—ने उन समस्त तत्त्वों को समेट लिया जिनकी दिलचस्पी मौजूदा परिस्थितियों को—शाही सत्ताधारी व अधिकारी वर्ग, चर्च, आम राजाओं के एक हिस्से, धनी अभिजात वर्ग, धर्माधिकारियों तथा शहरी कुलीनों को—क़ायम रखने में थी। बर्गर-समान उदारवादी लूथरीय सुधारवाद से सम्बद्ध दूसरे शिविर ने विरोध-पक्ष के सम्पत्तिशाली तत्वों—निम्न अभिजात वर्ग के बहुसंख्यक भाग को, बर्गरों को तथा आम राजाओं के एक हिस्से—जिन्हें चर्च की ज़मीनों के ज़ब्त किये जाने के ज़रिए अधिक धनी बन जाने की उम्मीद थी तथा जो साम्राज्य से अधिक स्वतंत्रता अर्जित कर लेने के अवसर को चूकना नहीं चाहते थे—को भी आकृष्ट कर लिया। जहाँ तक किसानों तथा साधारण जन के तीसरे शिविर का सम्बन्ध है उन्होंने अपने आपको एक

क्रांतिकारी पार्टी के रूप में एकताबद्ध कर लिया, जिसकी माँगों व सिद्धांतों को मुंज़र द्वारा अत्यधिक स्पष्टता के साथ अभिव्यक्ति दी गयी।

लूथर तथा मुंज़र दोनों ही अपने-अपने सिद्धांत के माध्यम से तथा अपने चरित्र व कार्यों की दृष्टि से अपनी पार्टी के असली प्रतिनिधि थे।

1517 से 1525 तक लूथर लगभग उन्हीं परिवर्तनों के दौर से गुज़रे, जिनसे कि मौजूदा जर्मन संविधानवादी 1846 और 1849 के बीच गुज़रे तथा जिनमें होकर हर पूँजीवादी पार्टी को—जो कुछ समय के लिए आंदोलन के शीर्ष पर खड़ी होती है तथा जिसके पीछे खड़ी साधारण-जन—सर्वहारा की पार्टी जिसे मात दे देती है—गुज़रना पड़ता है।

लूथर ने जब पहली बार 1517 में कैथोलिक चर्च के जड़सूत्रों व क़ानूनों का विरोध किया था, तब उसके विरोध का सुनिश्चित स्वरूप व चरित्र क़तई नहीं था। जहाँ उसने (विरोध ने) पूर्ववर्ती बर्गर मतान्तर की माँगों का अतिक्रमण नहीं किया; उसने ऐसी किसी प्रवृत्ति की सम्भावना से इन्कार नहीं किया—और न वह कर सकता था जो कि और भी आगे जाने में सक्षम हो। आरम्भिक अवस्था में विरोध पक्ष के समस्त तत्त्वों को एकताबद्ध किया जाना था, अत्यन्त आक्रामक क्रांतिकारी ऊर्जा प्रदर्शित की जानी थी तथा कैथोलिक रूढ़िवादिता के विरुद्ध खड़े सभी मौजूदा मतान्तरों को एक नायक की खोज करनी थी। ठीक इसी तरह 1847 का हमारा उदारवादी पूँजीपति वर्ग अभी भी क्रांतिकारी था, स्वयं को समाजवादी व कम्युनिस्ट कहता था तथा मज़दूर वर्ग की मुक्ति के लिए बेचैन था। लूथर की हट्टी-कट्टी तथा दृढ़ किसानी प्रकृति ने अपने कार्यकलाप के उस पहले दौर में स्वयं को तूफ़ानी तेवर के साथ, बलपूर्वक व्यक्त किया।

"यदि (रोमन चर्च के पुरोहितों व अधिकारियों का) क्रोधोन्मादी पागलपन बढ़ता ही रहा, तो मुझे लगता हैकि उसके ख़िलाफ़ इससे बेहतर विवेक सम्मत सलाह तथा इलाज़ खोजा नहीं जा सकता कि सभी राजे-रजवाड़े बल-प्रयोग करें, स्वयं को हथियारों से लैस कर लें तथा उन कुत्सित लोगों के ख़िलाफ़ हमला बोल दें जिन्होंने समूची दुनिया में ज़हर घोल दिया है और इस तरह इस खेल का सदासर्वदा के लिए अन्त कर दें— **शब्दों से नहीं, हथियारों से।** जब हम चोरों को चाबुक से, हत्यारों को तलवार से, मतान्तरवादियों को आग से दण्डित करते हैं तो फिर हम इन तमाम सर्वनाशी-नारकीय कुत्सित शिक्षकों—इन पोपों, कार्डिनलों, विशपों तथा रोमन सोडोम[1] के तमाम पापी व भ्रष्ट लोगों—की ओर क्यों नहीं मुड़ रहे; **हाथों में हथियार लेकर जिससे कि उनके ख़ून से अपने हाथ धो सकें?**

---

1. सोडोम—एक प्राचीन नगर जिसे दुश्चरित्रता, पापाचार के अपराध में नष्ट कर दिया गया था। यहाँ इसका प्रयोग लाक्षणिक रूप में किया गया है। — अनु.

किन्तु यह क्रांतिकारी तेवर ज़्यादा दिन नहीं चला। फिर लूथर ने बिजली का-सा असर किया। समूची जर्मन जाति में गतिशीलता आ गयी। एक ओर किसानों तथा साधारण-जन को पुरोहितों के ख़िलाफ़ उसकी अपीलों में तथा ईसाई समानता की उसकी शिक्षाओं में विद्रोह का संकेत दिखायी दिया, तो दूसरी ओर उदारवादी बर्गरों तथा निम्न अभिजात वर्ग के बड़े हिस्से को—तथा रजवाड़ों को भी—इस धारा ने अपनी ओर खींच लिया और वे उसमें सम्मिलित हो गये। इनमें से पहले तबक़े को लगा कि अपने सभी दमनकर्त्ताओं पर गाज़ गिरने का वक़्त आ गया है, जबकि दूसरे की कामना सिर्फ़ यह थी कि पुरोहित वर्ग की सत्ता, रोम पर निर्भरता तथा कैथोलिक पद-सोपान पर आघात हो तथा चर्च की ज़मीनों की ज़ब्ती की बदौलत वह स्वयं समृद्ध हो जाये। इन पक्षों ने अपने दृष्टिकोणों को परिभाषित किया तथा अपने प्रवक्ता खोज लिये। लूथर को इन दोनों में से एक का चुनाव करना था कि किसके साथ रहा जाये। सैक्सनी के इलेक्टर (जर्मन राजाओं में से एक जिसे पवित्र रोमन साम्राज्य के सम्राट को निर्वाचित करने का अधिकार प्राप्त था) के कृपापात्र लूथर को रातों-रात प्रसिद्ध एवं शक्तिशाली हो गये विटनबर्ग के आदरणीय आचार्य को, जिसके आसपास ख़ुशामदियों व चापलूसों का एक झुण्ड जमा रहता था, ऐसे महान लूथर को एक क्षण के लिए भी झिझक व संशय ने नहीं सताया। उसने आंदोलन के लोक-तत्त्वों को अंगूठा दिखा दिया और बर्गरों, अभिजातों व रजवाड़ों का पक्ष ग्रहण कर लिया। रोम के समूल-उच्छेदन के लिए युद्ध की उसकी अपीलें सुनने को नहीं मिलती थीं। लूथर अब **शांतिपूर्ण प्रगति** तथा **निष्क्रिय प्रतिरोध** की शिक्षा देने लग गया। (संदर्भ— उदाहरण के लिए **जर्मन कुलीनों के नाम संदेश**, 1520 आदि) हटन द्वारा एबर्न-बर्ग— वह स्थान जहाँ कुलीनों ने पुरोहितों एवं राजाओं के ख़िलाफ़ षड्यंत्र रचा था— आने के लिए उससे तथा सिकिंगन से मिलने के लिए आमंत्रित किये जाने पर लूथर ने उत्तर दिया वह यह था :

"मैं नहीं चाहता कि बाइबिल की रक्षा बल तथा ख़ून-ख़राबे के ज़रिये हो। दुनिया को शब्द द्वारा जीता गया था, चर्च शब्द के द्वारा ही क़ायम है, चर्च का पुनरुद्धार भी शब्द के माध्यम से ही होगा, हिंसा का सहारा लिये बग़ैर ऊपर चढ़े ख्रीस्त-विरोधी का पतन भी हिंसा के बग़ैर ही होगा।"

इस मोड़ से, या यों कहें कि लूथर की नीति की इस अधिक परिशुद्ध परिभाषा से, संस्थाओं तथा जड़-सूत्रों (जिन्हें बनाये रखा जाना था अथवा संशोधित किया जाना था) के बारे में भाव-तोल तथा अदला-बदली का— उस घिनौनी कूट-क्रिया का, मेल-मिलाप,

षड्यन्त्रों तथा समझौतों का—दौर शुरू हुआ जिसका परिणाम था, वह ऑग्सबर्ग घोषणा-पत्र[1] यानी सुधार से उत्पन्न बर्गर चर्च के अन्तिम रूप से स्वीकृत नियम हाल ही में जर्मनी में इसी तरह की टुच्ची सौदेबाजी का अलबत्ता अपने राजनीतिक रूप में, जर्मन राष्ट्रीय सभाओं में, मेल-मिलाप समारोहों में, संशोधन कक्षों में, एरफ़र्ट संसद[2] में अनगिनत बार दोहरायी गयी। अधिकृत धर्म सुधार का कूपमंडूकता वाला रूप इन वार्ताओं में अत्यन्त उल्लेखनीय रूप से उजागर हुआ था।

लूथर—जो अब से बर्गर-सुधार के सर्वमान्य प्रतिनिधि बन गये थे—के पास क़ानून की परिधि में ही प्रगति की शिक्षा देने के कई कारण थे। नगरों की बहुसंख्या (वस्तुतः व्यापारी वर्ग की बहुसंख्या) ने उदारवादी सुधार के लक्ष्य को समर्थन दिया, निम्न अभिजात वर्ग अधिकाधिक इसका भक्त बन गया तथा राजाओं का एक हिस्सा भी इसमें आ ठुँसा, जबकि दूसरा हिस्सा डाँवाडोल बना रहा। कम-से-कम जर्मनी के बड़े भाग में सफलता जैसे मिल ही गयी थी। बचे हुए क्षेत्र दीर्घकाल में उदारवादी विरोध के दबाव से बच नहीं पाएंगे, बशर्ते कि शांतिपूर्ण विकास जारी रहे। पर इस बीच यदि कोई उग्र उथल-पुथल हो गयी तो उसका अवश्यंभावी परिणाम यह होगा कि उदारवादी पार्टी का उग्रवादी साधारण जन एवं किसान पार्टी से टकराव हो जायेगा जिससे कि राजा, अभिजात वर्ग तथा कुछ नगर आंदोलन से अलग जायेंगे और तब एकमात्र विकल्प यह उपलब्ध होगा कि या तो बर्गर पार्टी को साधारण जन व किसान पार्टी मात दे दे या समूचा आंदोलन कैथोलिक पुनर्स्थापन द्वारा कुचल दिया जाये। हाल के दिनों में ऐसे कई उदाहरण रहे हैं जो बताते हैं कि क़ानून की परिधि में रहकर शांति के ज़रिये पूँजीवादी पार्टियाँ क्रांति की सीलिया तथा पुनर्स्थापन की केरिबदीस (सीलिया एवं केरिबदीस मुहावरे के रूप में प्रयुक्त किये गये हैं— इनका अर्थ है दो ख़तरनाक विकल्प जिनमें

---

1. **ऑग्सबर्ग घोषणा-पत्र**— लूथरीय सिद्धांत सम्बन्धी वक्तव्य जो ऑग्सबर्ग में 1530 में शाही संसद में सम्राट चार्ल्स पाँचवें को पढ़कर सुनाया गया। 'कम ख़र्चीले चर्च' ठाठदार कर्मकाण्ड का उन्मूलन, चर्च पद-सोपान व्यवस्था का सरलीकरण जैसे बर्गर आदर्शों का, यह राजाओं के हितों के अनुरूप रूपान्तर था। इसे सम्राट द्वारा अस्वीकार कर दिया गया। लूथरपंथी राजाओं द्वारा उसके ख़िलाफ़ छेड़ा गया युद्ध 1555 में समाप्त हुआ और तब ऑग्सबर्ग में धार्मिक शांति क़ायम हुई। इसके तहत राजाओं को यह शक्ति प्रदान की गयी कि वे स्व-विवेक के आधार पर अपनी प्रजाओं का धर्म-निर्धारण कर सकते थे।
2. प्रशा द्वारा स्थापित जर्मन संघ में सम्मिलित जर्मन राज्यों के प्रतिनिधियों की संसद का हवाला। इसका सत्र एरफ़र्ट में 20 मार्च से 29 अप्रैल, 1850 तक चला जिसमें प्रतिक्रियावादी, राजतंत्रवादी प्रशा के वर्चस्व के तहत जर्मनी के एकीकरण की योजनाएँ तैयार की गयी। योजनाएँ विफल हो गयीं तथा एरफ़र्ट संसद जर्मन संघ के भंग हो जाने के साथ ही समाप्त हो गयी।

से एक को भी न अपनाया जा सकेः क्रांति का कुआँ तथा पुनर्स्थापन की खाई—अनु.) से बचकर किस तरह निकल जाती हैं।

तत्कालीन आम सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों के तहत प्रत्येक परिवर्तन के परिणाम राजाओं के लिए अनिवार्य रूप से हितकर थे जिनसे उनकी शक्ति में निश्चित रूप से वृद्धि हुई और इस तरह बर्गर सुधार साधारण जन तक किसान तत्त्वों से जितना अधिक दूर जाता गया, उतना ही अधिक वह राजाओं के सीधे नियंत्रण में आता गया। स्वयं लूथर अधिकाधिक उनका दास बनता गया। लोगों ने जब उस पर अन्य लोगों की तरह राजाओं का चाटुकार व चपरास उठाने वाला बन जाने का आरोप लगाया तथा आर्लामुंड में उस पर पथराव किया, तो वे अच्छी जानते थे कि वे क्या कर रहे थे।

जब किसान युद्ध छिड़ गया तो लूथर ने उन क्षेत्रों के प्रति मध्यस्थता का रुख़ अपनाने का प्रयास किया जहाँ अभिजात वर्ग तथा राजा अधिकांशतः कैथोलिक थे। उसने सरकारों पर जमकर हमले किये। उसने कहा कि विद्रोह के लिए वे स्वयं ज़िम्मेदार हैं क्योंकि उन्होंने दमन का ताण्डव मचा रखा था कि उनके ख़िलाफ़ किसान नहीं, बल्कि स्वयं ईश्वर उठ खड़ा हुआ है। फिर भी दूसरी ओर उसने कहा कि विद्रोह अधर्मी है, बाइबिल के प्रतिकूल है। अन्त में उसने दोनों पक्षों से झुकने तथा मैत्रीपूर्ण समझौता कर लेने का आग्रह किया।

पर इन नेक इरादों वाले मध्यस्थता प्रस्तावों के बावजूद विद्रोह तेज़ी से फैलने लगा तथा उन प्रोटेस्टेंट क्षेत्रों को भी अपने में समेटने लगा जहाँ लूथर-समर्थक राजाओं, जागीरदारों तथा व्यापारियों का आधिपत्य था तथा वह तेज़ी से 'चौकस' बर्गर सुधार से अधिक व्यापक व विकसित हो गया। मुंज़र के नेतृत्व में विद्रोहियों की सर्वाधिक दृढ़-प्रतिज्ञ व संकल्पवान टोली ने थुरुंगिया में अपना मुख्यालय बनाया, जो कि लूथर के मुख्यालय के एकदम क़रीब था। कुछेक सफलताएँ और मिलतीं कि समूचा जर्मनी लपटों में घिरा होता। लूथर को घेर लिया गया तथा विश्वासघाती के रूप में उसे संभवतः बरछे का निशाना बना दिया गया। बर्गर सुधार किसान—साधारण जन क्रांति के ज्वार के सामने टिक न सका—उसके पैर उखड़ गये। चौकसी के लिए अब समय बचा नहीं था। क्रांति को सामने खड़ा देख तमाम-तमाम पुरानी शत्रुताएँ भुला दी गयीं। किसानों के झुंडों की तुलना में रोमन सोडम के सेवक निर्दोष मेमने ईश्वर के भोले-भाले अबोध शिशु बन गये। बर्गर एवं राजा, अभिजात एवं पुरोहित, लूथर एवं पोप इन सभी ने 'हत्यारे तथा लूटमार करने वाले किसान-झुंडों के ख़िलाफ़'[1] हाथ मिला लिये।

---

1. यह लूथर द्वारा मई 1525 में किसान आंदोलन के ख़िलाफ़ प्रकाशित दुर्भावनापूर्ण व कुत्सित पैंफ़लेट का शीर्षक था। उस समय किसान आंदोलन अपने प्रचंडतम दौर से गुज़र रहा था।

''उन्हें **टुकड़ा–टुकड़ा कर दिया जाना चाहिए,** हर किसी द्वारा जो भी समर्थ है, **खुले अथवा छुपे तौर पर उनका गला गोंट दिया जाना चाहिए, उन पर छुरे से प्रहार किया जाना चाहिए;** उसी तरह उन्हें मार दिया जाना चाहिए, **जैसे पागल कुत्ते को मार दिया जाता है!** '' लूथर ने चिल्लाकर कहा ''इसलिए मित्रो ! यहाँ मदद दो, वहाँ बचाओ, जो कोई भी कर सकता है, जहाँ भी उन्हें छुरा मार दो, उन्हें मार गिराओ, उनका गला घोंट दो ! और ऐसे में यदि तुम्हारी जान भी चली जाये तो अपने आप को धन्य मानो, इससे अच्छी मृत्यु तो तुम्हें कभी नहीं मिल सकती।''

किसानों पर किसी तरह की दया नहीं की जानी चाहिए। ईश्वर जिस पर दया नहीं करता, जिसे वह दंडित व विनष्ट देखना चाहता है, उस पर दया करने वाले हर व्यक्ति को जगह विद्रोहियों के बीच ही है। बाद में किसान ईश्वर को धन्यवाद देना ख़ुद सीख लेंगे जब उन्हें अपनी एक गाय का शांतिपूर्वक उपभोग करने के बदले दूसरी गाय दे देनी पड़ेगी और इस क्रांति से राजा भी उस भीड़ की आत्मा को जान लेंगे जिस पर केवल बल के ज़रिये शासन किया जाना चाहिए।

''ज्ञानी कहता है : **गधे के लिए घास, गट्ठर तथा चाबुक।** किसानों को भूसे के अलावा कुछ नहीं मिलना चाहिए। वे (पवित्र) शब्द की परवाह तक नहीं करते हैं और मूर्ख हैं, इसलिए उन्हें बेंत और बंदूक की बात ही सुननी चाहिए, उनका बस यही इलाज है। हमें उनके लिए प्रार्थना करनी चाहिए कि वे हमारी आज्ञा मानें। जहाँ वे ऐसा नहीं करते, वहाँ कोई दया नहीं होनी चाहिए। **उनके बीच बंदूक़ों को दनदनाने दो,** नहीं तो वे हमारे लिए हज़ार गुना बदतर हालात पैदा कर देंगे।''

बिल्कुल यही बात हमारे स्वर्गीय समाजवादी तथा परोपकारी पूँजीपति वर्ग ने कही––जब सर्वहारा वर्ग ने मार्च की घटनाओं के बाद विजय के फ़लों में अपना हिस्सा माँगा।

लूथर ने बाइबिल का अनुवाद करके साधारण जन के आंदोलन के हाथों में एक शक्तिशाली हथियार धर दिया था। बाइबिल के ज़रिये ही उसने अपने युग के सामंतीकृत ईसाई धर्म तथा पहली शताब्दी के सीधे–सादे ईसाई धर्म का फ़र्क़ उजागर किया था तथा पतनशील सामंती समाज के चित्र की तुलना उस समाज (जहाँ जटिल एवं कृत्रिम सामंती पद–सोपान अकल्पनीय था) के चित्र से करके दोनों समाजों के फ़र्क़ को उजागर किया। किसानों ने अभिजात वर्ग, राजाओं तथा पुरोहित वर्ग के ख़िलाफ़ इस हथियार का व्यापक इस्तेमाल किया था और ऐसी स्थिति में लूथर ने बाइबिल का इस्तेमाल किसानों के ख़िलाफ़ करना शुरू

कर दिया; उसने ऐसा असली मंत्र ढूंढ–ढाँढकर जो ईश्वर–अभिषेकित सत्ताधारी अधिकारियों की प्रशस्ति गान के समतुल्य ही था; निरंकुश राजतंत्र के तलुवे चाटने वाले भी ऐसा मंत्र नहीं नहीं खोज पाये थे। राजशाही (और वह तो ईश्वर की कृपा का परिणाम और है), अविकल आज्ञाकारिता और यही नहीं, कृषि दास व्यवस्था तक को बाइबिल की मदद से दैवीय स्वीकृति प्रचारित की गयी। इस तरह से न केवल किसान विद्रोह बल्कि चर्च तथा लौकिक सत्ता के ख़िलाफ़ स्वयं लूथर की बग़ावत का भी अस्वीकरण हो जाता है; यानी न केवल जन आंदोलन बल्कि बर्गर आंदोलन के साथ भी विश्वासघात करके राजाओं की चाकरी की गयी।

क्या हमें पूँजीपति वर्ग के उस प्रतिनिधि का नाम लेने की ज़रूरत है, जिसने हाल ही में अपने स्वयं के अतीत के इसी तरह के अस्वीकरण के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं?

आइये, अब हम जन–क्रांतिकारी मुंज़र की बर्गर सुधारवादी लूथर से तुलना करें।

टामस मुंज़र का जन्म 1448 में हार्ज़ के स्टोल बर्ग में हुआ था। यह कहा जाता है कि उसके पिता को सूली पर चढ़ा दिया गया था; वह स्टोलबर्ग की निरंकुशता व अत्याचार के शिकार हुए। पन्द्रह वर्ष की उम्र में मुंज़र ने हाले के एक स्कूल के मैग्देबर्ग के आर्कबिशप तथा कुल मिलाकर रोमन चर्च के ख़िलाफ़ एक गुप्त संगठन बनाया। अपने युग के धर्मशास्त्र के ज्ञान की बदौलत उसे डॉक्टर की उपाधि तो मिली ही, हाले स्थित एक मठ (जहाँ धर्म–संघिनियाँ रहती थीं) में धर्माधिकारी का पद भी प्राप्त हो गया था। यहाँ रहते हुए उसने चर्च के जड़ सूत्रों व पूजा–पाठ के प्रति बेहद घृणा–भाव प्रदर्शित किया। सुबह की प्रार्थना में उसके तत्त्व–परिवर्तन के शब्दों को छोड़ दिया और जैसा कि लूथर ने कहा सर्वशक्तिमान देवताओं को अप्रतिष्ठित कर दिया। उसके अध्ययन के मुख्य विषय थे मध्ययुगीन रहस्यवादी और ख़ासकर सहस्राब्दी स्वप्न–दर्शन से जुड़ी केलाब्रिया के योख़िम की कृतियाँ। धर्मसुधार तथा अपने युग की आम बेचैनी के परिप्रेक्ष्य में सहस्राब्दी तथा पतित एवं भ्रष्ट चर्च का फ़ैसले का दिन— जैसा कि उस रहस्यवादी ने प्रस्तुत किया था, मुंज़र को एकदम निकट दिखाई देने लगा। उसने आसपास के इलाक़े में सफलतापूर्वक उपदेश दिये। 1520 में वह ज़्विकौ गया, सबसे पहले सुसमाचारी उपदेशक (इवेंजेलीकल) के रूप में गया और वहाँ उसको कट्टर सहस्राब्दी पंथों में से एक के अनुयायियों के मौजूद होने का पता चला। वे लोग अलग–अलग बस्तियों, मोहल्लों में चुपचाप जीवन यापन कर रहे थे; उनके क्षणिक हताशा तथा संन्यास के पीछे मौजूदा परिस्थितियों के प्रति समाज के निम्नतम संस्तरों का तीव्र से तीव्रतर होता विरोध

छिपा हुआ था। वे लोग चढ़ती बेचैनी के साथ-साथ पहले से कहीं अधिक साहस व लगन के साथ खुले में आ गये। यह पंथ एनाबैप्टिस्टों[1] का था जिसका नेतृत्व निकलस स्टोर्क के हाथों में था। ये लोग फ़ैसले के दिन तथा सहस्राब्दी के निकट आते जाने के बारे में ही उपदेश देते थे; उन्हें दिव्य-स्वप्न दिखाई देते थे, जो उन्हें भाव-विभोर कर देते थे तथा भविष्यवाणी करने में सहायक होते थे। उनका जल्दी ही ज़्विकौ की परिषद से टकराव हो गया। मुंज़र ने उनका बचाव किया, हालाँकि वह कभी भी बिना शर्त उनमें शामिल नहीं हुआ था। वह तो उन्हें अपने स्वयं के प्रभाव में ले आया होता। परिषद ने उनके ख़िलाफ़ कड़ी कार्रवाई की; उन्हें नगर छोड़ देना पड़ा, मुंज़र ने भी उनके साथ ही नगर छोड़ दिया। यह बात 1521 के आख़िरी दिनों की है।

वह प्राग चला गया और वहाँ पहुँचकर उसने हसपंथी[2] आंदोलन के अवशेषों के साथ सम्मिलित होना चाहा। पर ऐसा करने की घोषणा मात्र से उसे बोहेमिया भी छोड़ देने को विवश होना पड़ा। 1522 में वह थुरंगिया के आल्सतेद्त में उपदेशक बन गया। यहाँ उसने मत-सुधार का काम शुरू कर दिया। लूथर तो जब तक इतना आगे जाने का साहस भी नहीं कर पाया, मुंज़र ने लैटिन भाषा को पूरी तरह से तिलांजलि दे दी और आदेश दिया जाए कि संपूर्ण बाइबिल का, न कि केवल स्वीकृत रविवारीय सिद्धांतों व काव्यपत्रों का पाठ लोगों के सामने किया जाए। साथ ही, उसने अपने इलाक़े में प्रचार-कार्य को भी संगठित-संचालित किया। सब तरफ़ से लोगों के झुंड उसके इर्द-गिर्द आकर मँडराने लगे थे तथा जल्दी आल्सतेद्त समूचे थुरंगिया के पुरोहित-विरोधी जन-आंदोलन का केन्द्र बन गया।

मुंज़र अभी तक कुछ भी और होने से पहले धर्मशास्त्री ही था। वह अभी भी अपने हमलों का निशाना पुरोहितों को ही बनाता था। फिर भी वह शांत बहस तथा शांतिपूर्ण प्रगति की शिक्षा नहीं देता था, जैसा कि लूथर ने तो पहले से ही करना शुरू कर दिया था; उल्टे उसने तो लूथर के पहले वाले उग्र उपदेशों को ज़ारी रखा, जिनमें सैक्सनी के राजाओं व जनता का आह्वान किया था, रोमन पुरोहितों के ख़िलाफ़ हथियार उठाने के लिए उठ खड़े होने का।

''क्या ईसा मसीह यह नहीं कहते 'मैं आया शांति लाने के लिए नहीं, बल्कि तलवार'? तुम्हें (सैक्सनी के राजाओं) तलवार से क्या करना चाहिए? केवल एक चीज़, यदि

1. यह पंथ शिशु-बपतिस्मा की वैधता को अस्वीकार करता था तथा यह नहीं मानता था कि बपतिस्मा सिर्फ़ श्रद्धालुओं का होना चाहिए। चर्च व राज्य के संपूर्ण प्रथक्करण का यह पंथ समर्थक था। इसके अनुयायी विभिन्न प्रोटेस्टेंट संप्रदायों में से किसी एक से जुड़े थे।— अनु.

2. हस, चैकोस्लोवाकिया के महान धर्म सुधारक तथा शहीद। उन्हीं के नाम पर यह पंथ।— अनु.

तुम ईश्वर के सेवक बना चाहते हो और वह यह कि धर्म–मत के रास्ते में जो भी पापी लोग खड़े हैं उन्हें खदेड़ दो व ख़त्म कर दो। ईसा ने बड़ी संजीवनी से आदेश दिया था (लूक, 19, 27) : 'मेरे शत्रुओं को यहाँ लाओ और उन्हें मेरे सामने ही मार दो।' हमें इन थोथे जुमलों की ज़रूरत नहीं है कि तुम्हारी तलवार भी तो म्यान में ज़ंग खायेगी .... ईश्वर द्वारा उद्घाटित ज्ञान के रास्ते में जो भी खड़े हैं उन्हें निर्दयतापूर्वक ख़त्म कर दिया जाना चाहिए जैसे हेज़किया, साइरस, योसिया, डेनियल तथा एलियास ने बाल के पुरोहितों को ख़त्म कर दिया था, वरना ईसाई चर्च अपने स्रोत तक लौटकर कभी नहीं आयेगा। फ़सल के समय हमें ईश्वर के अंगूर-बाग़ में से ख़रपतवार को उखाड़ फेंकना चाहिए ... ईश्वर ने मोज़ेज की 5वीं पुस्तक 7 में कहा था : 'तुम्हें हरामख़ोरों पर दया नहीं दिखानी है, बल्कि उनकी वेदियों को नष्ट कर देना है, उनकी मूर्तियों को तोड़ देना है तथा उन्हें आग में जला देना है, ताकि मुझे तुम पर गुस्सा न आये'।"

पर राजाओं से की जाने वाली ये अपीलें बेकार गयीं, जबकि जनता के बीच क्रांतिकारी भावनाएँ दिन-ब-दिन उग्र से उग्रतर होती गयीं। मुंज़र ने, जिसके विचार पहले कभी की तुलना में अब अधिक स्पष्ट, सुपरिभाषित तथा साहसिक होते चले गये, बर्गर सुधारवाद से अपने को दृढ़ता से अलग कर लिया तथा इसके बाद से सोलह आना राजनीतिक आंदोलनकर्ता बन गया।

उसके दार्शनिक-धर्मशास्त्रीय सिद्धांत ने न केवल कैथोलिकवाद, बल्कि मोटे तौर पर ईसाई धर्म के सभी मुख्य बिंदुओं पर प्रहार किया। ईसाई धार्मिक रूपों के आवरण के तहत उसने एक प्रकार के सर्वेश्वरवाद को प्रचारित किया जो आधुनिक मीमांसात्मक चिन्तन[1] से मेल खाता है और निरीश्वरवाद के निकट भी पहुँच जाता है। उसने एकमात्र अथक अचूक-अकाट्य दिव्य ज्ञान के स्रोत के रूप में बाइबिल का खंडन किया। उसने कहा कि वास्तविक तथा जीवंत दिव्य ज्ञान तर्कबुद्धि है जो हर काल में समस्त जनगणों के बीच विद्यमान रहा है। वह इस बात पर डटा रहा कि तर्कबुद्धि के ख़िलाफ़ बाइबिल से चिपके रहने का मतलब है — अक्षर से आत्मा को मार देना, क्योंकि जिस परम तत्त्व की बात बाइबिल करती है उसका हम से परे कोई अस्तित्व थोड़े ही है। हमारी तर्कबुद्धि ही तो वह परम तत्त्व है। आस्था इसके अलावा क्या है कि वह तर्कबुद्धि के बल पर तथा उसके ज़रिये मनुष्य में जीवंत-मूर्तरूप धारण

---

1. एंगेल्स यहाँ जर्मन भाववादी दार्शनिक स्टॉसके (फ़ायरबाख़ के भी) विचारों का हवाला दे रहे हैं, जिन्होंने अपनी आरंभिक रचनाओं में धार्मिक प्रश्नों पर एक सर्वेश्वरवादी दृष्टिकोण अपनाया था।

करती है और इस लिहाज़ से एक बहुदेववादी व्यक्ति भी आस्थावान हो सकता है। इस आस्था के ज़रिये, जीवंत तर्कबुद्धि के ज़रिये मनुष्य देवतुल्य व धन्य हो गया। इसलिए स्वर्ग किसी दूसरे लोक की चीज़ नहीं है बल्कि इसी जीवन में खोजा-पाया जाना चाहिए; इसलिए सभी आस्तिकों का प्रमुख कार्य-भार इस स्वर्ग—ईश्वर के राज्य—को यहीं धरती पर क़ायम करना है। जैसे यहाँ से परे कोई स्वर्ग नहीं है, ठीक वैसे ही यहाँ से परे न तो कोई नरक है और न कोई यातना-यंत्रणा। इसी तरह मनुष्य की दूषित प्रवृत्तियों—काम, लोभ आदि के अलावा कोई शैतान नहीं है। ईसा वैसे ही एक मनुष्य थे जैसे हम हैं; वह भविष्य-द्रष्टा व शिक्षक थे तथा उनका यूखारिस्त (परम-प्रसाद) सिर्फ़ स्मरणोत्सव भोजन है जिसमें रोटी व सुरा का बिना किसी रहस्यात्मक अलंकरण के उपभोग किया जाता है।

मुंज़र ने इन सिद्धांतों का प्रचार अधिकांशतः उसी ईसाई शब्दावली के आवरण में किया, जिसके नीचे नये दर्शन को कुछ समय तक छिपा रहना पड़ा था। किन्तु प्रमुख मतांतरीय मूलभूत विचार को उसके समस्त लेखन में आसानी से देखा जा सकता है और जाहिर है कि उसने आधुनिक काल में हेगेल के अनेकानेक शिष्यों की तुलना में भी बाइबिल के लबादे (आवरण) का सहारा कम निष्ठा के साथ ही लिया और फिर यह भी तो देखिये कि तीन सौ वर्ष का समय मुंज़र को आधुनिक काल से पृथक करता है।

मुंज़र का राजनीतिक सिद्धांत उसकी क्रांतिकारी धार्मिक अवधारणाओं का अनुगमन करते थे और जिस प्रकार उनके धर्मशास्त्र ने उनके युग की प्रचलित अवधारणाओं का अतिक्रमण किया, ठीक उसी प्रकार उसका राजनीतिक सिद्धांत भी तत्कालीन सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों से बहुत आगे निकल गया। जैसे मुंज़र का धार्मिक दर्शन निरीश्वरवाद के निकट जा पहुँचा था, ठीक वैसे ही उसका राजनीतिक कार्यक्रम कम्युनिज़्म के निकट आ पहुँचा था। यही नहीं, फ़रवरी क्रांति की पूर्व संध्या तक पर एक से अधिक ऐसे आधुनिक क़म्युनिस्ट सम्प्रदाय क्रियाशील थे जिनके पास उतना सुसज्जित सैद्धांतिक अस्त्रागार नहीं था जैसा कि 16वीं शताब्दी में मुंज़र के पास था। इस कार्यक्रम में— जो कि उस ज़माने के साधारण जन की माँगों का संकलन उतना नहीं था, जितना कि सर्वहारा तत्त्वों (जो साधारण जन के बीच अभी ढंग से उभरने भी नहीं लगे थे) की मुक्ति की परिस्थितियों का स्वप्नद्रष्टा पूर्वानुमान अधिक था— की प्रमुख माँग थी— ईश्वर के राज्य की उस सहस्राब्दी की जिसकी भविष्यवाणी की गई थी-तुरन्त स्थापना। चर्च की उसकी आदि-अवस्था के अनुरूप पुनर्स्थापना; कथित आरंभिक ईसाई (किन्तु सारतः एक बिल्कुल नये) चर्च से जिन भी संस्थाओं का

विरोध-टकराव है, उनका पूर्ण उन्मूलन। ईश्वर के राज्य से मुंज़र ने जो अर्थ लिया था--- वह था ऐसा समाज जिसमें वर्ग-भेद न होंगे, निजी संपत्ति न होगी और समाज के सदस्यों से स्वतंत्र तथा उनके हितों के प्रतिकूल राज्य-शक्ति न होगी। वे तमाम मौजूदा सत्ताधारी शक्तियाँ जो इसे मानने तथा क्रांति में सम्मिलित होने को सहमत न होंगी, उन्हें उखाड़ फेंका जायेगा; तमाम काम व तमाम सम्पत्ति में सबका हिस्सा होगा तथा पूर्ण समानता लागू की जायेगी। इस सबको न केवल जर्मनी में बल्कि सम्पूर्ण ईसाई जगत् में क्रियान्वित करने के लिए एक संघ की स्थापना की जानी थी। राजाओं व सामंतों को सम्मिलित होने के लिए आमंत्रित किया जाना था। मना कर देने की हालत में संघ को हथियार उठाने थे तथा पहला मौक़ा पाते ही उन्हें उखाड़ फेंका जाना अथवा मार दिया जाना था।

मुंज़र ने तत्काल संघ को संगठित करने काम शुरू कर दिया। उसके उपदेशों ने और भी अधिक आक्रामक तथा क्रांतिकारी रूप धारण कर लिया। राजाओं, अभिजात वर्ग तथा कुलीनों के विरुद्ध उसकी दहाड़ में वही आवेश था जो पुरोहितों पर किये गये हमलों में था। उसने मौजूदा दमन को अग्निम् रंगों में चित्रित किया तथा सामाजिक गणतंत्रीय समानता की सहस्राब्दी के अपने स्वप्नदर्शन के ज़रिये उसकी काट की। उसने एक के बाद एक करके अनेक क्रांतिकारी पैंफ़लेट प्रकाशित किये तथा सभी दिशाओं में अपने विशेष दूत भेजे और वह स्वयं आल्सतेद्त में तथा आसपास के इलाक़े में संघ को व्यक्तिगत तौर पर संगठित करने का काम करता रहा।

इस प्रचार का पहला फल यह था कि आल्सतेद्त के निकट मैलरबाख़ में, बाइबिल (जर्मन 7, 6) के आदेश के अनुरूप, मरियंकपेले को ध्वस्त कर दिया गया : 'तुम उनकी वेदियों को नष्ट कर दोगे, उनकी मूर्तियों को तोड़ दोगे तथा उनकी मूर्तियों को आग में डालकर जला दोगे।' सैक्सनी के राजागण विद्रोह को दबाने के लिए ख़ुद चलकर आल्सतेद्त आये और उन्होंने महल में मुंज़र को बुलवाया। वहाँ उसने जो उपदेश दिया वैसा उन्होंने लूथर (जिसे मुंज़र 'विटेन बर्ग का वह एय्याश' कहकर पुकारता था) से कभी नहीं सुना था। मुंज़र इस बात पर क़ायम रहा कि उन अधर्मी शासकों---ख़ासकर पुरोहितों व संन्यासियों---को मार ही दिया जाना चाहिए जो धर्म-सिद्धांत को मतांतर मानते हैं तथा इसकी पुष्टि के लिए उसने न्यू टेस्टामेंट का हवाला दिया। ईश्वर के प्रतिनिधियों की दया के बिना अधर्मियों को जीने का कोई हक़ नहीं है। यदि राजा अधर्मियों का नाश नहीं करेंगे, तो ईश्वर उनके हाथों से उनकी

तलवारें छीनकर अपने हाथ में ले लेगा, **क्योंकि समूचे समाज के पास तलवार की ताक़त होती है।** राजा तथा सामंत ही अपहरण, चोरी-चकारी तथा लूट-पाट के मुख्य प्रवर्तक हैं; वे सभी जीवों—पानी में मछली, हवा में पक्षी, ज़मीन में पौधे—को अपने निजी अधिकार में ले लेते हैं और फिर भी ग़रीबों को इस निर्देश का ('तू चोरी नहीं करेगा') पाठ पढ़ाते हैं—जबकि वे स्वयं सब कुछ को जो कुछ भी उनके हाथ लगता है हड़प लेते हैं; किसान एवं दस्तकार को लूटते व उसका दमन करते हैं और जब इनमें से कोई छोटा-सा अतिक्रमण भी कर देता है तो उसे फाँसी पर चढ़ा दिया जाता है और डॉ. लुग्नर इस सब पर कहता है : तथास्तु (आमीन)।

"मालिक लोग ही इस बात के दोषी हैं कि ग़रीब आदमी उनका दुश्मन बन जाता है। यदि वे विद्रोह के कारणों को दूर नहीं करेंगे तो आने वाले समय में चीज़ें ठीक कैसे होंगी? अरे ! भले आदमियों, ईश्वर इन तौंदिल बूढ़ों को लोहे की शलाका से कितनी चोट पहुँचायेगा ! मैं यदि यह कह दूँ, तो लोग उत्तेजित हो जाएंगे। तथास्तु ! "[1]

मुंज़र ने इस उपदेश को छपवा लिया था। उसके आल्सतेद्त स्थित मुद्रक को सैक्सनी के ड्यूक जोहान्न ने देश-निकाला की सज़ा दी। इसके बाद से मुंज़र की रचनाओं के सम्बन्ध में वाइमार ड्यूक की सरकार द्वारा सेंसर किये जाने का आदेश भी दिया गया। लेकिन मुंज़र ने इस आदेश की क़तई परवाह नहीं की। उसने बिना कोई समय गँवाये, मुलहासेन के शाही शहर में एक बेहद भड़काने वाला पर्चा[2] प्रकाशित किया जिसमें उसने लोगों से-

"छेद को बड़ा कर देने का आह्वान किया, ताकि सारी दुनिया यह देख व समझ सके कि हमारे वे महान् पात्र कौन हैं जिन्होंने हमारे परमेश्वर को एक रँगे हुए पुतले में बदल देने का कुत्सित तथा निंदनीय काम किया है।"

तथा जिसका समापन इन शब्दों के साथ हुआ :

"सारी दुनिया को एक बड़ा झटका लगना चाहिए। एक ऐसा खेल खेला जायेगा कि अधर्मी लोगों को उनकी सीटों से उठाकर फेंक दिया जायेगा तथा पददलित लोग उठ खड़े होंगे।"

---

1. डब्ल्यू. ज़िमरमान, 'महान् किसान युद्ध का सामान्य इतिहास', खंड 2, स्टुटगार्ट, 1842, पृ. 75.
2. एंगेल्स मुंज़र के पैंफ़लेट 'परम्परा-विरुद्ध विश्व के बारे में मिथ्या धारणाओं का ल्यूक के सिद्धांत के साक्ष्य पर आधारित स्पष्ट खंडन— पीड़ित एवं दुखी ईसाई धर्म को उसकी ग़लतियों का स्मरण कराने के लिए प्रस्तुत। मुलहासेन में 1524 में प्रकाशित।

'हथौड़े वाले आदमी' टामस मुंज़र ने पहले पृष्ठ पर यह दृष्टि-वाक्य लिखा :

"देख, मैंने अपने शब्द तेरे मुँह में रख दिये हैं। आज के दिन मैंने तुझे जातिंयों तथा राजाओं के राज्यों के भी ऊपर जड़ दिया है कि तू उखाड़ सके, ध्वस्त कर सके, नष्ट कर सके तथा पटक मार सके; ताकि फिर तू निर्माण कर सके, रोप सके। राजा-महाराजों, पादरियों तथा इस देश की जनता के बीच लोहे की दीवार खड़ी कर दी गयी है। इन्हें लड़ना चाहिए जिससे कि मिलने वाली विजय अद्‌भुत ढंग से इन शक्तिशाली एवं अधर्मी अत्याचारियों को नरक की ओर रुख़सत कर देगी।"

लूथर तथा उसकी मंडली से मुंज़र का सम्बन्ध-विच्छेद तो काफ़ी समय पहले ही पक्का हो गया था और अब तो जग-ज़ाहिर भी हो गया था। लूथर मुंज़र द्वारा किये गये कई चर्च-सुधारों को उससे सलाह-मशविरा किये बग़ैर स्वीकार करने को विवश हुआ। वह मुंज़र की कार्यवाइयों पर एक उदारवादी-सुधारवादी के चिढ़युक्त अविश्वास के साथ नज़र रखे हुए था— शायद इसीलिए कि मुंज़र की पार्टी अधिक ऊर्जा-सम्पन्न और बहुत दूर तक निशाना लगाने की क्षमता से सम्पन्न थी। काफ़ी पहले, यानी 1524 के बसंत में ही मुंज़र ने मेलंख़्थोन (उत्तेजक घरघुस्सू कूपमंडूकों के सरताज) को पत्र में लिखा कि उसे (मेलंख़्थोन को) लूथर के आंदोलन की क़तई समझ नहीं थी। उसने यह भी लिखा कि वे बाइबिल के शब्दों के बोझ से आंदोलन का दम घोंट देने का प्रयास कर रहे थे और यह भी कि उनका सिद्धांत घुना हुआ (जिसे घुन लग गया हो) था।

'प्रिय भाइयों'! उसने लिखा "अपने टालमटोल तथा ढुलमुलपन से छुट्टी पाओ। समय आ गया है, गरमी दरवाज़े पर दस्तक दे रही है। उन अधर्मियों के साथ दोस्ती मत रखो जो पवित्र शब्द को अपना पूरा असर दिखाने नहीं देते, उसके रास्ते में बाधाएँ खड़ी करते हैं। अपने राजाओं की चापसूली मत करो, नहीं तो तुम भी उनके साथ नष्ट हो सकते हो। ओ सुकुमार किताबी विद्वानों ! नाराज़ मत होना क्योंकि मैं तो अन्यथा कुछ कर ही नहीं सकता।"

लूथर ने एक से अधिक बार खुली बहस के लिए मुंज़र को चुनौती दी। हालाँकि मुंज़र जनता के सामने लड़ाई लड़ने को हमेशा उत्सुक रहता था। उसकी इस बात में क़तई दिलचस्पी

नहीं थी कि विटेनबर्ग विश्वविद्यालय की आंशिक जनता के समक्ष धर्मशास्त्रीय झगड़े में पड़ जाये। वह नहीं चाहता था कि हाई-स्कूल तक पढ़े-लिखे लोगों के सामने परमेश्वर का साक्ष्य प्रस्तुत किया जाये। यदि लूथर ईमानदार था तो उसे उसके (मुंज़र के) मुद्रक के ख़िलाफ़ की जाने वाली ज़्यादतियों को रुकवाने के लिए तथा सेंसरशिप उठवाने के लिए अपने प्रभाव को काम में लेना चाहिए था ताकि प्रेस के माध्यम से खुले तौर पर उनके विवाद के संदर्भ में लड़ाई लड़ी जा सकती।

पर अब, यानी अब मुंज़र का ऊपर वर्णित क्रांतिकारी पर्चा छपकर आ गया तो, लूथर ने खुले आम उसकी भर्त्सना-निंदा की। अपने **सैक्सनी के राजाओं को विद्रोही मनोवृत्ति के ख़िलाफ़ पत्र** में उसने मुंज़र को शैतान का हथियार घोषित करते हुए उनसे हस्तक्षेप करने की तथा विद्रोह भड़काने वालों को देश से खदेड़ देने की माँग की, क्योंकि वे अपने कुत्सित सिद्धांत के प्रचार तक अपने को सीमित न रखकर विद्रोह की सत्ता के ख़िलाफ़ हिंसक कार्यवाइयों की आग फैला रहे थे।

1 अगस्त को मुंज़र को बग़ावत उभाड़ने के आरोप में वाइमार महल में राजाओं के समक्ष उपस्थित होने को विवश कर दिया गया। उसके ख़िलाफ़ बेहद संकट में डालने वाले तथ्य सामने लाये गये; वे उसके गुप्त संघ की कार्यवाइयों को सूंघते फिर रहे थे (उनका सुराग़ लगाने की कोशिश कर रहे थे); खनिकों तथा किसानों के संगठनों में उसका हाथ (उसकी भागीदारी) ढूँढ निकाला गया। उसे देश-निकाला की धमकी दी गयी। वह आल्सतेदृत लौटा ही था कि उसे पता चला कि सैक्सनी के ड्यूक ग्योर्ग ने उसके प्रत्यर्पण (वापस किये जाने) की माँग कर दी थी। उसके हाथ से लिखे संघ के पत्र रास्ते में ही उड़ा लिये गये थे जिनमें उसने ग्योर्ग की प्रजा का धर्म-सिद्धांत के दुश्मनों के ख़िलाफ़ सशस्त्र प्रतिरोध के लिए आह्वान किया था। अगर वह वहाँ से चल नहीं देता तो उसको वापस कर ही देती।

इस बीच, किसानों व साधारण जन के बढ़ते असंतोष ने मुंज़र के प्रचार-कार्य को बेहद आसान बना दया था। ऐनाबैप्टिस्टों के रूप में उसे इस कार्य के लिए मूल्यवान सहयोगी मिल गये थे। यह सम्प्रदाय—जिसके कोई सुनिश्चित जड़सूत्र नहीं थे— समस्त शासक वर्गों के समान विरोध के आधार पर तथा दूसरे बपतिस्मा के प्रतीक चिह्न के आधार पर एकताबद्ध

बना रहा। ये लोग अत्यंत सादा जीवन जीते थे, प्रचार-कार्य संचालित करने की दृष्टि से अनथक, कट्टर व निर्भीक थे और ये मुंज़र से अधिकाधिक जुड़ते गये। उत्पीड़न के कारण गृहविहीन हो गये ये लोग समूची जर्मनी में घूमते रहते थे और जहाँ भी जाते थे नये सिद्धांत—(नयी शिक्षा) जिसमें मुंज़र ने उनकी माँगों व आकांक्षाओं को व्यक्त तो किया ही था, उन्हें समझा भी दिया था— का प्रचार-प्रसार करते। अनगिनत ऐनाबैप्टिस्टों को शिकंजे में फँसाकर यातना दी गयी, जला दिया गया या अन्यथा फाँसी लगा दी गयी; पर इन विशेष दूतों का साहस तथा सहन-शक्ति ऐसी थी कि कोई उन्हें डिगा ही न सके। जनता के बढ़ते असंतोष के बीच उनके क्रियाकलाप की सफलता बेजोड़ थी। इस प्रकार— थुरंगिया छोड़कर भागने पर मुंज़र जहाँ-जहाँ भी गया उसे ज़मीन पहले से ही तैयार मिली।

न्युरेंबर्ग के पास जहाँ मुंज़र पहले-पहल पहुँचा,[1] एक किसान-विद्रोह को एक महीना पहले ही कुचल दिया गया था। मुंज़र ने अपना प्रचार-कार्य चोरी-छिपे ही किया, पर फिर भी लोग जमा होने लगे तो बाइबिल की अबाध्यकारी प्रकृति तथा संस्कारों की निस्सारता के सम्बन्ध में उसकी अति-साहसी धार्मिक प्रस्थापनाओं (वह ईसा को मात्र मनुष्य मानता था तथा लौकिक सत्ताधारियों की शक्ति को अधर्मी मानता था) के समर्थक-रक्षक बन गये थे। लूथर ने उसके बारे में कहा था "वह भटकता हुआ शैतान है, आल्सतेद्त की प्रेतात्मा !" न्यूरेंबर्ग में मुंज़र ने लूथर[2] के नाम अपना जवाब छपवाया। उसने लूथर पर राजाओं की चापलूसी करने तथा अपनी उबाऊ उदारता के ज़रिये प्रतिक्रांतिकारी पार्टी को समर्थन देने का आरोप लगाया। उसने कहा कि फिर भी लोग स्वयं को मुक्त कर देंगे और डॉ. लूथर का वही अंजाम होगा जो बंदी लोमड़ी का होता है। परिषद ने पर्चे को ज़ब्त करने का आदेश दिया और मुंज़र को न्यूरेंबर्ग छोड़ना पड़ा।

यहाँ से वह स्वाबिया होकर पहले अलास्के और फिर स्विट्ज़रलैण्ड चला गया और

---

1. अधिक सटीक आंकड़ों के अनुसार, मुंज़र सबसे पहले मुलहासेन नगर गया, जहाँ उसे सितम्बर, 1524 में शहरी गरीबों के दंगों में भाग लेने के कारण देश-निकाला दे दिया गया। उसके बाद वह न्यूरेंबर्ग गया।
2. 1524 में लूथर को मुंज़र के छपे हुए उत्तर का शीर्षक था : 'विटेन वर्ग के अधर्मी अय्याश'— जिसने पवित्र ग्रंथ की बेशर्मीपूर्ण तोड़-मरोड़ के ज़रिये अभागे ईसाई धर्म को घृणित रूप से कलंकित किया है— को उत्तर तथा सु-आधारित प्रतिरक्षा।

वहाँ से वापस अपर ब्लैक फ़ारेस्ट चला गया; जहाँ मुख्यतः उसके ऐनाबैप्टिस्ट दूतों के प्रयासों के परिणामस्वरूप कई महीने पहले विद्रोह भड़क उठा था। मुंज़र की इस प्रचार-यात्रा ने जनता की पार्टी की स्थापना में उसकी माँगों के सुस्पष्ट सूत्रीकरण में तथा अप्रैल, 1525 में अंतिम किंतु व्यापक विद्रोह के उभार में निस्संदेह तथा बेहद महत्वपूर्ण योगदान किया था। इस यात्रा ने ख़ासतौर पर मुंज़र के क्रियाकलाप के दोहरे प्रभाव को उजागर किया— एक ओर तो उन लोगों पर जिन्हें वह उस भाषा में ही सम्बोधित किया करता था जिसे वे समझ सकते थे, यानी धार्मिक भविष्यवाणी की भाषा में; तथा दूसरी ओर दीक्षितों पर— जिनके सामने वह अपने चरम लक्ष्यों के सम्बन्ध में भी खुलकर बात कर सकता था। यात्रा पर निकलने से पूर्व ही उसे थुरंगिया में जनता के बीच से तथा निम्न पुरोहित वर्ग से निकले दृढ़-संकल्पशील व्यक्तियों का समूह तैयार कर लिया था तथा उन्हें उसने अपने गुप्त संगठन का नेतृत्व सौंप दिया था।अब वह दक्षिण-पश्चिम जर्मनी के समूचे के समूचे क्रांतिकारी आंदोलन की जान बन गया था। उसने स्वाबिया तथा फ्रांको निया से लेकर अलास्के तथा स्विट्ज़रलैंड की सीमा तक सैक्सनी एवं थुरंगिया के बीच सम्बन्ध क़ायम किये। उसे अपने शिष्यों तथा संघ के नेतृत्व के रूप में दक्षिण जर्मन आंदोलनकर्त्ताओं—जैसे वाल्दशट के हबमायर, ज़ूरिख के कोनराद ग्रेबेल, ग्रिएसेन के फ्रांज़ रबमान, मेमिंगेन के शापेलर, लाइपहाइम के जैकब वेहे, स्टुटगार्ट के डॉ. मेंतेल—पर बहुत ज़्यादा भरोसा था। इनमें से अधिकांश क्रांतिकारी पादरी थे। वह स्वयं अधिकांश समय शाफ़ हासेन सीमा पर ग्रिएसेन में ही रहा और वहाँ से हेगाऊ तथा क्लेतगाऊ क्षेत्रों की यात्रा करता रहा। हर जह डरे हुए राजाओं व सामंतों द्वारा इस नये साधारण जन-मतांतर के विरुद्ध चलाया गया ख़ूनी उत्पीड़न अभियान न तो विद्रोह की भावना को हवा देने और न समाज की श्रेणियों को सुदृढ़ करने में ही कोई योगदान कर पाया। इस प्रकार मुंज़र ने क़रीब पाँच वर्ष तक ऊपरी जर्मनी में अपना आंदोलन चलाया जहाँ से वह उस समय थुरंगिया लौट आया जब विद्रोह की शुरुआत नज़दीक दिखायी दे रही थी; वह व्यक्तिगत रूप से आंदोलन का नेतृत्व करना चाहता था। हमें बाद में वह नहीं मिलेगा।

हम यह देखेंगे कि इन दो पार्टी नेताओं के चरित्र तथा व्यवहार में उनकी अपनी-अपनी पार्टियों का नज़रिया कितने वास्तविक रूप में प्रतिबिंबित हुआ था? कि किस तरह लूथर के

मन में आंदोलन (जो गम्भीर तथा व्यापक होता जा रहा था) को लेकर अनिश्चय व डर तथा राजाओं के प्रति उसकी कायरतापूर्ण दासता बर्गरों की झिझक-भरी तथा अस्पष्ट नीति से पूरी तरह मेल खाती थी। साथ ही यह भी कि किस तरह मुंज़र की क्रांतिकारी ऊर्जा तथा दृढ़ता साधारण जन व किसानों के सर्वाधिक आगे बढ़े हुए हिस्सों में भी पैदा हो गयी। एकमात्र अंतर यह था कि जहाँ लूथर ने अपने वर्ग के बहुमत की आकांक्षाओं तथा धारणाओं की अभिव्यक्ति देने तक सीमित करके बेहद सस्ती लोकप्रियता हासिल की; वहाँ मुंज़र इसके विपरीत, साधारण जन तथा किसानों की तात्कालिक धारणाओं तथा माँगों से बहुत आगे चला गया तथा उसने पहल-पहल तत्कालीन क्रांतिकारी तत्त्वों के अभिजात वर्ग की पार्टी गठित की, जो (जहाँ तक उसके विचारों व ऊर्जा में भागीदारी का सवाल है) कुल मिलाकर विद्रोही जन-समूह के लघु अल्पमत से अधिक कभी भी नहीं था।

एंगेल्स का पत्र मार्क्स के नाम

लंदन में

मांचेस्टर,
26 मई (के आसपास) 1853

.....कल मैंने अरबी शिलालेखों के बारे में वह पुस्तक[1] पढ़ी जिसके बारे में मैंने आपसे चर्चा की थी। कुल मिलाकर इसमें रोचकता का अभाव नहीं है, हालाँकि ऊपर से नीचे तक इस पर पादरी–बाइबिल पक्ष–पोषण की छाप कहीं भी देखी जा सकती है। उसकी सबसे बड़ी विजय यह सिद्ध कर पाने में कि गिब्बन ने प्राचीन भूगोल में कुछ बड़ी ग़लतियाँ की थीं तथा उससे यह निष्कर्ष निकालने में निहित है कि **गिब्बन** का धर्मशास्त्र भी आपत्तिजनक है। आदरणीय (रेवरेंड) चार्ल्स फ़ोर्स्टर द्वारा लिखित इस पुस्तक का शीर्षक है— **अरब का ऐतिहासिक भूगोल**। इसका सार निम्नलिखित है:

1. उत्पत्ति ग्रंथ में दिया गया (नोआह तथा एब्राहम से संबंधित) वंश क्रम, उस काल के बेदिन क़बीलों की सूची (नाम–निर्देशन)— उनके कमोबेश बोलीगत सादृश्य (सगोत्रता) के अनुरूप— काफ़ी ठीक–ठीक है। जैसा कि हम जानते हैं बेदिन क़बीले आज तक अपने आपको बेनी सलेद, बेनी यूसुफ़ आदि (यानी फ़लाँ–फ़लाँ के पुत्र) पुकारते आये हैं। प्राचीन पितृसत्तात्मक अस्तित्व–विधि से उत्पन्न होने वाला यह (जातिवाचक) नाम अन्त में इस प्रकार के वंशक्रम को जन्म देता है। उत्पत्ति ग्रन्थ में जो सूची दी गयी है सभी प्राचीन भूगोलविदों ने उसकी कमोबेश पुष्टि ही की है। हाल ही के यात्रियों ने यह सिद्ध किया है कि पुराने नाम बोलीगत परिवर्तन सहित बड़ी संख्या में आज भी प्रचलित हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि खुद यहूदी भी एक छोटे से बेदिन

---

1. चार्ल्स फ़ोर्स्टर, **अरब का ऐतिहासिक भूगोल, अथवा ईश्वरादिष्ट धर्म के पितृसत्तात्मक साक्ष्य,** खंड 1 व 2, लंदन, 1844—संपा.

क़बीले से अधिक कुछ नहीं थे; जिन्हें स्थानीय परिस्थितियों, कृषि तथा ऐसी ही अन्य चीज़ों ने दूसरे बेदिनों के विरुद्ध खड़ा कर दिया था।

2. महान् अरब आक्रमण—जिसके बारे में हमने पहले चर्चा की थी— के संबंध में : कि मंगोलों की तरह बेदिनों ने भी आवर्ती (समय-समय पर) आक्रमण किये, कि असीरियाई साम्राज्य— तथा बाबुल (बेबीलोन) साम्राज्य—की स्थापना बेदिन क़बीलों ने उसी जगह पर की जहाँ बाद में बग़दाद के ख़लीफ़ा-राज्य का उदय हुआ। बाबुल साम्राज्य के संस्थापक, खालेदवंशी, तो आज भी वही नाम (बेनी खालेद) धारण किये हुए उसी इलाक़े में विद्यमान हैं। निनीव तथा बेबीलोन जैसे बड़े शहरों का उदय ठीक उसी प्रकार हुआ जैसे आज से सिर्फ़ तीन सौ वर्ष पहले अफ़ग़ान अथवा तातार आक्रमण के परिणाम स्वरूप भारत में आगरा, दिल्ली, लाहौर तथा मुल्तान की स्थापना हुई। इस प्रकार मुस्लिम आक्रमण की विशिष्टता काफ़ी कुछ कम हो जाती है।

3. ऐसा प्रतीत होता है कि दक्षिण-पश्चिम में बसे हुए अरब लोग उतने ही सभ्य थे जितने कि असीरियाई तथा मिस्री लोग थे; जैसा कि उनके द्वारा निर्मित भवनों से सिद्ध होता है। मुस्लिम आक्रमण के बारे में इससे भी काफ़ी कुछ स्पष्ट होता है। जहाँ तक धार्मिक गप का संबंध है, दक्षिण में पाये जाने वाले शिलालेखों से यह निष्कर्ष निकलता प्रतीत होता है जिनमें एकेश्वरवाद की प्राचीन जातीय— अरबी परंपरा अभी भी प्रभुत्वशाली बनी हुई है (जैसा कि अमरीकी भारतीयों के साथ भी है) तथा यहूदी परंपरा जिसका छोटा-सा भाग मात्र है; कि मोहम्मद की धार्मिक क्रांति, प्रत्येक धार्मिक आन्दोलन की तरह ही, एक प्रतिक्रिया मात्र थी— पुराने,सादा रीति-रिवाज़ों की ओर कथित वापसी।

तथाकथित यहूदी धर्म-ग्रंथ प्राचीन अरबी धार्मिक एवं क़बीलाई परंपरा के अभिलेख से अधिक कुछ नहीं है तथा जिसे अपने समोद्भव किन्तु घूमंतु पड़ोसियों से यहूदियों के आरंभिक पार्थक्य ने संशोधित कर दिया था— यह मेरे तईं अब एकदम साफ़ है। यह तथ्य कि अरब की तरफ़ फ़िलिस्तीन रेगिस्तान—बेदिन भूमि—से घिरा हुआ है उनके विशिष्ट विकास का ख़ुलासा कर देता है। किन्तु प्राचीन अरबी शिलालेख, परंपराएँ, कुरान तथा वह सहजता जिससे अब सभी वंशक्रम उद्घाटित किये जा सकते हैं, यह सिद्ध करते हैं कि मुख्य अंतर्वस्तु अरबी या यों कहें, आमतौर से सामी थी। ऐडा (धार्मिक विषयों पर लिखी कविताओं का संकलन—अनु.) तथा जर्मन शौर्य गाथा के संबंध में भी स्थिति लगभग ऐसी ही है।

आपका

फ्रेडरिक एंगेल्स

मार्क्स का पत्र एंगेल्स के नाम

मांचेस्टर में

लंदन, 2 जून, 1853

..... यहूदियों तथा अरबों के संबंध में आपका पत्र मुझे अत्यन्त रुचिकर लगा। प्रसंगवश : 1. पूरब के सभी क़बीलों के बीच तथा क़बीलों के एक हिस्से के बसने और अन्य क़बीलों के सतत् घूमंतु जीवन (इस प्रक्रिया के आरम्भ से ही) के बीच एक **सामान्य संबंध** सिद्ध किया जा सकता है। 2. मोहम्मद के ज़माने के यूरोप से एशिया तक का व्यापारिक मार्ग महत्वपूर्ण रूप से संशोधित हो गया था तथा अरब के शहर—जिनका भारत आदि के साथ व्यापार में काफ़ी बड़ा हिस्सा था— वाणिज्यिक पतन की अवस्था में थे; इसने भी बहरहाल आवेग प्रदान किया। 3. जहाँ तक धर्म का संबंध है— प्रश्न स्वयं का एक सामान्य तथा इसलिए आसानी से उत्तर दिये जा सकने वाले रूप में समाधान पाता है : पूरब का इतिहास धर्मों के इतिहास के रूप में क्यों प्रकट होता है?

पूरब के शहरों के निर्माण के बारे में फ्राकोय बर्नियर (जो 9 वर्ष तक औरंगजेब के चिकित्सक रहे थे) की पुस्तक **'महान् मुग़ल के राज्यों का वर्णन करने वाली यात्राएँ'** से अधिक प्रतिभायुक्त, सजीव तथा प्रभावशाली सामग्री तो पढ़ने को कहीं मिल ही नहीं सकती है। उन्होंने सैन्य-प्रणाली का भी सुंदर वर्णन किया है कि उन महान् सेनाओं को क्या भोजन दिया जाता था? आदि। इन दो मुद्दों पर उन्होंने अन्य चीज़ों के अलावा यह टिप्पणी की है:

''घुड़सवार सेना प्रमुख प्रखंड को निर्मित करती है, पैदल सेना उतनी बड़ी नहीं हैं जितनी की आम अफ़वाहें बताती है— हाँ, अगर सेना के पीछे चलने वाले नौकर-चाकरों तथा बाजारों के लोगों को भी सेना के साथ गड्ड-मड्ड कर दिया जाये तो बात अलग है; क्योंकि उस स्थिति में जो लोग अकेले राजा के पीछे चलने वाले सैनिकों की संख्या दो लाख-तीन लाख या कभी ज़्यादा भी बताते हैं, वे सही हैं। यह संख्या इसलिए भी बढ़ जाती है कि लोगों को पता चल जाता है कि राजा कई दिनों तक राजधानी से बाहर रहेगा। यह उन लोगों

को क़तई आश्चर्यजनक नहीं लगना चाहिए जिन्हें उस विचित्र लवाज़मे की जानकारी है, जो ऐसे में राजा के साथ चलता है तथा जो एक देश की परिस्थिति तथा सरकार की समझ रखते हैं कि वहाँ **राजा राज्य की समस्त भूमि का एकमात्र स्वामी होता है**— यानी तम्बू, रसोई, कपड़े, फ़र्नीचर तथा बहुधा औरतें भी और परिणामस्वरूप हाथी, ऊँट, बैल, घोड़े, कुली, चारा देने वाले, पंसारी तथा तमाम तरह के व्यापारी तथा तमाम तरह के मिस्त्री और नौकर-चाकर इस सेना के साथ चलते हैं। इससे यह अनिवार्य निष्कर्ष निकलता है कि दिल्ली अथवा जैसा समूचा बड़ा (राजधानी जैसा) शहर लगभग पूरी तरह सेना पर (जीवन यापन की दृष्टि से) आश्रित है तथा जब राजा लड़ाई के मैदान की ओर कूंच करता है, चाहे जिस भी अवधि के लिए, तो वह उसका अनुगमन करने को बाध्य होता है। इसलिए ये शहर पेरिस-तुल्य न तो हैं और न हो सकते हैं, क्योंकि ये मूलतः **सैन्य शिविरों से अधिक कुछ नहीं है**, फ़र्क़ सिर्फ़ इतना है कि खुले देहात में बसे नगरों से ये कुछ बेहतर हैं तथा सुविधाजनक रूप से स्थित हैं।

चालीस हज़ार लोगों के साथ कश्मीर की ओर महान् मुग़ल के प्रयाण के अवसर के संबंध में उनका कहना है:

''दिक़्क़त यह पता लगाने में होती है कि इतनी बड़ी सेना इतनी बड़ी संख्या में मनुष्य तथा पशु लड़ाई के मैदान पर काम किस तरह चला पाती हैं। यह मान लेना आवश्यक है जो एकदम सही भी है कि खाने के मामले में भारतीय मिताचारी (संयत) होते हैं— कि प्रयाण के दौरान घुड़सवारों की उतनी बड़ी संख्या का दसवाँ हिस्सा तो क्या बीसवाँ हिस्सा भी प्रयाण के दौरान माँस नहीं खाता है। जब तक उन्हें अपनी खिचड़ी तथा अन्य सब्जियाँ मिलती रहती हैं जिन पर वे पिघला हुआ घी डाल देते हैं, तब तक वे पूरी तरह संतुष्ट रहते हैं। यही नहीं, यह जान लेना भी आवश्यक है कि ऊँटों की यह विशिष्टता होती है कि काम के संबंध में वे अतिशय सहनशक्ति से युक्त होते हैं, लम्बे समय तक भूख-प्यास पर काबू पाये रहते हैं, बहुत कम से काम चला लेते हैं और कुछ भी खा लेते हैं और यह भी कि जैसे ही सेना पड़ाव डालती है, ऊँट-चालक उन्हें चरने के लिए खुले खेतों में छोड़ देते हैं जहाँ वे जो मिले वह खा सकते हैं। इसके अलावा जो व्यापारी दिल्ली में बाज़ार चलाते हैं वे ही अभियानों के दौरान भी यह काम करने को विवश होते हैं, छोटे व्यापारी भी ऐसा ही करते हैं .... और अन्त में चारा देने वालों के संबंध में— ये सभी ग़रीब लोग समूचे देहात में भटकते फिरते हैं कि वहाँ से कुछ भी ख़रीद पायें ताकि उसे बेचकर कुछ कमाई कर सकें। वे मुख्य रूप से खेतों को छानते-फिरते हैं, खुरपी से कुछ जड़ी-बूटियाँ खोद कर, उन्हें पछाँट-साफ़ कर अपने साथ ले आते हैं ताकि सेना को वह सब बेच सकें।

बर्नियर पूरब की घटना क्रियाओं का आधार इस तथ्य को सही ही मानते हैं कि **भूमि के क्षेत्र में वहाँ कोई निजी** संपत्ति नहीं है और वह तुर्की, फ़ारस तथा हिन्दुस्तान का हवाला देते हैं। पूरबी स्वर्ग तक की असल पूँजी यही है .....

❖❖

एंगेल्स का पत्र मार्क्स के नाम

लंदन में

मांचेस्टर, 6 जून, 1853

.....भू-संपत्ति की अनुपस्थिति दरअसल समूचे पूरब की कुंजी है। इसमें ही उसका धार्मिक एवं राजनीतिक इतिहास सन्निहित है, पर इसकी क्या वजह है कि पूरब के लोग संपत्ति—उसके सामंती रूप में भी— तक नहीं पहुँच पाये हैं? मुझे ऐसा लगता है कि यह प्रमुख रूप से जलवायु-मिट्टी की प्रकृति के अर्थ में, ख़ासतौर से रेगिस्तान के विशाल फैलाव को देखते हुए जो कि सहारा से शुरू होकर अरब, फ़ारस, भारत, तातारी को सीधा काटता हुआ सर्वोच्च एशियाई पठार तक विशाल भू-भाग को अपने में समाये हुए है—की वजह से है। कृत्रिम सिंचाई यहाँ कृषि की पहली शर्त है तथा यह ऐसा विषय है जिसका सरोकार कम्यूनों, रियासतों अथवा केन्द्र सरकार से है। किसी भी पूरबी शासन के तीन से अधिक विभाग नहीं होते थे; वित्त विभाग (स्वदेश के भीतर लूट-मार), युद्ध विभाग (स्वदेश के भीतर तथा बाहर लूटमार), सार्वजनिक निर्माण (पुनरुत्पादन की व्यवस्था)। भारत में ब्रिटिश शासन ने संख्या-1 व 2 को तो एक अधिक संकीर्णमना ढंग से संचालित व लागू किया, किन्तु संख्या-3 को पूरी तरह तिलांजलि दे दी और यह वजह है कि भारतीय कृषि नष्ट हो रही है। भूमि को कृत्रिम उपजाऊ बनाने की क्रिया जो सिंचाई व्यवस्था के नष्ट होते ही बंद हो गयी, उस तथ्य का स्पष्टीकरण करती हैं (जो अन्यथा शायद बड़ा मुश्किल होता) कि किसी ज़माने में बेहद हरे-भरे पूरे के पूरे क्षेत्र अब बंजर और वीरान क्यों हैं ?(पामीर, पेत्रा, यमन, खंडहर, मिस्र, फ़ारस तथा भारत के अनगिनत ज़िले); इससे यह तथ्य भी स्पष्ट होता है कि मात्र एक विनाशकारी युद्ध किसी देश को शताब्दियों तक के लिए जनसंख्याविहीन बना सकता था तथा उसकी संपूर्ण सभ्यता को नष्ट कर सकता था। मुझे लगता है कि मोहम्मद के पूर्व दक्षिण-अरबी व्यापार का ध्वंस —जिसे आप सही ही इस्लामी क्रांति के प्रमुख कारणों में से एक मानते हैं— भी यहाँ सम्मिलित किया जाना चाहिए। मुझे ईसा-बाद की पहली 6 शताब्दियों के

वाणिज्यिक इतिहास का इतना पक्का व पूरा ज्ञान नहीं है कि मैं यह तय कर पाऊँ कि दुनिया के व्यापारिक मार्ग को फ़ारस से होकर काला सागर तक तथा फ़ारस की खाड़ी से होकर सीरिया तथा एशिया माइनर तक और वह भी लाल सागर होकर जाने वाले मार्ग की तुलना में, निर्धारित कराने में सामान्य भौतिक स्थिति का कहाँ तक हाथ था। किन्तु बहरहाल, अमन-चैन वाले ससानिद फ़ारस साम्राज्य में काफ़िलों की सापेक्ष-सुरक्षा कोई कम महत्त्वपूर्ण बात नहीं थी, ख़ासकर इसलिए कि 200 ई. से 600 ई. के बीच यमन अबीसीनियाइयों के निरन्तर अधीन रहा, उनके हमलों तथा लूटपाट का लगातार निशाना बनता रहा था। दक्षिणी अरब के शहर, जो रोमन काल में भी फल-फूल रहे थे, 7वीं शताब्दी आते-आते एकदम उजाड़ और वीरान खंडहर हो गये थे। पाँच सौ वर्षों के भीतर ही पड़ोसी बेदिनों ने अपने उद्भव के बारे में विशुद्ध मनगढ़ंत (मिथकीय) तथा भव्य परंपराएँ अपना ली थीं (देखें कुरान तथा अरबी इतिहासकार नोवायरी) तथा वह वर्णमाला (लिपि) जिसमें शिलालेख लिखे हैं— उन भागों में एकदम अपरिचित थी, हालाँकि **दूसरी कोई लिपि थी भी नहीं** और दरअसल यही वजह कि लिखना (लेखन) तक विस्मृति का हिस्सा बन गया। कदाचित सामान्य वाणिज्यिक स्थिति द्वारा कुछ चीज़ों को लुप्त कर दिये जाने (एक को हटाकर उसका स्थान स्वयं ले लेने) के अलावा इस प्रकार की चीज़ें प्रत्यक्ष एवं उग्र विध्वंस को भी मानकर चलती हैं; इसे इथियोपियाई आक्रमण के सन्दर्भ में ही समझा-समझाया जा सकता है। अबीसीनियाइयों का निष्कासन मोहम्मद से चालीस वर्ष पूर्व घटित हुआ तथा जो अरब जातीय चेतना के जाग्रत होने का स्पष्टतः सबसे पहला उदाहरण है, जो मक्का तक में जाकर घर कर गयी थी। मैं अगले कुछ दिनों में स्वयं मोहम्मद के अध्ययन को हाथ में लूँगा; हालाँकि अभी तक मुझे ऐसा लगता हैकि उस (इतिहास) पर नगरों के स्थापित किन्तु भौतिक रूप से पतित किसानों-मज़दूरों (मिस्र, सीरिया तथा अन्य अरबी-भाषी क्षेत्रों के) के ख़िलाफ़ बेदिन प्रतिक्रिया की छाप है; उस समय उनका धर्म भी बिखराव की अवस्था में था तथा जो विकृत प्रकृति-पंथ तथा विकृत यहूदीवाद व ईसाई धर्म का यौगिक मात्र था।

बर्नियर[1] महाशय की सामग्री वास्तव में बहुत अच्छी है। किसी संजीदा, साफ़-दिमाग़ के बुजुर्ग फ्रांसीसी द्वारा लिखी किताब फिर से पढ़ना बेहद खुशी की बात है, ख़ासतौर से इसलिए भी कि वह सही जगह (कील के सिरे पर) चोट करते हैं और लगता यह है कि उन्हें इसका अहसास भी नहीं है ....

❖ ❖

---

1. एंगेल्स यहाँ उसी पुस्तक का उल्लेख कर रहे हैं जिसकी चर्चा मार्क्स ने अपने पत्र में जो इस पत्र से पहले के पृष्ठों पर दिया गया है—की थी।—अनु.

कार्ल मार्क्स

चर्च-विरोधी आंदोलन-हाइड पार्क में प्रदर्शन

लंदन, 25 जून, 1855

यह एक पुरानी तथा ऐतिहासिक दृष्टि से सिद्ध उक्ति है कि अप्रचलित (लुप्तप्राय) सामाजिक शक्तियाँ— जो सत्ता के समस्त लक्षणों की अभी भी नाममात्र की स्वामिनी हैं तथा जो अपने अस्तित्व के आधार पर सड़-गल जाने के बावजूद भी जिनका हरा-भरापन जारी है (जैसे कि शोक-सूचना के छपने तथा वसीयत के पढ़े जाने के पहले ही उत्तराधिकारी उत्तराधिकार के मुद्दे पर आपस लड़ने लग जाएँ)—कि ये शक्तियाँ अपनी मृत्यु-वेदना के पूर्व एक बार अपनी सारी ताक़त को जुटाती हैं, रक्षात्मक के बजाय आक्रामक रवैया अख़्तियार करती हैं, समर्पण के स्थान पर चुनौती की मुद्रा अपनाती हैं तथा ऐसे आधार-वाक्यों से भी अत्यंत अतिवादी निष्कर्ष निकालने के प्रयास करते हैं, जिनके आगे न केवल प्रश्नवाचक चिह्न लगे हुए हैं बल्कि जिन्हें पहले ही निकम्मा घोषित कर दिया गया है। यह हाल है— आंग्ल-कुलीन तंत्र का और यही हाल उसकी जुड़वाँ बहन—**चर्च**—का है। स्थापित चर्च[1] के भीतर पुनर्गठन के अनगिनत प्रयास किये गये हैं, मतांतरवादियों के साथ एक समझौता करने के प्रयास ताकि एक ऐसी सुगठित शक्ति निर्मित हो सके जो कि राष्ट्र के नास्तिकों का विरोध कर सके। धार्मिक बल-प्रयोग के तीव्र गति से एक के बाद एक उपाय किये गये हैं। शेफ़्ट्सबरी के धर्मप्राण अर्ल— जिन्हें पहले लॉर्ड एशले के रूप में जाना जाता था, ने हाउस ऑफ लॉर्ड्स में इस बात पर बेहद विलाप किया कि अकेले इंग्लैंड में पचास लाख लोग न केवल चर्च से बल्कि ईसाई धर्म से भी पूरी तरह कट गये हैं। राजकीय चर्च उत्तर देता है: **सबको बल-प्रयोग के ज़रिये विवश कर दो।** यह कहकर वह लार्ड एशले तथा उन जैसे ही मतांतरी

1. उच्च तथा निम्न चर्चों, जो कि अंग्रेजी (एंग्लिकन) चर्च के दो पक्ष हैं, के भीतर। उच्च चर्च की सत्ता उसके अधिकार-क्षेत्र— ऐतिहासिक पूजा-रूपों पर ज़ोर देता था। निम्न चर्च सु-समाचारवाद (इवेंजेलिकलिज़्म) पर ज़ोर देकर चर्च के रीति-रिवाज, कर्म-कांड, चर्च की सत्ता तथा चर्च के संस्कारों-प्रतीकों की क़तई परवाह नहीं करता था।—अनु.

संकीर्ण तथा उन्मत्त धर्मपरायणों को उसे (चर्च को) संकट से उबारने का काम सौंप देता है।

धार्मिक बल-प्रयोग का पहला उपाय **बीयर बिल** था, जिसके तहत सार्वजनिक आमोद-प्रमोद के सभी स्थल रविवारों को, शाम के 6 से 10 बजे तक के अलावा, बंद कर दिये जाते थे। इस विधेयक को सदन में चोरी-छिपे उस समय लाया गया जब सदन की कार्यवाही न केवल ख़त्म होने वाली थी बल्कि उपस्थित सदस्यों की संख्या भी नगण्य थी और वह भी तब जबकि धर्म-प्राण लोगों ने बड़े सार्वजनिक-गृहों के मालिकों का समर्थन यह गारंटी देकर ख़रीद लिया था कि लाइसेंस प्रणाली जारी रहेगी, यानी बड़ी पूँजी की इजारेदारी बनी रहेगी। फिर आया रविवारी व्यापारिक बिल, जो इस समय हाउस ऑफ़ कॉमंस में तीसरे पाठ के दौर से गुज़र चुका है तथा जिसकी पृथक-पृथक धाराओं पर समूचे सदन की समिति द्वारा बहस अभी पूरी ही हुई है। इस नये बल-प्रयोग के उपाय को भी बड़ी पूँजी का वोट एवं समर्थन सुनिश्चित हो चुका था, क्योंकि केवल छोटे दुकानदार ही रविवार को दुकानें खुली रखते हैं तथा बड़ी दुकानों के मालिक संसदीय साधनों के ज़रिये **छोटी मछलियों** की रविवारी स्पर्द्धा ख़त्म करने को एकदम तैयार हैं। दोनों ही मामलों में चर्च तथा बड़ी पूँजी का षड्यंत्र साफ़ है तथा दोनों ही मामलों में धार्मिक दंड क़ानून निम्न वर्गों के ख़िलाफ़ तथा सुविधा-सम्पन्न तथा विशेषाधिकार वर्गों के अंतःकरण को निश्चित-निर्द्वंद्व बना दिया गया है। **बीयर बिल** अभिजात-क्लबों पर चोट करने से उतना ही दूर है, जितना कि रविवारी व्यापारिक बिल भद्र समाज के कार्य-व्यापार पर चोट करने से दूर है। मज़दूरों को उनकी मज़दूरी शनिवार को देर से मिलती है। रविवार को सिर्फ़ उन्हीं के लिए तो दुकानें खुलती हैं। ये ही तो वे लोग हैं जो रविवारों को अपनी छोटी-छोटी ख़रीददारी करने को विवश हैं। 18वीं शताब्दी में फ्रांसीसी अभिजात वर्ग कहा करता थाः **हमारे लिए वॉल्तेयर; लोगों के लिए प्रातःकालीन प्रार्थना तथा धर्म-शुल्क।** 19वीं शताब्दी में अंग्रेज़ अभिजात-वर्ग कहता हैः **हमारे लिए पुनीत वाक्य; लोगों के लिए ईसाई आचरण।** ईसाई धर्म के क्लासिकीय संत ने जन-समूहों की आत्माओं की मुक्ति के लिए स्वयं के शरीर का दमन किया था; आधुनिक शिक्षित संत अपनी आत्मा की मुक्ति के लिए जन-समूहों के शरीरों का दमन करता है।

दुर्व्यसनी, पतनशील तथा विलासिता-खोजी अभिजात-वर्ग का चर्च के साथ यह गँठजोड़—जिसे बड़े शराब बनाने वालों तथा इजारेदार थोक-विक्रेताओं की गंदे मुनाफ़ों की गणना ने नीचे से समर्थन देकर ऊपर उठा दिया है— कल हाइड पार्क में ऐसे विशाल जन-प्रदर्शन का सबब बना, जितना बड़ा प्रदर्शन 'यूरोप के सर्वप्रथम भद्र पुरुष' जॉर्ज चतुर्थ की मृत्यु के बाद लंदन ने कभी नहीं देखा है। हम शुरू से अंत तक दर्शक बने रहे और हम नहीं समझते कि यह कहकर हम कोई अतिशयोक्ति कर रहे हैं कि **कल हाइड पार्क में आंग्ल-क्रांति का सूत्रपात हो गया।** क्रीमिया से आये ताज़े समाचार ने इस 'असंसदीय', 'इतर-

संसदीय', 'संसद-विरोधी' प्रदर्शन में खमीर उठाने (उत्तेजित करने) के काम को कारगर रूप से किया है।

रविवारी व्यापारिक विधेयक के जनक लार्ड राबर्ड ग्रॉसवेनर की निंदा जब इस मुद्दे पर की गयी कि यह उपाय मात्र ग़रीबों को निशाना बनाता है, अमीरों को नहीं, तो उनका प्रत्युत्तर आया कि :

"अभिजात-वर्ग रविवारों को अपने नौकरों व घोड़ों को काम पर लगाने से अधिकाधिक दूर रह रहा है।"

पिछले सप्ताह के अंतिम कुछ दिनों में **चार्टिस्टों** द्वारा जारी तथा लंदन की हर दीवार पर चिपकाये गये निम्नलिखित पोस्टर ने मोटे अक्षरों में घोषणा की :

"अख़बारों, दाढ़ी बनवाने, सिगरेट पीने, खाने-पीने तथा सब तरह के आमोद-प्रमोद तथा पोषण (दैहिक और आत्मिक दोनों ही), जिनका भोग ग़रीब लोग आज भी करते हैं, को नये रविवारी विधेयक ने निषिद्ध घोषित कर दिया है। समूची राजधानी के दस्तकारों, मज़दूरों तथा **निम्न श्रेणियों** की एक खुली आम सभा रविवार को तीसरे पहर हाइड पार्क में यह देखने के लिए होगी कि अंग्रेज अभिजात-वर्ग आराम के दिन को कितने श्रद्धा-भाव के साथ मना रहा है तथा उस दिन नौकरों तथा घोड़ों को काम पर न लगाने के प्रति (जैसा कि लॉर्ड रॉबर्ट ग्रॉसवेनर ने अपने भाषण में कहा था) वह कितना उत्सुक है। सभा सर्पेंटाइन (हाइड पार्क में छोटी-सी नदी) के दक्षिणी किनारे पर, केंसिंग्टन बाग़ों की तरफ़ 3 बजे होगी। आइये और अपनी पत्नियों और बच्चों को साथ लाइये, ताकि वे उनके 'अधिक योग्य एवं बड़े लोगों' द्वारा उनके लिए क़ायम किये गये उदाहरण से लाभान्वित हो सकें।"

इस बात पर बेशक ज़रूर ही ग़ौर किया जाना चाहिए कि पेरिसवासियों के लिए जो महत्व लांग चैंप्स[1] का है, अंग्रेज़ भद्रलोक के लिए वही महत्त्व हाइड पार्क में सर्पेंटाइन का है जहाँ वे तीसरे पहर, ख़ासकर रविवार को अपने पूर्ण रूप से सुसज्जित भव्य घोड़ों और गाड़ियों का प्रदर्शन करते हैं तथा इन घोड़ों व गाड़ियों के पीछे टहलुओं (नौकरों) के झुंड के झुंड चला करते हैं। उपरोक्त पोस्टर को देखकर यह बात समझ में आ जाएगी (या आ जानी चाहिए) कि इंग्लैंड में पुरोहितवाद के ख़िलाफ़ यह संघर्ष वहाँ के अन्य सभी गम्भीर संघर्षों की भाँति वर्ग-संघर्ष का ही रूप धारण कर रहा है: ग़रीबों द्वारा अमीरों के ख़िलाफ़, जनता द्वारा अभिजात-वर्ग के ख़िलाफ़ तथा 'निम्न श्रेणियों' द्वारा अपने 'बड़ों' के ख़िलाफ़ चलाये जाने वाले संघर्ष का रूप धारण कर रहा है।

---

1. पेरिस की चौहद्दी पर स्थित घुड़-दौड़ मैदान।—संपा.

3 बजे लगभग 50 हज़ार लोग घोषित स्थान पर—हाइड पार्क की विशाल घास-स्थली में सर्पेंटाइन के दक्षिणी किनारे पर—एकत्रित हुए। धीरे-धीरे एकत्र विशाल जनसमूह बढ़ते-बढ़ते कम-से-कम 2 लाख तक पहुँच गया क्योंकि दूसरे किनारे से भी लोग लगातार आते जा रहे थे। लोगों के ठठ्ठ के ठठ्ठ जहाँ जगह मिल रही थी, वहीं घुसने की कोशिश कर रहे थे। पुलिस—जो सदल-बल वहाँ उपस्थित थी, ज़ाहिरा तौर पर सभा के आयोजकों को उससे वंचित करने के प्रयास में लगी थी, जिसकी आर्किमिडीज ने पृथ्वी को घुमा देने के लिए माँग की थी— यानी खड़े होने-भर की जगह से ही वंचित कर देना चाहती थी। अंततः एक बहुत बड़ी भीड़ ने कड़ा रुख अपनाया तथा चार्टिस्ट **ब्लाइ** ने भीड़ के बीच में ज़रा-सी उठी हुई जगह पर स्वयं को अध्यक्ष के रूप में आसीन कर लिया। अभी उसने अपना भाषण शुरू ही किया था कि चालीस डंडे घुमाते सिपाहियों के आगे चलते पुलिस इंस्पेक्टर बैंक्स ने उसे समझाया कि पार्क **राजमुकुट** (रानी) की निजी सम्पत्ति है तथा यहाँ कोई सभा नहीं की जा सकती। अनौपचारिक आरम्भिक बातचीत के बाद, जिसमें **ब्लाइ** ने बैंक्स को यह दर्शाने की कोशिश की थी कि पार्क सार्वजनिक सम्पत्ति होते हैं। बैंक्स ने उसे साफ शब्दों में यह बता दिया कि यदि वह अपने इरादे को पूरा करना (यानी सभा चलाना) चाहेगा, तो उसके पास उसे गिरफ़्तार करने के कड़े आदेश मिले हुए हैं। ब्लाइ ने उसे चारों ओर से घेरे हुए लोगों के गर्जन-तर्जन के बीच ज़ोर-ज़ोर से बोलकर कहा :

"हर मेजेस्टी (यानी इंग्लैंड की महारानी) की पुलिस ने पार्क को राजमुकुट की निजी सम्पत्ति घोषित करते हुए यह कहा है कि हर मेजेस्टी इस बात की अनुमति देने के लिए तैयार नहीं हैं कि लोग अपनी सभाओं के लिए उनकी भूमि का इस्तेमाल करें। तो चलो, हम आक्सफोर्ड बाज़ार चलते हैं।"

"ईश्वर महारानी की रक्षा करें" के व्यंग्यपूर्ण नारे के साथ ही भीड़ आक्सफ़ोर्ड बाज़ार की ओर चलने को उठ खड़ी हुई है। लेकिन इतने में ही फ़िनलेन (चार्टिस्ट कार्यकारिणी का सदस्य) थोड़ी ही दूर पर खड़े एक पेड़ की ओर भागा तथा उसके पीछे भीड़ भी भागी जिसने पलक झपकते ही उसके चारों ओर इतना पक्का और सुगठित घेरा बना लिया कि हारकर पुलिस को उसे पकड़ में ले लेने का विचार त्यागना पड़ा।

"सप्ताह में छः दिन " उसने कहा—"हमारे साथ गुलामों जैसा बर्ताव किया जाता है और अब संसद हमारी उस ज़रा-सी स्वतंत्रता को भी छीन लेना चाहती है जो सातवें दिन हमेंअभी भी उपलब्ध है। कुलीनों, पूँजीपतियों तथा धर्म-ध्वज-वाहक पादरियों का यह गँठजोड़ क्रीमिया[1] में जनता के बेटों को हृदयहीन हत्या के पाप का प्रायश्चित्त स्वयं का दमन करके नहीं बल्कि हमारा दमन करके करना चाहता है।"

---

1. मार्क्स यहाँ क्रीमियाई युद्ध की ओर संकेत कर रहे हैं। इस युद्ध में एक ओर इंग्लैंड, फ्रांस तथा तुर्की थे, तो दूसरी ओर रूस। —अनु.

हम इस समूह को छोड़कर एक–दूसरे समूह की ओर लपके, जहाँ व़क्ता ज़मीन पर पसरकर क्षैतिज स्थिति में अपने श्रोताओं को सम्बोधित कर रहा था। अचानक चारों ओर से आवाज़ें आने लगीं : ''चलो, सड़क पर पहुँचे, गाड़ियों तक पहुँचें ।'' इसी बीच घुड़सवारों तथा गाड़ियों में बैठे हुए लोगों के साथ गाली–गलौज़ शुरू हो चुकी थी। पुलिस के सिपाही जिनकी संख्या शहर में पहुंचने वाली हर नयी खेप के साथ लगातार बढ़ती जा रही थी, चहलक़दमी कर रहे पैदल लोगों को गाड़ियों के इर्द–गिर्द से धकियाने लगे। उनके इस कार्य का ही यह परिणाम था सड़क के दोनों ओर, एप्स्ले हाउस से सर्पेंटाइन के किनारे–किनारे रौटन रो और वहाँ से केंसिंग्स्टन तक (जो कम–से–कम पंद्रह मिनट की दूरी है) लोगों की घनी तथा गहरी क़तारें लग गयीं। दर्शकों में लगभग दो–तिहाई मज़दूर तथा एक–तिहाई मध्यवर्ग के लोग थे; सबके साथ महिलाएँ व बच्चे भी थे। चार–चार घोड़ों वाली ऊँची–ऊँची बग्घियों —जिनके आगे–पीछे टहलुए दौड़ रहे थे— में बैठी 'कामंस तथा लॉर्ड्स' की सुरुचि–सम्पन्न महिलाओं व भद्र–पुरुषों की शोभा यात्रा में बेशक घोड़ों पर सवार कुछ ऐसे आदरणीय भी शामिल थे, शराब के असर की वजह से जिनकी तबीयत कुछ ढीली थी तथा जो इस बार निरीक्षण करते हुए नहीं चल रहे थे; बल्कि उन अनिच्छुक पात्रों की भूमिका अदा कर रहे थे जिन्हें 'चुनौती ' लेकर दौड़ाया जाता है। उन पर फ़ब्तियों, तानों, उपहास व गालियों (जिनके लिहाज़ से कोई भी भाषा अंग्रेजी जितनी समृद्ध नहीं है) की बौछार जल्दी ही दोनों ओर से होने लग गयी। चूँकि यह एक दरिद्र संगीत सभा थी इसलिए वाद्य यंत्रों का अभाव रह गया था। समूह–गायकों के पास उनके ख़ुद के अंग ही थे जिनसे वे यंत्रों का काम ले रहे थे और इसीलिए वह कंठ संगीत (गायन) तक ही सीमित रह गया। यह कितनी भयानक संगीत सभा थी ! डकराने, सूँ–सूँ करने, सीटियाँ बजाने, चिंघाड़ने, चीखने, भौंकने, दाँत पीसने की कैसी विचित्र आवाज़ों का बेसुरापन ! ऐसा संगीत जो किसी को पागल बना दे और एक पत्थर को भी द्रवित कर दे। इन सबके साथ असली पुराने अंग्रेज़ हास्य की उन अभिव्यक्तियों को भी जोड़ जाना चाहिए, जिनमें लम्बे समय से क़ाबू रखा गया गुस्सा मिला हुआ था। 'चर्च जाओ!' ही वे सुस्पष्ट ध्वनियाँ थीं जो साफ़ सुनायी पड़ रही थीं। एक महिला ने पारम्परिक जिल्द वाली प्रार्थना–पुस्तिका निकाली और अपना हाथ बढ़ाकर उसे किसी को देना चाहा। उधर से फट–से ज़ोरदार आवाज़ में जवाब आया, जिसमें हज़ारों आवाज़ों की गूँज सुनायी पड़ी,—''इसे अपने घोड़ को दे दो !'' जब घोड़े शरमाने, बिदकने, पीछे हटने, अड़ने तथा फिर अंततः अपने 'भद्र–बोझों' के जीवन को ख़तरे में डालकर सरपट दौड़ने लगे तो घृणास्पद

शोर और तेज़ हो गया और अधिक कुत्सित तथा और अधिक निर्मम हो गया। अभिजात पुरुष एवं महिलाएँ— जिनमें मंत्री तथा सर्वोच्च न्यायालय के अध्यक्ष की पत्नी लेडी ग्रैनविल भी थीं, बग्घियों से उतरने तथा अपनी टाँगों का इस्तेमाल करने को विवश हो गयीं। जब बड़ी उम्र के भद्र पुरुष चौड़े किनारे वाले हैट पहनकर (वैसे उन्होंने अपने-आपको इतने शानदार व परिपूर्ण तरीक़े से वस्त्रालंकृत तो इसलिए किया हुआ था, ताकि आस्था के प्रश्न पर भी उनकी विशिष्टता उजागर हो सके) क्रोध की कर्णभेदी अभिव्यक्तियाँ, मानो किसी आदेश की अनुपालना में ज़बर्दस्त अट्टहास के तले दब गयीं (अट्टहास के पानी के गुस्से का उफ़ान दब गया)। इनमें से एक भद्र-पुरुष अपना धैर्य खो बैठे। मैफ़िस्टोफ़ीलीस की तरह उन्होंने एक अशोभनीय हरक़त कर दी— दुश्मन की ओर जीभ निकाल दी। सड़क के एक ओर से कोई चिल्लाया, ''अरे ! यह तो शब्द पकड़ने वाला व्यक्ति यानी संसद सदस्य है ! वह अपने हथियारों से ही लड़ाई करता है !'' तो दूसरी ओर से विपरीत छंद उभरा— ''वह तो संत है ! वह तो भजन गा रहा है !'' इसी बीच महानगरीय विद्युत तार विभाग ने सभी पुलिस स्टेशनों को सूचित कर दिया था कि हाइड पार्क में दंगा भड़कने ही वाला है तथा पुलिस को सैन्य-संचालन रंगमंच पर पहुँचने को कहा गया और जल्दी ही थोड़ी-थोड़ी देर के अंतर पर एक के बाद एक दस्ता दो-दो की क़तार में लोगों की भीड़ चीरकर एप्सले हाउस से केंसिग्टन तक गश्त लगाता रहा; इनमें से हरेक दस्ते का स्वागत इस लोकप्रिय गीत के साथ किया गया :

बतख़ें कहाँ गयीं ?
पुलिस से पूछो !

यह बतख़ों की उस कुख्यात चोरी की ओर संकेत था, जो हाल ही में क्लार्केन-वैल में एक सिपाही ने की थी। यह नज़ारा तीन घंटे तक चला। केवल अंग्रेज फेंफड़े ही इतने ग़जब का करिश्मा दिखा सकते थे। जब यह कार्यक्रम जारी था, तो विभिन्न समूह अलग-अलग तरह से अपनी राय रख रहे थे : ''यह तो सिर्फ़ शुरुआत है।'' ''यह तो पहला ही क़दम है।'' ''हम उन्हें नफ़रत करते हैं।'' और ऐसी ही अनेक राय व्यक्त की जा रही थीं। जबकि मज़दूरों के चेहरों पर गुस्सा साफ़-साफ़ लिखा दिख रहा था; मध्यवर्गीय लोगों के चेहरों पर अद्‌भुत आत्मसंतोष की वे मुस्कानें हमने देखीं, जो इससे पहले कभी नहीं देखी थीं। प्रदर्शन अपनी समाप्ति के कुछ देर पूर्व ही अधिक उग्र हो गया। बग्घियों के धमकाने पर डंडे उठे तथा असंबद्ध आवाज़ों के हंगामें में होकर आवाज़ सुनायी पड़ी, ''ओ बदमाशों ! '' इन तीन घंटों के दौरान उत्साही एवं कर्मठ चार्टिस्ट पुरुष एवं महिलाएँ भीड़ में जगह बना-बनाकर पर्चे बाँटते रहे, जिन पर मोटे अक्षरों में छपा था :

चार्टिज़्म का पुनर्गठन

''अगले मंगलवार, 26 जून को फ्रायर स्ट्रीट में साहित्यिक एवं वैज्ञानिक संस्थान के डॉक्टरों के सभागार में एक विशाल सार्वजनिक सभा होगी जिसमें चार्टिज़्म के पुनर्गठन के लिए राजधानी में आयोजित होने वाले सम्मेलन के लिए प्रतिनिधियों का चुनाव किया जाएगा। प्रवेश निःशुल्क।''

लंदन के आज के अधिकांश समाचार-पत्रों में हाइड पार्क की घटनाओं का संक्षिप्त लेखा ही दिया गया है। लॉर्ड पामर्स्टन के मार्निंग पोस्ट को छोड़कर किसी भी समाचार-पत्र में अग्रलेख प्रकाशित नहीं हुए हैं।

उसमें कहा गया है कि ''एक ऐसा कांड जो बेहद सम्मानजनक तथा ख़तरनाक है, हाइड पार्क में घटित हुआ है तथा जो क़ानून तथा शालीनता का खुला उल्लंघन तो है ही विधायिका के स्वतंत्र कार्य में शारीरिक बल के जरिये ग़ैर-क़ानूनी हस्तक्षेप भी है।'' उसमें माँग की गयी है कि ''अगले रविवार को जैसी कि धमकी दी गयी थी, इस दृश्य की पुनरावृत्ति की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए।''

हालाँकि, साथ ही उसमें यह भी कहा गया है कि इस शरारत के लिए'कट्टर' लॉर्ड ग्रासवेनर ही पूरी तरह से ज़िम्मेदार है, वह ही व्यक्ति है जिसने 'जनता के न्यायोचित क्रोध' को भड़काया है। मानो संसद ने तो लॉड ग्रासवेनर के विधेयक को तीन पाठों के बाद पास किया ही न हो ! या शायद उन्होंने भी 'विधायिका के स्वतंत्र कार्य पर शारीरिक बल के ज़रिये' अपना प्रभाव डाला हो !

कार्ल मार्क्स

पूँजी, खंड 1

(अंश)

धार्मिक दुनिया वास्तविक दुनिया का प्रतिबिम्ब मात्र होती है और मामलों के उत्पादन पर आधारित समाज के लिए, जिसमें उत्पादन करने वाले लोग आम तौर पर अपने श्रम से उत्पन्न वस्तुओं को मामलों तथा मूल्यों के रूप में इस्तेमाल करके एक-दूसरे के साथ सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं और इस तरह अपने व्यक्तिगत एवं निजी श्रम को सजातीय मानव-श्रम के रूप में परिवर्तित कर देते हैं। ऐसे समाज के लिए अमूर्त मानव को पूजने वाला ईसाई धर्म, ख़ासकर अपने पूँजीवादी अर्थों में— प्रोटेस्टेंट मत, तटस्थेश्वरवाद आदि में— सबसे उपयुक्त धर्म है। उत्पादन की प्राचीन एशियाई प्रणाली तथा अन्य प्राचीन प्रणालियों में हम यह पाते है कि पैदावार के माल में बदल जाने से और इसलिए मनुष्यों के मालों के उत्पादकों में बदले जाने का गौण स्थान होता है, हालाँकि जैसे-जैसे आदिम समाज विसर्जन के अधिकाधिक निकट पहुँच जाते हैं; वैसे-वैसे इस बात का महत्त्व बढ़ता जाता है। ऐसी जातियाँ जिन्हें व्यापारिक जातियों का नाम दिया जा सकता है, प्राचीन संसार में केवल बीच-बीच में खाली जगहों में ही पायी जाती थीं, जैसे एपीक्यूरस के देवता दो लोकों के बीच के स्थान में रहते थे या जैसे यहूदी लोग पोल (पोलिश) समाज के छिद्रों में छिपे रहते थे। पूँजीवादी समाज की तुलना में उत्पादन के ये प्राचीन संघटन अत्यन्त सरल तथा सहज (पारदर्शी) थे। लेकिन उनकी नींव या तो व्यक्तिगत रूप से मनुष्य के अपरिपक्व विकास पर (जिसने कि उस वक़्त तक स्वयं को उस नाल से मुक्त नहीं किया था जिसने उसे आदिम क़बीलाई समाज के अपने सहयोगी मनुष्यों के साथ बाँध रखा था), या फिर पराधीनता के प्रत्यक्ष सम्बन्धों पर रखी गयी थी। ऐसे सामाजिक संघटक केवल उस हालत में पैदा हो सकते हैं और क़ायम रह सकते हैं, जब श्रम की उत्पादक शक्ति एक निम्न स्तर से ऊपर न उठी हो और इसलिए जब मनुष्य तथा मनुष्य के बीच और मनुष्य तथा प्रकृति के बीच भौतिक जीवन के क्षेत्र में पाये जाने वाले सामाजिक सम्बन्ध तदनुरूप (उतने ही) संकीर्ण हों। यह संकीर्णता प्राचीन प्रकृति पूजा में तथा लोक धर्मों

के अन्य तत्त्वों में प्रतिबिम्बित हुई है। वास्तविक दुनिया के धार्मिक प्रतिबिम्ब का बहरहाल केवल उसी स्थिति में अन्तिम रूप से लोप सम्भव है जब रोजमर्रा के जीवन के व्यवहारिक सम्बन्धों में मनुष्य को अपने सहयोगी मनुष्यों से तथा प्रकृति के साथ सहज ही समझ में आ जाने वाले तथा युक्तिसंगत सम्बन्धों के सिवा अन्य किसी प्रकार के सम्बन्धों का सामना नहीं करना पड़ेगा।

समाज की जीवन-प्रक्रिया भौतिक उत्पादन की प्रक्रिया पर आधारित होती है। उसके ऊपर पड़ा हुआ रहस्य का आवरण उस समय तक नहीं हटता, जब तक कि वह स्वतंत्र रूप से सम्बद्ध मनुष्यों द्वारा किया जाने वाला उत्पादन नहीं बन जाती और जब तक कि एक निश्चित योजना के अनुरूप उसका सचेतन ढंग से नियमन नहीं किया जाता। लेकिन उसके लिए ज़रूरी है कि समाज के पास एक ख़ास तरह की भौतिक बुनियाद या अस्तित्व की विशेष प्रकार की भौतिक परिस्थितियाँ हों, जो ख़ुद विकास की एक लम्बी और कष्टमय प्रक्रिया का ही स्वतः स्फूर्त फल होती हैं।

यह सच है कि राजनीतिक अर्थशास्त्र ने मूल्य तथा उसके परिणाम का विश्लेषण किया है, चाहे वह कितना ही अपूर्ण क्यों न हो और यह पता लगाया है कि इन रूपों के पीछे क्या छिपा है। लेकिन उसने (राजनीतिक अर्थशास्त्र ने) यह सवाल एक बार भी नहीं उठाया है कि श्रम का प्रतिनिधित्व उसकी पैदावार का मूल्य तथा श्रम-काल का प्रतिनिधित्व उस मूल्य का परिणाम क्यों करते हैं। ये सूत्र— जिन पर साफ़ तौर से इस बात की छाप देखी जा सकती है कि वे समाज की एक ऐसी अवस्था से सम्बन्ध रखते हैं, जिसमें उत्पादन की क्रिया मनुष्य द्वारा नियंत्रित होने के बजाय उसके ऊपर शासन करती है पूँजीवादी बुद्धि को प्रकृति द्वारा अनिवार्य बना दी गयी वैसी ही स्वतः स्पष्ट आवश्यकता लगते हैं, जैसी आवश्यकता स्वयं उत्पादन श्रम है। अतएव सामाजिक उत्पादक के पूँजीवादी रूप के पूर्ववर्ती रूपों के साथ पूँजीपति वर्ग कुछ-कुछ वैसा ही व्यवहार करता है, जैसा चर्च के आचार्य (ईस्वी सन् की पहली शताब्दियों के लेखक तथा ग्रंथकार) ईसाई धर्म के पहले के धर्मों के साथ करते थे।

यदि प्रौद्योगिकी का कोई इतिहास लिखा जाए तो उससे यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि 18वीं शताब्दी के किसी भी आविष्कार को किसी एक व्यक्ति का काम समझना कितना ग़लत है। अभी तक ऐसी कोई पुस्तक नहीं लिखी गयी है। डार्विन ने प्रकृति की प्रौद्योगिकी के इतिहास में— यानी पशुओं तथा पौधों की उन इंद्रियों के निर्माण के इतिहास में, जो उनके भरण-पोषण के लिए उत्पादन के साधनों का काम करती हैं— हमारी रुचि पैदा कर दी है। तब क्या मनुष्य की उत्पादक इंद्रियों का इतिहास— उन इंद्रियों का इतिहास, जो समस्त सामाजिक संघटन का भौतिक आधार होती हैं— इस योग्य नहीं है कि उसकी ओर भी हम

उतना ही ध्यान दें ? और क्या इस तरह का इतिहास तैयार करना ज़्यादा आसान नहीं होगा? क्योंकि जैसा कि विको ने कहा है— मानव-इतिहास प्राकृतिक इतिहास से केवल इसी बात से भिन्न है कि उसका निर्माण हमने किया है, जबकि प्राकृतिक इतिहास का निर्माण हमने नहीं किया है? प्रौद्योगिकी प्रकृति के साथ मनुष्य के व्यवहार पर तथा उत्पादन की उस प्रक्रिया पर प्रकाश डालती है जिससे वह अपना जीवन-निर्वाह करता है और इस तरह व उसके सामाजिक सम्बन्धों तथा उनसे पैदा होने वाली मानसिक अवधारणाओं के निर्माण की प्रणाली को भी खोलकर रख देती है। धर्म तक का ऐसा प्रत्येक इतिहास, जो इस भौतिक आधार को ध्यान में नहीं रखता, आलोचनात्मक दृष्टि से वंचित (अनालोचनात्मक) हो जाता है। असल में जीवन के वास्तविक सम्बन्धों से इन सम्बन्धों के तदनुरूप दैविक सम्बन्धों का विकास करने की अपेक्षा धर्म की धूमिल सृष्टि का विश्लेषण करके उसके लौकिक सार का पता लगाना कहीं आसान है। यही एकमात्र भौतिकवादी पद्धति है और इसलिए यही एकमात्र वैज्ञानिक पद्धति है। प्रकृति-विज्ञान का अमूर्त भौतिकवाद ऐसा भौतिकवाद है, जो इतिहास तथा उसकी प्रक्रिया को अपने क्षेत्र के बाहर रखता है। जब कभी उसके प्रवक्ता अपने विशेष विषय की सीमाओं के बाहर क़दम रखते हैं, तब उनकी अमूर्त एवं विचाराधारात्मक अवधारणाओं से इस भौतिकवाद की त्रुटियाँ तुरन्त स्पष्ट हो जाती हैं।

यदि पाठक इस बात पर मुझे माल्थस की याद दिलायेंगे, जिनकी रचना 'जनसंख्या पर निबन्ध' 1798 में प्रकाशित हो गयी थी, तो मैं उन्हें बताना चाहूँगा कि यह पुस्तिका अपनी पहली शक्ल में दे फ़ो, सर जेम्स स्टीवर्ट, टाउनसेंड, फ्रैंकलिन, वालेस आदि की स्कूली लड़कों जैसी, एकदम सतही नक़ल के सिवा और कुछ भी नहीं है तथा उसमें एक भी वाक्य ऐसा नहीं है जो माल्थस के दिमाग़ की उपज हो। इस पुस्तिका के प्रकाशन से जो सनसनी पैदा हुई थी उसका एकमात्र कारण दलगत स्वार्थ थे। ब्रिटेन में अनेक व्यक्तियों ने बड़े जोश के साथ फ्रांसीसी क्रांति का समर्थन किया था। इसलिए जब 18वीं शताब्दी में धीरे-धीरे 'जनसंख्या के सिद्धांत' को विकसित किया गया तथा उसके बाद जब एक सामाजिक संकट के काल में ढोल पीटकर तथा तुरही बजाकर यह घोषणा की गयी कि यह सिद्धांत कोंदोर्सेत आदि की शिक्षाओं के ज़हर की काट करने के लिए एक अचूक दवा का काम करेगा, तो अंग्रेज अभिजात-तंत्र ने मानव-विकास की समस्त आकांक्षाओं को नष्ट कर देने वाली एक महान शक्ति के रूप में विजयोल्लास के साथ उसका स्वागत किया। माल्थस को अपनी सफलता पर बहुत आश्चर्य हुआ और वह झट से अपनी पुस्तक में सतही ढंग से संकलित की गयी सामग्री ठूँसने तथा नया मसाला भरने में लग गये, जिसे उन्होंने खोजकर नहीं निकाला था; बल्कि दूसरों की पुस्तकों से उठा लिया था। इसके अलावा यह बात भी ग़ौरतलब है कि यद्यपि माल्थस इंग्लैंड के

राजकीय चर्च के पादरी थे फिर भी उन्होंने ब्रह्मचारी का जीवन बिताने की प्रतिज्ञा ले रखी थीः कैंब्रिज के प्रोटेस्टेंट विश्वविद्यालय का फ़ैलो होने के लिए यह एक ज़रूरी वृत्ति थी **(हम अपने कालिजों में विवाहित लोगों को फ़ैलो नहीं होने देते। कोई फ़ैलो विवाह कर लेता है, तो वह फ़ैलो नहीं रहता** : कैंब्रिज विश्वविद्यालय आयोग की रिपोर्ट, पृ. 172)। इस बात में माल्थस अन्य पादरियों से श्रेष्ठ हैं, जिन्होंने पादरियों के ब्रह्मचारी रहने के नियम को ताक़ पर उठाकर रख दिया है और बाइबिल की सीख के अनुसार यही अपना विशिष्ट कर्तव्य समझा है कि 'उपजाऊ बनो और नस्ल को बढ़ाओ' और जो इस उत्साह के साथ इस कर्तव्य का पालन कर रहे हैं कि जनसंख्या की वृद्धि में उनका योगदान अशोभनीय सीमा तक पहुँच गया है। इसके साथ-साथ वे मज़दूरों को 'जनसंख्या के सिद्धांत' के उपदेश पिलाते रहते हैं। यह बात काफ़ी अर्थवान है कि मनुष्य का आर्थिक पतन, आदिपुरुष आदमी का वह सेब, वह उग्र भूख और जैसा कि पादरी टाउनसेंड ने हास्यपूर्ण ढंग से कहा है "वे अंकुश जो कामदेव के तीरों को भी कुंठित कर देते हैं"— इस नाजुक सवाल पर प्रोटेस्टेंट धर्मशास्त्र के, या कहना चाहिए प्रोटेस्टेंट चर्च के पादरियों ने अपना एकाधिकार जमा रखा है। एक बेनिसवासी ईसाई संन्यासी आर्तेस को छोड़कर, जो एक मौलिक तथा चतुर लेखक हैं 'जनसंख्या के सिद्धांत' के अधिकांश प्रचारक प्रोटेस्टेंट पादरी हैं। उदाहरण के लिए— बुनकर की रचना 'जीव-प्रणाली सिद्धांत' देखिये जिसमें जनसंख्या के आधुनिक सिद्धान्त के पूरे विषय का अत्यन्त विस्तार के साथ विवेचन किया गया है और जिसमें इस विषय से सम्बन्धित विचार क्वेज़ने तथा उनके शिष्य बड़े मिराबो के बीच अस्थायी विवाद से उधार लिये गये हैं। उसके बाद, यदि उस धारा के कम महत्वपूर्ण पादरी लेखकों की चर्चा न भी की जाये, तो भी पादरी वालेस, पादरी टाउनसेंड, पादरी माल्थस तथा उनके शिष्य पादरी शिरोमणि टामस चाल्मर्स का नाम लेना तो अत्यन्त आवश्यक है। पहले राजनीतिक अर्थशास्त्र का अध्ययन किया करते थे— हॉब्स, लॉक और ह्यू म जैसे दार्शनिक; टामस मोर, टैम्पिल, सुली, दे वित्त, नार्थ, लॉ, वैंडरलिंट, कैंतिलों तथा फ्रैंकलिन जैसे व्यवसायी व राजनीतिज्ञ और इस क्षेत्र में विशेष सफलता हासिल करने वाले पेटी, बार्बोन, मैंदेविल तथा क्वेज़्ने जैसे डॉक्टर। यहाँ तक कि 18वीं शताब्दी के मध्य में भी अपने काल के प्रमुख अर्थशास्त्री, पादरी मि. टुकर ने धन-देवता के क्षेत्र में टाँग अड़ाने के लिए क्षमा-याचना की थी। बाद में और सच पूछिये, तो जनसंख्या के इस सिद्धांत के सामने आने के साथ-साथ, प्रोटेस्टेंट पादरियों को अपने जौहर दिखाने की घड़ी आ ही पहुँची। पेटी जनसंख्या को धन का आधार समझते थे और एडम स्मिथ की तरह वह भी पादरियों से कभी नहीं हिचकिचाते थे। उन्होंने जो कुछ लिखा है, उससे ऐसा लगता है जैसे उनको पहले से ही अंदेशा था कि पादरी लोग उनके क्षेत्र में अनाड़ियों की तरह टाँग

अड़ायेंगे। उन्होंने कहा है कि ''धर्म सबसे अधिक उस समय फलता-फूलता है, जब पांदरी लोग सब से अधिक दमित रहते हैं, जैसाकि कभी क़ानून के बारे में कहा गया था कि वह उस समय सबसे अधिक पनपता है जब वकीलों के करने के लिए कम-से-कम काम होता है।'' इसलिए पेटी ने पादरियों को सलाह दी है कि यदि उन्होंने सदा-सर्वदा के लिए सन्त पॉल का अनुसरण न करने और ब्रह्मचर्य का कष्ट न उठाने का निश्चय कर लिया है, तो उन्हें कम-से-कम इतना तो ख़याल रखना ही चाहिए कि ''देश में जितने पादरियों का गुज़ारा हो सकता है, उससे ज़्यादा पादरी न पैदा हो जाएँ; यानी यदि इंग्लैंड और वेल्स में बारह हज़ार पादरियों के लिए स्थान है, तो पाल-पोसकर चौबीस हज़ार पादरी तैयार कर देना ख़तरे से ख़ाली नहीं होगा और उनको किसी-न-किसी ढंग से जीविका कमाने की फ़िक्र पड़ जायेगी। उसका सबसे आसान तरीक़ा उन्हें यही दिखायी देगा कि जनता को यह समझाने की कोशिश करें कि जीविका कमा पाने वाले वे बारह हज़ार पादरी लोगों के जीवन में ज़हर घोल रहे हैं या उनको आध्यात्मिक दृष्टि से भूखा मार रहे हैं और उनको स्वर्ग का मार्ग दिखाने के बजाय गुमराह कर रहे हैं''। (पेटी, 'करों तथा अनुदानों के बारे में एक प्रबंध', लन्दन, 1667) ऐडम स्मिथ के बारे में उनके काल के प्रोटेस्टेंट पादरियों की राय निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट हो जाती है नोरविच के बिशप डॉ. होर्ने ने ''ए. स्मिथ, एल.एल.डी. के नाम उनके मित्र डेविड ह्यूम के जीवन, मृत्यु एवं दर्शन के विषय में एक पत्र : ईसाई कहलाने वाले लोगों में से एक के द्वारा लिखित'' (चौथा संस्करण, आक्सफ़ोर्ड, 1785) में ऐडम स्मिथ को इस बात के लिए फटकारा है कि उन्होंने श्री स्ट्रैहेन के नाम प्रकाशित एक पत्र में 'अपने मित्र डैविड' (अर्थात् ह्यूम) की स्मृति को अमर बना दिया था और दुनिया को बताया था कि किस प्रकार ''मृत्यु-शय्या पर भी ह्यूम लूसियन की रचनाएँ पढ़कर और ताश खेलकर अपना दिल बहलाया करते थे'', और उन्होंने ह्यूम के बारे में यह तक लिखने की जुर्रत की थी कि ''मैंने उनके जीवन काल में तथा उनकी मृत्यु के बाद सदा यह समझा है कि मानव-दुर्बलताओं के स्वरूप को देखते हुए जहाँ तक सम्भव हो सकता है, ह्यूम एक पूर्णतया बुद्धिमान एवं सदाचारी मनुष्य की परिकल्पना के मूर्तरूप थे।'' बिशप महोदय आग-बबूला होकर चिल्ला उठते हैं : ''श्रीमान्, क्या आपने यह कोई सही काम किया है कि एक ऐसे व्यक्ति के चरित्र तथा आचरण को 'पूर्णतया बुद्धिमान एवं सदाचारी' व्यक्ति के चरित्र एवं आचरण के रूप में हमारे सामने पेश किया है जिसको लगता है जैसे उन तमाम बातों से चिढ़ थी जिन्हें हम धर्म कहते है; जिसमें इस चिढ़ ने एक असाध्य रोग का रूप धारण कर लिया था, जिसने मनुष्यों के हृदय में धर्म की भावना को दबाने, कुचलने और जड़ से मिटा देने के लिए अपनी एड़ी-चोटी का ज़ोर लगा दिया था और जिसका यदि वश चलता तो लोग धर्म का नाम तक भूल जाते?'' (उपरोक्त

पुस्तक, पृ. 8)। ''परन्तु सत्य के प्रेमियों को हतोत्साहित नहीं होना चाहिए। अनीश्वरवाद बहुत दिनों तक ज़िन्दा नहीं रह सकता '' (पृ. 17)। ''ऐडम स्मिथ के मन में इतना घोर पाप भरा हुआ था कि उन्होंने सारे देश में अनीश्वरवाद का प्रचार किया (मिसाल के तौर पर 'नैतिक भावनाओं का सिद्धांत' का उल्लेख किया जा सकता है)। मोटे तौर पर डॉक्टर, आपका उद्देश्य अच्छा है पर मैं समझता हूँ, आपको इस बार सफलता नहीं मिलेगी। आप श्री डेविड ह्यूम का उदाहरण देकर हमें यह विश्वास दिलाना चाहते हैं कि निराशा की एकमात्र दवा तथा मृत्यु-भय का सही इलाज अनीश्वरवाद है .... आप चाहे कि **बाबिल** के ध्वंसावशेषों को देखकर मुस्कराया करें और सख़्त जान **फ़राओन** को लाल सागर तक पहुँचने के लिए बधाई दें '' (उपरोक्त पुस्तक, पृ. 21, 22)। ऐडम स्मिथ के कालिज के दिनों के एक मित्र— जो एक रूढ़िवादी व्यक्ति थे— ने उनको मृत्यु के बाद लिखा है : ''स्मिथ के मन में ह्यूम के लिए बड़ा स्नेह था और ह्यूम इसके पात्र भी थे ..... परन्तु इस स्नेह ने उनको ईसाई नहीं रहने दिया .... ऐडम स्मिथ जब कभी किन्हीं ऐसे ईमानदार व्यक्तियों से मिलते थे जिन्हें वह पसन्द करते थे, ... तो वे जो कुछ भी कहते थे उस पर वह तुरन्त विश्वास कर लेते थे। यदि वह सुयोग्य एवं चतुर होरोक्स के मित्र होते तो वह इस बात पर भी विश्वास कर लेते कि आसमान में बादल का एक टुकड़ा तक न होने पर भी चन्द्रमा कभी-कभी आँखों से ओझल हो जाता है .... अपने राजनीतिक सिद्धांतों में वह प्रजातंत्रवाद के निकट पहुँच गये थे'' (जेम्स एंडर्सन द्वारा लिखित 'मधुमक्खी', 18 खंडों में, खंड 3, पृ. 166, 165)। पादरी टॉमस चाल्मर्स को सन्देह है कि ऐडम स्मिथ ने 'अनुत्पादक मज़दूरों' की कोटि का केवल प्रोटेस्टेंट पादरियों के लिए आविष्कार किया था, हालाँकि वे परमात्मा के बग़ीचे में बड़े सवाब का काम करते हैं।''

फ्रेडरिक एंगेल्स

प्रवासी साहित्य

(दूसरे लेख से उद्धरण)

.... हमारे ब्लांपंथियों तथा बकूनिनवादियों में इस मायने में बुनियादी समानता है कि वे अत्यन्त दूरगामी, अत्यन्त अतिवादी प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करना चाहते हैं। संयोग से यही कारण है कि लक्ष्यों को लेकर बकूनिनवादियों का विरोध करते हुए भी ब्लांपंथी साधनों के संबंध में उनसे अक्सर सहमत होते हैं। इसलिए अनीश्वरवाद को लेकर यह प्रश्न अन्य सभी से अधिक आमूल परिवर्तनवादी होने का है। सौभाग्य से, इन दिनों अनीश्वरवादी होना काफ़ी आसान हो गया है। यूरोपीय मज़दूर पार्टियों में तो अनीश्वरवाद स्वतः सिद्ध–सा है चाहे वह उस स्पेनी बकूनिनवादी के अनीश्वरवाद से मिलता–जुलता ही हो, जिसने यह घोषणा की थी : "ईश्वर में विश्वास रखना सारे समाजवाद के ख़िलाफ़ है, पर जहाँ तक वर्जिन मेरी में विश्वास रखने का सवाल है, यह एकदम अलग बात है तथा प्रत्येक शालीन समाजवादी को उसमें विश्वास रखना चाहिए।" जहाँ तक जर्मन सामाजिक–जनवादी मज़दूरों का संबंध है, यह कहा जा सकता है कि अनीश्वरवाद उनके लिए तो पहले ही अपनी उपयोगिता से अधिक जीवित रह लिया है : यह विशुद्ध निषेध उन पर तो लागू ही नहीं होता है क्योंकि वे ईश्वर में आस्था के सैद्धांतिक विरोध में तो अब खड़े हैं ही नहीं, केवल व्यावहारिक विरोध में खड़े हैं : **वे तो सब ईश्वर की छुट्टी ही कर चुके हैं,** वे वास्तविक दुनिया में रहते व सोचते हैं और इसलिए भौतिकवादी हैं। संभव है यही फ्रांस पर भी लागू होता है। यदि नहीं, तो पिछली शताब्दी के गौरवपूर्ण फ्रांसीसी भौतिकवादी साहित्य—जिसमें फ्रांसीसी बोध को रूप–तत्त्व तथा अंतर्वस्तु दोनों ही की दृष्टि से उदात्त अभिव्यक्ति मिली है तथा जो उस समय विद्यमान विज्ञान के स्तर को देखते हुए आज भी अंतर्वस्तु की दृष्टि से अत्यन्त ऊँचे मुक़ाम पर तथा रूप–तत्त्व की दृष्टि से श्रेष्ठतम बना हुआ है, के वितरण को मज़दूरी के बीच बड़े पैमाने पर संगठित करने से आसान काम और हो ही क्या सकता है। हालाँकि, हमारे ब्लांपंथियों को यह

नहीं जँचता। यह सिद्ध करने के लिए कि वे अन्य सभी की तुलना में ज़्यादा आमूल परिवर्तनवादी हैं, ईश्वर को 1793 में ही ईश्वर का अस्तित्व समाप्त हो जाने की आज्ञप्ति जारी कर दी जाती है:

"कम्यून मानव जाति को अतीत की विपत्ति (ईश्वर) के प्रेत से, उनकी वर्तमान विपत्ति के इस कारण (कलप्ति, असत् ईश्वर एक कारण) से, सदा-सर्वदा के लिए मुक्ति दिलायेगा। कम्यून में पुरोहित-पुजारियों के लिए कोई स्थान नहीं है; प्रत्येक धार्मिक अनुष्ठान (उपासना), प्रत्येक धार्मिक संघटन पर पाबन्दी लगा दी जानी चाहिए।"

लोगों को मुफ़्ती के आदेश से, 'ऊपर' के आदेश अनीश्वरवादियों में रूपांतरित करने की इस माँग पर कम्यून के जिन दो सदस्यों ने हस्ताक्षर किये हैं, उन्हें यह पता लगा पाने का तो निश्चय ही समुचित अवसर मिला होगा कि काग़ज़ पर तो कैसा भी आदेश निकाला जा सकता है। पर जिसका यह अर्थ क़तई नहीं होता कि उसका अनुपालन होगा तथा यह भी कि उत्पीड़न अवांछित मान्यताओं को सुदृढ़ (सघन) बनाने का सबसे अच्छा तरीक़ा होता है। इतना तो सुनिश्चित है : ईश्वर की जो एकमात्र सेवा की जा सकती है वह है अनीश्वरवाद को एक अनिवार्य जड़सूत्र बनाकर तथा मोटे तौर पर धर्म को निषिद्ध घोषित करके बिस्मार्क के पुरोहित-विरोधी कुल्टुरकांप्फ़[1] से भी आगे निकलकर।

---

1. (संस्कृति के लिए एक संघर्ष)—उन सुधारों की एक प्रणाली को पूँजीवादी उदारवादियों द्वारा दिया गया नाम, जो 19वीं शताब्दी के आठवें दशक में लौकिक संस्कृति के लिए संघर्ष के नाम पर बिस्मार्क की सरकार ने लागू किये थे। ये सुधार कैथोलिक चर्च और मध्यमार्गी पार्टी के विरुद्ध लक्षित थे, जिन्होंने भू-स्वामियों, पूँजीपति वर्ग तथा जर्मनी के कैथोलिक प्रदेशों के किसान समुदाय के एक भाग में पृथकतावादी तथा प्रशा-विरोधी प्रवृत्तियों का समर्थन किया था। बिस्मार्क की नीति का लक्ष्य यह था कि धार्मिक मतभेद भड़काकर मज़दूरों को वर्ग-संघर्ष से दूर हटाया जाये। नौवें दशक के आरम्भ में, जब मज़दूरों का आन्दोलन उभार पर था, इन सुधारों के बड़े भाग को रद्द कर दिया गया।

कार्ल मार्क्स

गोथा-कार्यक्रम की आलोचना

(उद्धरण)

'अंतःकरण की स्वतंत्रता'। 'कुल्टुरकाम्फ़'[1] के इस ज़माने में अगर कोई उदारतावादियों को उनके पुराने सूत्रों की याद दिलाना चाहे, तो वह निश्चय ही निम्नलिखित रूप में किया जा सकता है: ''हर किसी के लिए पुलिस की दख़लंदाज़ी के बिना अपनी धार्मिक तथा साथ ही साथ शारीरिक आवश्यकताओं को पूरा करना संभव होना चाहिए।'' लेकिन मज़दूर पार्टी को इस संबंध में हर हालत में अपनी यह चेतना प्रकट करनी ही चाहिए थी कि पूँजीवादी 'अंतःकरण की स्वतंत्रता' हर संभव प्रकार की **अंतःकरण की धार्मिक स्वतंत्रता** की छूट के सिवा कुछ नहीं है और यह कि अपनी ओर से तो मज़दूर पार्टी वस्तुतः अंतःकरण को धर्म के इन्द्रजाल से मुक्त करने का यत्न करती है। लेकिन कोई बुर्जुआ स्तर के परे क़दम न रखने का भी तो तय कर ही सकता है ....

1. देखें—पिछले पृष्ट पर दी गयी टिप्पणी।—अनु.

फ्रेडरिक एंगेल्स

ड्यूहरिंग मत – खंडन

(उद्धरण)

ईसाई धर्म को केवल एक ही ऐसी बात का ज्ञान था, जिसमें सब मनुष्य समान थे, कि सब समान रूप से मूल पाप की अवस्था में जन्मे थे। ईसाई धर्म दासों व उत्पीड़ितों का धर्म था और यह बात उसके इस स्वरूप से पूरी तरह मेल खाती थी। इसके अलावा यह धर्म अधिक-से-अधिक केवल कुछ चुने हुए लोगों की ही समानता में विश्वास करता था। किन्तु इस विचार पर केवल एकदम आरम्भ में ही ज़ोर दिया गया था। इस नये धर्म की प्रारंभिक अवस्थाओं में सामूहिक स्वामित्व के भी जो चिह्न दिखाई देते थे, वे समानता के किन्हीं वास्तविक विचारों पर आधारित नहीं थे, बल्कि वे एक निषिद्ध पंथ की एकता की भावना पर आधारित थे। थोड़ा-सा समय बीतते ही पादरियों एवं अन्य सामान्य जन के बीच भेद क़ायम हो गया तथा उसने ईसाई धर्म की इस प्रारंभिक समानता को भी नष्ट कर दिया।

जब पश्चिमी यूरोप को जर्मनों ने रोंद डाला, तो वहाँ धीरे-धीरे एक ऐसे पेचीदा सामाजिक एवं राजनीतिक पद-सोपान का निर्माण हुआ, जैसा इसके पहले दुनिया में कहीं नहीं देखा गया था और उसके परिणामस्वरूप समानता के समस्त विचार कई शताब्दियों के लिए ग़ायब हो गये। परन्तु साथ ही जर्मनों के आक्रमण ने पश्चिमी केन्द्रीय यूरोप को ऐतिहासिक विकास के प्रवाह में खींच लिया। पहली बार एक सुगठित सांस्कृतिक क्षेत्र का निर्माण किया तथा इस क्षेत्र के भीतर पहली बार मुख्यतया जातीय राज्यों की प्रणाली को जन्म दिया, जो एक-दूसरे पर पारस्परिक प्रभाव तो डालते ही थे, एक-दूसरे को नियंत्रण में भी रखते थे। इस सबके माध्यम से उसने वह भूमि तैयार कर दी, जिसके आधार पर ही बाद के काल में मनुष्यों की समान हैसियत अथवा मनुष्य के अधिकारों का प्रश्न उठाया जा सकता था।

अब व्यक्ति की संप्रभुता इस बात में निहित है कि :

''व्यक्ति राज्य के हाथों **परम बाध्यता के आधीन** होता है; लेकिन यह बाध्यता केवल उसी हद तक उचित ठहरायी जा सकती है, जिस हद तक कि वह 'सचमुच प्राकृतिक

न्याय की सेवा करती है।' इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए 'विधायी तथा न्यायिक सत्ता' होगी, जिसका 'समुदाय के हाथों में रहना ज़रूरी है।'' प्रतिरक्षा के लिए भी एक संश्रय होगा, जो ''आंतरिक सुरक्षा क़ायम रखने के लिए सेना में अथवा किसी कार्यकारी अनुभाग में संयुक्त कार्यवाई के रूप में '' अभिव्यक्त होगा;

— कहने का मतलब यह कि सेना, पुलिस व जेनडार्म (सशस्त्र पुलिस) भी होंगे। इसके पहले भी कई बार श्री ड्यूहरिंग यह बात प्रमाणित कर चुके हैं कि वह एक अच्छे प्रशियाई हैं। यहाँ उन्होंने अपने आपको उस आदर्श प्रशियाई का समतुल्य प्रमाणित कर दिया है, जो भूतपूर्व मंत्री फ़ॉन रोख़ोव के शब्दों में ''अपने जेनडार्म को अपनी छाती में छिपाये हुए चलता है।'' लेकिन भविष्य के ये जेनडार्म उतने ख़तरनाक नहीं होंगे, जितने आज के पुलिस वाले होते हैं। परम सत्ता संपन्न व्यक्ति को उनके हाथों कितनी भी तकलीफ़ें क्यों न झेलनी पड़ें, एक बात से उसे हमेशा **सांत्वना** मिलती रहेगी :

''स्वतंत्र समाज परिस्थितियों के अनुरूप उसके साथ जो भी न्याय या अन्याय करे, **प्राकृतिक अवस्था** में उसका जो हाल होता, उससे **ख़राब** उसकी दशा कभी नहीं हो सकती।''

और इसके बाद एक बार फिर कॉपी-राइट (लेखकीय अधिकार, जो बार-बार आड़े आ जाते हैं) की टँगड़ी मारकर हमें गिरा देने के बाद भी ड्यूहरिंग हमें आश्वस्त करते हैं कि उनके भावी संसार में ''निस्संदेह, सबके लिए एकदम स्वतंत्र वकीलों का इन्तज़ाम रहेगा।''

यह स्वतंत्र समाज, जिस रूप में आज उसकी कल्पना की जाती है, अधिकाधिक भानमती का पिटारा बनता जा रहा है। वास्तुकार, बोझा ढोने वाले कुली, पेशेवर लेखक, जेनडार्म और अब वकील भी ! 'विवेकशील तथा आलोचनात्मक चिंतन' का यह काल्पनिक जगत् तथा विभिन्न धर्मों के अनेक स्वर्गीय साम्राज्य, जहाँ धर्मभीरु व्यक्ति को वे सारी वस्तुएँ रूपांतरित शक्ल में मिल जाती हैं, जिनसे उसको पार्थिव जीवन में सुख मिला है— ये दोनों दो मटर के दानों की तरह बिल्कुल एक-से हैं और श्री ड्यूहरिंग एक ऐसे राज्य के नागरिक हैं ''जहाँ हर कोई अपने मनचाहे ढंग से सुखी हो सकता है।[1] तब हमें और क्या चाहिए।

परन्तु इसका कोई महत्त्व नहीं है कि हम क्या चाहते हैं ? महत्त्व यह है कि श्री ड्यूहरिंग क्या चाहते हैं। फ्रेडरिक द्वितीय से श्री ड्यूहरिंग इस बात में भिन्न हैं कि **ड्यूहरिंगीय** भावी राज्य में निश्चय ही हर कोई अपने मनचाहे ढंग से सुखी नहीं हो सकेगा। इस भावी राज्य के संविधान में लिखा है:

---

1. प्रशा के बादशाह फ्रेडरिक द्वितीय द्वारा 22 जुलाई, 1740 को किये गये उस निश्चय में से एक वाक्यांश, जो उसने मंत्री ब्रैंड और परिषद् के अध्यक्ष राईख़न बाख़ के इस सवाल के जवाब में किया था कि क्या प्रशा के प्रोटेस्टेंट राज्य में कैथोलिक स्कूलों को इजाज़त दी जा सकती है।

"स्वतंत्र समाज में पूजा-पाठ के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता; क्योंकि उसका प्रत्येक सदस्य उस आदिम-कालीन बचकाने अंधविश्वास से आगे निकल गया है कि प्रकृति की पृष्ठभूमि में या उसके ऊपर कुछ ऐसे जीवधारी भी होते हैं, जिनको बलिदानों या प्रार्थनाओं से प्रभावित किया जा सकता है।"इसलिए सही ढंग से उपकल्पित सोशलिटेरियन अवस्था को ..... धार्मिक जादू के सारे उपकरणों का और उनके साथ-साथ पूजा के समस्त अनिवार्य तत्वों का **अन्त कर देना होगा।**

अतः धर्म पर पाबन्दी लगायी जा रही है।

किन्तु हर प्रकार का धर्म मनुष्यों के दिमाग़ों में इन बाह्य शक्तियों के काल्पनिक प्रतिबिंद के सिवा कुछ नहीं होता, जो उनके दैनिक जीवन को शासित करती हैं। इस प्रतिबिंब में पार्थिक शक्तियाँ अलौकिक शक्तियों का रूप धारण कर लेती हैं। इतिहास के आरम्भ में पहले प्रकृति की शक्तियाँ इस प्रकार मनुष्यों के दिमाग़ों में प्रतिबिंबित हुई थीं। आगे जो विकास हुआ, उसके दौरान इन्हीं शक्तियों ने विभिन्न जातियों के यहाँ नाना प्रकार से मूर्त रूप धारण कर लिये। तुलनात्मक पुराणविद्या ने कम-से-कम इंडो-यूरोपीय जातियों के बारे में इस प्रारंभिक प्रक्रिया के क्रम का उसके मूल बिन्दु तक पता लगा लिया है। यह प्रक्रिया प्रारंभ हुई थी भारतीय वेदों में और उसके बाद इसका जिस प्रकार विकास हुआ— उसका भारतीयों, फ़ारसियों, यूनानियों, रोमनों तथा जर्मनों के इतिहास में विस्तार से निरूपण किया जा चुका है और जितने भर में उपलब्ध सामग्री इसे संभव बना सकी है, उसका केल्ट लोगों, लिथुआनियनों तथा स्लाव लोगों के इतिहास में भी निरूपण किया जा चुका है। लेकिन बहुत दिन नहीं बीत पाये थे कि प्रकृति की शक्तियों के साथ-साथ सामाजिक शक्तियाँ भी क्रियाशील होने लगीं। मनुष्यों की दृष्टि में ये शक्तियाँ थीं और ये भी उन पर प्रकृति की शक्तियों जैसी प्रकटतः प्राकृतिक अनिवार्यता के साथ शासन करती थीं। वे काल्पनिक आकृतियाँ, जो शुरू में केवल प्रकृति की रहस्यमयी शक्तियों को ही प्रतिबिंबित करती थीं, इस बिन्दु पर पहुँचकर सामाजिक विशिष्टताएँ ग्रहण कर लेती हैं और इतिहास की शक्तियों की प्रतिनिधि बन जाती है।[1] विकास की और भी आगे की अवस्था में अनेक देवताओं के समस्त प्राकृतिक तथा सामाजिक

---

1. पुराण कथाओं में आगे चलकर जो व्यापक गड़बड़ी दिखाई दी, उसका एक कारण देवताओं का यह दोहरा स्वरूप भी था; जो उन्होंने बाद में प्राप्त कर लिया था। तुलनात्मक पुराण विद्या ने इस कारण की ओर ध्यान नहीं दिया है, क्योंकि वह केवल प्रकृतियों की शक्तियों के प्रतिबिंब के रूप में ही उनका अध्ययन करती है। चुनांचे कुछ जर्मन क़बीलों में युद्ध का देवता टिर (प्राचीन नौर्डिक) या ज़िओ (पुरानी उत्तरी जर्मनी की भाषा में) कहलाता है और इसलिए वह यूनानी ज़्यूस तथा लैटिन ड्यू-पिटेर के स्थान पर ज़ुपिटर से मेल खाता है। दूसरे जर्मन क़बीलों में एर या एओर यूनानी आरेस तथा लैटिन मार्स से मेल खाता है।—(एंगेल्स की टिप्पणी)

गुण एक परम शक्तिशाली ईश्वर में स्थानांतरित कर दिये जाते हैं, जो केवल अमूर्त मानव का प्रतिबिंब होता है। एकेश्वरवाद की उत्पत्ति इस प्रकार ही हुई थी, जो कि उत्तरकालीन यूनानियों के विकृत दर्शनशास्त्र की अन्तिम प्रस्तुति थी तथा जो यहूदियों के एकांतिक जातीय देवता **जेहोवा**[1] के रूप में साकार हुई थी। इस सुविधाजनक, उपयुक्त तथा सर्वत्र अनुकूलनीय रूप में धर्म मनुष्यों पर शासन करने वाली प्राकृतिक एवं सामाजिक, परायी शक्तियों के साथ उनके संबंधों के तात्कालिक अर्थात् भाव प्रधान रूप में उस समय तक जीवित रह सकता है, जब तक कि मनुष्य इन शक्तियों के नियंत्रण में बने रहते हैं। परन्तु हम बार-बार यह बात देख चुके हैं कि वर्तमान पूँजीवादी समाज में मनुष्यों पर उनके स्वयं के द्वारा पैदा की गयी आर्थिक परिस्थितियाँ शासन करती हैं। उन पर वे उत्पादन के साधन शासन करते हैं, जिन्हें स्वयं उन्होंने तैयार किया हैं उनको लगता है जैसे कोई परायी शक्ति उन पर शासन कर रही है। इसलिए प्रतिबिंबन की जिंस क्रिया से धर्म का जन्म हुआ है, उसका वास्तविक आधार भी मौजूद है। यद्यपि पूँजीवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र ने इन शक्तियों के शासन के कारणिक संबंध पर भी कुछ प्रकाश डाला है, तथापि इससे साररूप में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ा है। पूँजीवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र न तो सामान्य संकटों को रोक सकता है और न ही अलग-अलग पूँजीपतियों को घाटों, अप्राप्य ऋणों तथा दिवालियापन से और न ही मज़दूरों को बेरोज़गारी तथा निर्धनता से बचा सकता है। यह बात आज भी सही है कि मनुष्य इच्छा करता है और फल का निश्चय-निर्धारण ईश्वर (अर्थात् पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली की परायी शक्तियाँ) करता है। केवल ज्ञान चाहे वह पूँजीवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र से बहुत आगे और बहुत गहराई तक विकसित हो जाये— सामाजिक शक्तियों को समाज के अधीन बनाने के लिए काफ़ी नहीं होता। इसके लिए जो चीज़ सर्वोपरि आवश्यक है, वह है एक **सामाजिक कार्य** और जब यह कार्य संपन्न हो जाता है, जब समाज उत्पादन के समस्त साधनों पर अधिकार करके तथा उनका एक योजनाबद्ध ढंग से उपयोग करके अपने आपको तथा अपने समस्त सदस्यों को उत्पादन के उन साधनों की दासता से मुक्त कर देता है, जिनको उसके सदस्यों ने

1. जैसा कि ऐवाल्ड ने सिद्ध कर ही दिया है यहूदी लोग नुक़्तों वाली लिपि (जिसमें स्वर तथा पठन संकेत होते थे) जिन्हें वे जहवेह के नाम के व्यंजनों के नीचे लिख देते थे। इस नाम का उच्चारण निषिद्ध था। इसके स्थान पर वे एडोनाइ शब्द के स्वरों को पढ़ते थे। बाद में यह जेहोवा हो गया। इसलिए यह देवता का नाम न होकर मात्र व्याकरण की त्रुटि है। हिब्रू में यह असंभव है।

अपने हाथों से निर्मित किया है। पर फिर भी जो एक दुर्निवार तथा परायी शक्ति के रूप में उसके मुक़ाबले में खड़े हो जाते हैं और इसलिए जब मनुष्य केवल इच्छा ही नहीं करता रहे, बल्कि उसका फल भी निश्चित करने लगे, तब जाकर ही उस अन्तिम परायी शक्ति का लोप होगा जो आज भी धर्म में प्रतिबिंबित हो रही है और उसके साथ-साथ स्वयं धार्मिक परावर्तन का भी लोप हो जायेगा, क्योंकि तब ऐसी कोई चीज़ बची नहीं रहेगी जिसका परावर्तन हो सके।

लेकिन श्री ड्यूहरिंग उस समय तक प्रतीक्षा नहीं कर सकते, जब धर्म की प्राकृतिक मृत्यु हो जायेगी। वह ज़्यादा गहरी जड़ों वाले ढंग से आगे बढ़ते हैं। वह बिस्मार्क के भी कान काट लेते हैं जब वह न केवल कैथोलिक मत के विरुद्ध बल्कि दुनिया के प्रत्येक धर्म के विरुद्ध बिस्मार्क के मई क़ानूनों[1] से भी ज़्यादा सख्त क़ानून बना देते हैं। वह भविष्य के जेनडार्मों के धर्म के विरुद्ध उकसाते हैं और इस प्रकार धर्म को शहीद बनने में तथा उसकी जीवन-अवधि को बढ़ाने में सहायता देते हैं। हम जिधर मुड़ते हैं, उधर ही हमें विशिष्ट तया प्रशियाई समाजवाद के दर्शन होते हैं।

समानता—न्याय। इस विचार का कि समानता न्याय की अभिव्यंजना है और वह चरम पूर्णता प्राप्त राजनीतिक एवं सामाजिक सिद्धांत है—का विकास काफ़ी ऐतिहासिक ढंग से हुआ है। आदिम समुदायों में समानता नहीं थी या थी भी तो बहुत सीमित रूप में केवल अलग-अलग समुदायों के पूर्णाधिकार-प्राप्त सदस्यों के लिए ही। उसकी पीठ पर दास-प्रथा सवार थी। प्राचीन काल के जनतंत्र में भी यही हाल था। सभी लोगों की समानता का विचार—यूनानियों, रोमनों तथा बर्बरों, स्वतंत्र मनुष्यों और दासों, पराधीन प्रजा तथा विदेशियों,

---

1. चार क़ानून, जो बिस्मार्क की पहलक़दमी पर प्रशा के धार्मिक मामलों के मंत्री फ़ाल्क ने 11-14 मई, 1873 को राइख़स्टाग (संसद) में पारित करवाये थे। ये क़ानून, जिनके द्वारा कैथोलिक चर्च पर राज्य का कड़ा नियंत्रण कायम किया था, तथाकथित 'संस्कृति के लिए संघर्ष' का चरम बिन्दु थे। ये उन क़ानूनी कार्यवाइयों की सारी श्रृंखला की सबसे महत्वपूर्ण कड़ी थे, जो बिस्मार्क द्वारा 1872-1875 में कैथोलिक पादरियों के विरुद्ध की गयी थीं, इस नाते कि वे उस मध्यमार्गी पार्टी के मुख्याधार थे, जो दक्षिणी तथा दक्षिणी-पश्चिमी जर्मनी के पृथक्करण के अनुयाइयों के हितों का प्रतिनिधित्व करती थी। पुलिस के उत्पीड़न का कैथोलिकों ने कड़ा प्रतिरोध किया, जिससे उन्हें शहादत का यश मिलने लगा। मज़दूर आन्दोलन के विरुद्ध लड़ने के लिए सभी प्रतिक्रियावादी शक्तियों को एकताबद्ध करने की दृष्टि से 1880-1887 में बिस्मार्क सरकार लगभग सभी कैथोलिक विरोधी क़ानूनों को पहले ढीला करने व बाद में रद्द करने पर बाध्य हुई थी। — अनु.

नागरिकों तथा परदेसियों आदि की समानता का विचार प्राचीन काल के लोगों को न केवल पागलपन, बल्कि एक मुजरिमाना विचार प्रतीत होता था। यह स्वाभाविक ही था कि ईसाई जगत् में इस विचार के प्रथम प्रारम्भिक चिह्नों का सख़्ती के साथ दमन किया गया।

ईसाई धर्म में शुरू में **ईश्वर के समक्ष पापियों के रूप में सभी मनुष्यों की नकारात्मक समानता का विचार पाया जाता था** और अधिक संकुचित अर्थ में ईश्वर की सभी संतानें इस रूप में समान थीं कि उन्हें ईसा की दया से तथा ईसा के बहे हुए ख़ून के प्रताप से मुक्ति मिलती है। ये दोनों संस्करण दासों, निर्वासितों, संपत्तिविहीन, संत्रस्त तथा उत्पीड़ित लोगों के धर्म के रूप में ईसाई धर्म की भूमिका पर आधारित हैं। ईसाई धर्म की विजय हो जाने पर यह बात पृष्ठभूमि में चली गयी और मुख्य महत्त्व सच्चा धर्म मानने वालों, मूर्तिपूजकों, सनातनियों तथा विधर्मियों के विरोध को दिया जाने लगा।

शहरों का और उनके साथ-साथ पूँजीपति वर्ग के न्यूनाधिक विकसित तत्त्वों व सर्वहारा का उदय होने पर यह लाज़िमी था कि पूँजीवादी अस्तित्व की एक शर्त के रूप में समानता की माँग नया ज़ोर पकड़े अर उसके साथ-साथ सर्वहारा यह निष्कर्ष निकाले कि उसे राजनीतिक समानता से सामाजिक समानता की ओर बढ़ना चाहिए। इस चीज़ ने स्वभावतया एक धार्मिक रूप धारण कर लिया, जो सबसे पहले किसान युद्ध में उग्र रूप में अभिव्यक्त हुआ।

समानता की माँग के पूँजीवादी पक्ष को सबसे पहले रूसो ने बेहद तीखे शब्दों में सूत्रबद्ध किया, पर समस्त मानव जाति की ओर से बोलने का दावा करते हुए। जैसा कि पूँजीपति वर्ग की सभी माँगों के साथ होता था। यहाँ भी सर्वहारा ने अपनी भाग्यसूचक छाया उसके पास डाल दी तथा उसने अपने स्वयं के निष्कर्ष निकाले (बाव्येफ़)। पूँजीवादी समानता और सर्वहारा द्वारा उससे निकाले गये निष्कर्षों के बीच के संबंध को अधिक विस्तार से विकसित किया जाना चाहिए।

प्रकृति का सही प्रतिबिंबन भी बेहद कठिन काम होता है क्योंकि वह अनुभव के एक लंबे इतिहास का फल होता है। आदिम मनुष्य के लिए प्रकृति की शक्तियाँ परायी, रहस्यमयी तथा अपने से श्रेष्ठ चीज़ थीं। एक ख़ास अवस्था में, जिसमें होकर सभी सभ्य जातियाँ गुज़र चुकी हैं, मनुष्य इन शक्तियों को मूर्तरूप देकर उन्हें आत्मसात कर लेता है। प्रकृति की शक्तियों को मूर्तरूप देने की इस चाह से ही हर जगह देवता पैदा हुए और जहाँ तक ईश्वर के

अस्तित्व के प्रमाण का प्रश्न है, लोगों के सामान्य मत से आख़िर एक आवश्यक संक्रमणकालीन अवस्था के रूप में प्राकृतिक शक्तियों को मूर्त रूप देने की इस चाह की सार्विकता ही प्रमाणित होती है और इसके फलस्वरूप उससे धर्म की सार्विकता भी प्रमाणित हो जाती है। केवल प्रकृति की शक्तियों का वास्तविक ज्ञान ही देवताओं को या ईश्वर को एक के बाद दूसरे स्थान से बहिष्कृत करता जाता है (सेक्की और उनका सौरमंडल)। यह प्रक्रिया अब इस हद तक आगे बढ़ गयी है कि सैद्धांतिक दृष्टि से यह माना जा सकता है कि वह पूरी हो गयी है।

समाज के क्षेत्र में प्रतिबिंबन और भी कठिन होता है। समाज आर्थिक संबंधों से, उत्पादन तथा विनिमय से और इसके अतिरिक्त ऐतिहासिक दृष्टि से पूर्वापेक्षित परिस्थितियों से निर्धारित होता है।

फ्रेडरिक एंगेल्स

प्रकृति की द्वंद्वात्मकता

(अंश)

भूमिका—

आधुनिक प्रकृति विज्ञान, जिसने अकेले ही प्राचीन युग के प्रतिभाशाली वैज्ञानिकों के प्राकृतिक-दार्शनिक, अंतर्ज्ञान तथा अरबों की अति महत्त्वपूर्ण किंतु छिटपुट खोजों के मुक़ाबले में जो अधिकांशतः बिना फल प्रदान किये ही विलुप्त हो गयी थीं— वैज्ञानिक, क्रमबद्ध तथा सर्वतोमुखी विकास अर्जित किया है। यह प्रकृति विज्ञान हाल के समूचे इतिहास की भाँति उस शक्तिशाली युग से आरम्भ होता है, जिसे हम जर्मन लोग अपने ऊपर आयी उस समय की राष्ट्रीय विपदा के नाम पर धर्म-सुधार का काल कहते हैं। फ्रांसीसी लोग पुनर्जागरण काल तथा इतालवी लोग चिंक्वेचेंटो (पाँच सौवाँ वर्ष अर्थात् 16वीं शताब्दी— संपा.) कहते हैं, यद्यपि इनमें से कोई भी नाम उस युग की वस्तुस्थिति की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं करता। यह वह युग था जिसका उदय 15वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ था। राजशाही ने नगरों के बर्गरों के समर्थन से सामंती अभिजात वर्ग की सत्ता चूर कर दी और मूलतः जातीयता पर आधारित उन महान् राजतंत्रों की स्थापना की जिनके अंतर्गत आधुनिक यूरोपीय राष्ट्र तथा आधुनिक पूँजीवादी समाज विकसित हुए और जिस समय बर्गरों और सामंती अभिजातों की लड़ाई चल रही थी उसी समय जर्मनी के किसान युद्ध ने रंगमंच पर विद्रोही किसानों को ही नहीं (किसानों का इस तरह रंगमंच पर अवतरित होना अब नयी बात नहीं रह गयी थी) बल्कि उनके पीछे-पीछे हाथों में लाल झंडा तथा होठों पर संपत्ति के साझे स्वामित्व का नारा लिये आधुनिक सर्वहारा के अग्रदूतों को भी उतारकर मानो आने वाले वर्ग-संघर्षों का पूर्णाभ्यास दिया। बैज़ंतिया के ध्वंसावशेषों से बचा ली गयी पांडुलिपियों ने, रोम के खंडहरों से निकाली गयी

प्राचीन एवं अनोखी मूर्तियों ने आश्चर्यचकित पश्चिम को एक नयी दुनिया के— प्राचीन यूनान की दुनिया के दर्शन कराये। इस दुनिया की जाज्वल्यमान प्रतिमाओं के आगे मध्य युग के प्रेत छूमंतर हो गये। इटली में कला का कल्पनातीत पल्लवन हुआ जो क्लासिकीय पुरातनता के प्रतिबिम्ब की तरह था और जो फिर कभी उन बुलन्दियों पर नहीं पहुँच पाया। इटली, फ्रांस और जर्मनी में नये साहित्य का— पहले आधुनिक साहित्य का उदय हुआ। इसके थोड़े ही समय बाद अंग्रेज़ी और स्पेनी साहित्य के क्लासिकीय युग आये। पुराने भूमंडल (प्राचीन रोम-निवासी पृथ्वी के लिए इसी शब्द का उपयोग किया करते थे— संपा.) की सीमाएँ भंग हो चुकी थीं। दुनिया की खोज तो दरअसल अब हुई थी और आगामी काल के विश्व व्यापार के लिए तथा दस्तकारी के उस मैनुफ़ेक्चर में संक्रमण के लिए ज़मीन तैयार हुई थी, जो आगे चलकर बड़े पैमाने के आधुनिक उद्योग का आरंभ-बिन्दु बना। मनुष्यों के दिमाग़ों पर चर्च का अधिनायकत्व चकनाचूर हो गया। अधिकांश जर्मन जातियों ने प्रोटेस्टेंट मत स्वीकार करके इस अधिनायकत्व को प्रत्यक्षतः तिलांजलि दे दी, जबकि लैटिन जातियों में अरबों से प्राप्त और नव-अन्वेषित यूनानी दर्शन से आहार पाकर पुष्ट स्वतंत्र चिंतन की एक उल्लासमय नयी भावना अधिकाधिक घर करने लगी तथा 18वीं शताब्दी के भौतिकवाद के लिए मार्ग प्रशस्त करने लगी।

मानव जाति ने इतनी बड़ी प्रगतिशील क्रांति अभी तक नहीं देखी थी। यह वह युग था जो महामानवों की माँग करता था तथा जिसने महामानवों को जन्म भी दिया। वे चिंतनशक्ति में, आवेग तथा स्वभाव में, सर्वव्यापकता एवं ज्ञान में महामानव थे। पूँजीपति वर्ग के आधुनिक शासन के संस्थापक स्वयं पूँजीवादी परिसीमाओं से सर्वथा मुक्त थे। वे परिसीमाओं से मुक्त ही नहीं थे, युग की साहसिकता से भी कमोबेश प्रेरित थे। उस युग का शायद ही कोई ऐसा महत्वपूर्ण व्यक्ति हो, जिसने कई देशों की यात्राएँ न की हों जो चार या पाँच भाषाओं में पारंगत न रहा हो और जिसने सृजन के अनेक क्षेत्रों में ख़्याति अर्जित न की हो। लियोनार्दो दा विंची महान चित्रकार ही न थे, महान गणितज्ञ, यांत्रिकीविद् और इंजीनियर भी थे। भौतिक विज्ञान की अति विविध शाखाएँ बड़ी-बड़ी खोजों के लिए उनकी ऋणी हैं। **अलब्रेख़्त दूरेर** चित्रकार, उत्कीर्णक, मूर्तिकार एवं वास्तुकार थे। यही नहीं उन्होंने क़िलेबन्दी की वह प्रणाली निर्मित की जिसमें ऐसे अनेक विचार सन्निहित थे जिन्हें काफ़ी समय बाद **मोंतालंबेर** तथा आधुनिक जर्मन विज्ञान ने अपनाया। **मैकियावेली** राजनेता, इतिहासकार और कवि होने के

साथ-साथ आधुनिक काल के सबसे पहले उल्लेखनीय सैन्य साहित्य के प्रणेता भी थे। लूथर ने न केवल चर्च की बल्कि जर्मन भाषा की अवगी की घुड़सालों[1] की गन्दगी को दूर किया। वह आधुनिक जर्मन गद्य के जन्मदाता तो थे ही, उन्होंने उस विजय-गान का राग एवं पाठ भी तैयार किया जो 16वीं शताब्दी का 'मासेइयेज़' गीत बन गया।[2] उस युग के नायक अभी श्रम-विभाजन की दासता में नहीं फँसे थे, जिसके एकांगीपन पैदा करने वाले, संकुचनकारी प्रभाव उनके उत्तराधिकारियों में प्रायः दिखायी देते हैं। किंतु उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि प्रायः उन सभी ने समकालीन आंदोलनों के बीच, व्यावहारिक संघर्ष के बीच जीवन-यापन किया तथा अपने कार्य व्यापार को संचालित किया। उन्होंने निश्चित पक्ष लिये तथा संघर्ष में शामिल हुए। इनमें से कुछ लिख-बोल कर लड़े, कुछ अन्य तलवार लेकर तथा कुछ ऐसे थे जिन्होंने लड़ाई में, संघर्ष में दोनों ही तरीक़ों को अपनाया। इसी से उनमें चरित्र की वह पूर्णता एवं ओज था जिसने उन्हें **पूर्ण मानव** बनाया। मात्र अध्ययन को समर्पित लोगों की संख्या काफ़ी कम थी : वे या तो दूसरी-तीसरी कोटि के व्यक्ति थे या फूंक-फूंककर क़दम रखने वाले कूपमंडूक, जो अपने ऊपर आँच आने के डर से संघर्ष से अलग रहे।

प्रकृति विज्ञान उस समय आम क्रांति के वातावरण में विकसित हो रहा था तथा स्वयं आद्यंत क्रांतिकारी था। इसका कारण यह था कि उसे लड़कर जीने का अधिकार प्राप्त करना था। आधुनिक दर्शनशास्त्र के प्रणेता महान् इतालवियों के साथ-साथ उसने भी इंक्वीज़ीशन ('धर्मद्रोह' के दमन के लिए मध्य युग में चर्च द्वारा स्थापित क्रूर अदालतें) के अग्निकुंडों तथा कारागारों के लिए अपने शहीद उपलब्ध कराये। यह बात ग़ौरतलब है कि प्रकृति के स्वतंत्र अन्वेषण का दमन करने में प्रोटेस्टेंटों ने कैथोलिकों को भी मात दे दी थी। **सेर्वेटस** रक्त-संचार का पता लगाने ही वाले थे जब काल्विन ने उन्हें जिंदा जलवा डाला और जहाँ कैथोलिक इंक्वीज़ीशन ने **ज्योर्दानो ब्रूनो** को केवल आग में भस्म करके संतोष कर लिया था, वहाँ काल्विन ने सेर्वेटस को पूरे दो घंटे तक ज़िंदा ही आग में भुनवाया था।

---

1. यूनानी पुराण कथा के अनुसार एलिस के राजा अवगी की जो बड़ी-बड़ी घुड़सालें वर्षों से गन्दी पड़ी थीं, उन्हें हरकुलीज़ ने एक दिन में साफ़ कर डाला। अतः 'अवगी की घुड़सालें' कूड़ा-करकट के ढेर या घोर आलस्य और अव्यवस्था का व्यंजक बन गया।
2. एंगेल्स का इशारा लूथर के विजयगान 'ईश्वर ही हमारा सच्चा आश्रयदाता है' की ओर है। हेनरिक हाइने ने अपनी रचना 'जर्मनी में धर्म तथा दर्शन के इतिहास के बारे में' के दूसरे खंड में इस गीत के बारे में लिखा कि वह "धर्म सुधार आंदोलन का मार्सेइयेज़ (फ्रांसीसी राष्ट्रगीत) है।"

उस अमर कृति का प्रकाशन जिसके द्वारा **कोपेर्निक** ने प्रकृति के मामलों में चर्च की सत्ता को चुनौती दी थी हालांकि डरते-डरते और इस प्रकार से मृत्यु-शय्या पर पहुँच चुकने के बाद ही[1] —वह क्रांतिकारी क़दम था जिसके ज़रिये प्रकृति विज्ञान ने अपनी स्वतंत्रता की घोषणा की। यह गोया लूथर द्वारा पोप के फ़रमान को जलाये जाने की पुनरावृत्ति थी। उसी समय से प्रकृति विज्ञान धर्मशास्त्र से मुक्त रहा है। यद्यपि दोनों के अपने-अपने दावों के झगड़े हमारे काल तक भी चलते आये हैं और कुछ लोगों के दिमाग़ों में ये झगड़े अभी भी ख़त्म होने से कोसों दूर है। परन्तु उस समय के ज्ञान-विज्ञान ने लम्बे-लम्बे डग भरते हुए प्रगति की है और हम यह भी कह सकते है कि उसका वेग उतना ही बढ़ता गया जितना वह अपने प्रस्थान-बिंदु से दूर (समय के अर्थ में) पहुँचता गया। मानो दुनिया को यह दिखा देना था कि जैव भूतद्रव्य की उच्चतम उपज, मानव-मस्तिष्क पर लागू होने वाला गति का नियम अब से अजैव भूतद्रव्य पर लागू होने वाले गति के नियम का प्रतिलोम है।

प्रकृति विज्ञान का जो प्रथम चरण अब आरम्भ हुआ, उसका प्रमुख कार्य उपलब्ध सामग्री का अध्ययन करना था। अधिकांश क्षेत्रों में तो एकदम आदि (शुरुआत से—अ, आ से) से ही श्रीगणेश किया जाना था। प्राचीन काल ने **यूक्लिड**[2] की ज्यामिति तथा **टोलेमी** का सौर-मंडल सिद्धांत विरासत में दिया था; अरबों ने दशमलव अंकन पद्धति, प्रारम्भिक बीजगणित, आधुनिक संख्यांक तथा कीमियागिरी विरासत में सौंपी थी। ईसाई मध्य युग ने कुछ भी नहीं किया। ऐसी स्थिति में यह अनिवार्य था कि सर्वाधिक मूलभूत प्रकृति विज्ञान यानी भूगोलीय एवं खगोलीय पिंडों की यांत्रिकी ने प्रथम स्थान ग्रहण कर लिया और उसके साथ सहायक के रूप में गणितीय विधियों की खोज एवं परिष्करण ने स्थान पाया। इस क्षेत्र में महान उपलब्धियाँ सामने आयीं। इस युगांत में, जिसके विशिष्ट प्रतिनिधि **न्यूटन व लिनीयस** हैं, हम विज्ञान की इन शाखाओं को एक निश्चित परिष्कृत स्थिति पर पहुँचा हुआ पाते हैं। सबसे महत्वपूर्ण गणितीय विधियों की बुनियादी रूपरेखा निश्चित कर दी गयी— मुख्यतः **देकार्त** ने विश्लेषणात्मक ज्यामिति का प्रणयन किया, नेपियर ने लघुगणक (लॉगेरिथ्म) और लीबनिज़ तथा सम्भवतः न्यूटन ने अवकलन व समाकलन गणित को जन्म दिया। यही बात दृढ़

1. कोपेर्निक को अपनी पुस्तक 'खगोलीय पिंडों का घूर्णन', जिसमें उन्होंने विश्व के सूर्य-केन्द्रीय सिद्धांत का प्रतिपादन किया था, अपनी मृत्यु के ही दिन (24 मई, 1543 को) तैयार होकर मिली। उनके सिद्धांत ने अब तक मान्यता प्राप्त पृथ्वी-केन्द्रित सिद्धांत की धज्जियाँ उड़ा दीं और सिद्ध कर दिया कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है तथा साथ ही अपनी धुरी पर भी घूमती है।
2. प्राचीन यूनान के महान गणितज्ञ, जिन्होंने 'ज्यामिति के तत्त्व' की रचना की, जो कि सम्पूर्ण ज्यामिति का सर्वप्रथम व्यवस्थित अध्ययन है। यूक्लिड की कृति लम्बे समय तक दुनिया में ज्यामिति से सम्बन्धित प्रामाणित व विश्वसनीय तथा एकमात्र अधिकारी रचना बनी रही।

पिंडों की यांत्रिकी के सम्बन्ध में हुई, जिसके मुख्य नियमों का सदा-सर्वदा के लिए स्पष्टीकरण कर दिया गया। अन्ततः सौर-मंडल के खगोल विज्ञान में **केप्लेर** ने ग्रहों की गति के नियमों की खोज की तथा न्यूटन ने भूतद्रव्य की गति के सामान्य नियमों के दृष्टि बिन्दु से उनका निरूपण किया। प्रकृति विज्ञान की अन्य शाखाएँ अभी इस प्रारम्भिक निष्पत्ति पर पहुँचने तक से कोसों दूर थीं। इस चरण की समाप्ति के निकट आकर ही तरल एवं गैसीय पिंडों की यांत्रिकी का अध्ययन थोड़ा आगे बढ़ा (आल्प्स-पर्वतीय धाराओं के सम्बन्ध में तोरिचेली का काम)। भौतिकी ने तो अभी पहले पग धरना शुरू ही किया था। इसमें अपवाद केवल प्रकाशिकी था, जिसकी असाधारण प्रगति का कारण खगोल विज्ञान की व्यावहारिक आवश्यकताएँ थीं। रसायन फ़्लोजिस्टन-सिद्धांत[1] की सहायता से पहली बार कीमियागिरी से पल्ला छुड़ाया ही था। भू-विज्ञान, खनिज-विज्ञान की भ्रूणावस्था से आगे नहीं बढ़ पाया था, इसलिए जीवाश्म विज्ञान का अस्तित्व अभी हो ही नहीं सकता था। जीव-विज्ञान के क्षेत्र में लोग अभी उपलब्ध अपार सामग्री को एकत्रित करने व वर्गीकृत करने में ही लगे हुए थे, जिसका सम्बन्ध वनस्पति तथा प्राणी-विज्ञान से ही नहीं, बल्कि स्वयं शरीर-रचना विज्ञान तथा शरीर-क्रिया विज्ञान से भी था। जीवन के विभिन्न रूपों की तुलना करने, उनके भौगोलिक वितरण तथा जलवायु सम्बन्धी आदि तथा जीवन-अवस्थाओं की तो अभी बात भी नहीं की जा सकती थी। इस क्षेत्र में केवल वनस्पति-विज्ञान तथा प्राणि-विज्ञान लिनीयस की बदौलत पूर्णता के निकट पहुँच पाये थे।

किंतु इस काल की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसके अन्दर एक विशिष्ट प्रकार की सामान्य विश्व-दृष्टि विकसित हुई, जिसका केन्द्रीय मत यह है कि प्रकृति सर्वथा अपरिवर्तनीय है। इस दृष्टि के अनुसार प्रकृति का आविर्भाव चाहे जिस तरह से भी हुआ हो, एक बार अस्तित्व में आ जाने के बाद वह जैसी-की-तैसी बनी रहती है। ग्रह और उनके उपग्रह रहस्यमय 'प्रथम आवेग' द्वारा गतिशील कर दिये जाने के बाद अनन्त काल तक, या कम-से-कम प्रलय के क्षण तक अपने निर्धारित दीर्घवृत्त में घूमते रहते हैं। सितारे अपनी-अपनी जगहों पर सदा के लिए स्थिर एवं अचल रहते हैं तथा 'सार्वत्रिक गुरुत्वाकर्षण' एक-दूसरे को अपनी-अपनी जगहों पर क़ायम रखते हैं। पृथ्वी अनादिकाल से या कहिये अपनी सृष्टि के

1. 18वीं शताब्दी में रसायन विज्ञान में प्रचलित धारणाओं के अनुसार फ़्लोजिस्टन दाह्य पदार्थों का ज्वलन तत्त्व था, जो दहन के अनुसार निर्मुक्त हो जाता था। परन्तु यह सुविदित होने के कारण कि हवा में गर्म किये जाने पर धातु भारी हो जाती है, फ़्लोजिस्टन के सिद्धांत के प्रतिपादकों ने फ़्लोजिस्टन को ऐसे भार से युक्त बताया जो भौतिक रूप से नकारात्मक, बेतुका है। विख्यात फ्रांसीसी रसायन विज्ञानी लावोइज़िए ने दहन प्रक्रिया की सही व्याख्या करके और यह दिखाकर कि वह बाह्य पदार्थों का आक्सीजन के साथ रासायनिक संयोजन है, इस सिद्धांत का खंडन किया।

आरम्भ से बिना परिवर्तन के क़ायम है। आज के 'पाँच महाद्वीप' सदा से चले आ रहे हैं तथा उनमें सदा से वे ही पहाड़, नदियाँ और घाटियाँ, वही जलवायु और वे ही वनस्पति और प्राणि रहे हैं। इनमें केवल वही परिवर्तन अथवा प्रतिरोपण हुए जो मनुष्य ने अपने हाथों से किये। वनस्पतियों तथा जीवों की जातियाँ अपने आविर्भाव के समय से सदा-सर्वदा के लिए क़ायम हो गयीं। एक प्रकार का जीवन निरन्तर उसी प्रकार के जीवन को उत्पन्न करता जाता है। लिनीयस ने जब यह स्वीकार किया कि सम्भवतः जहाँ-जहाँ कुछ नयी जातियाँ संकरण द्वारा भी पैदा हुई थीं, तो यह उस काल की दृष्टि से बड़ी बात थी। जहाँ यह माना गया कि मानव-जाति के इतिहास का विकास **काल** में होता है, वहीं इसके विपरीत यह समझा गया कि प्रकृति का इतिहास केवल **दिक्** के प्रसार में उद्घाटित होता है। प्रकृति में हर प्रकार के परिवर्तन, हर प्रकार के विकास को नकारा गया। अपने प्रारम्भ काल में अति क्रांतिकारी प्रकृति विज्ञान ने स्वयं को सहसा एक घोर रूढ़िग्रस्त प्रकृति के समक्ष खड़ा पाया, जिसमें आज भी सब कुछ वैसा ही है जैसा शुरू से था और प्रलय तक अथवा अनन्त काल तक सब कुछ वैसा ही बना रहेगा।

18वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में प्रकृति-विज्ञान ज्ञान एवं सामग्री की छानबीन तक में, प्राचीन यूनान से जितना ही ऊपर था, उतना ही वह इस सामग्री पर वैचारिक अधिकार प्राप्त करने के मामले में, प्रकृति के सम्बन्ध में आम दृष्टिकोण के मामले में उससे नीचे था। यूनानी दार्शनिकों के लिए दुनिया मूलतः एक ऐसी चीज़ जो विश्रृंखलता की स्थिति से निकली थी : एक ऐसी चीज़ जो आविर्भूत हुई थी, विकसित हुई थी — पर विवेच्यकाल के प्रकृति विज्ञानियों के लिए वह जड़ीभूत, अपरिवर्तनीय चीज़ थी और उनमें से अधिकांश के लिए तो वह एक झटके में रची गयी चीज़ थी। विज्ञान अभी भी धर्मशास्त्र के जाल में गहरा फँसा हुआ था। सभी जगह वह किसी बाह्य आवेग में चरम कारण को ढूँढ़ता तथा पाता था, जिसे स्वयं प्रकृति के माध्यम से नहीं समझा जा सकता था। यद्यपि आकर्षण की, जिसे न्यूटन ने सार्वत्रिक गुरुत्वाकर्षण जैसा भारी-भरकम नाम दिया था, भूतद्रव्य के सारगत् गुण-धर्म के रूप में कल्पना कर ली गयी थी, तो भी प्रश्न उठता है कि वह दुर्बोध स्पर्शरेखीय बल कहाँ से आया, जिससे ग्रहों की कक्षाएँ निकलीं? पशुओं और पेड़-पौधों की अनगिनत जातियाँ कहाँ से आयीं ? और सबसे बड़ी बात तो यह है कि मनुष्य कहाँ से आया? क्योंकि यह तो निश्चित है कि वह सृष्टि के निर्माण के दिन से तो विद्यमान नहीं था। ऐसे प्रश्नों का उत्तर प्रकृति-विज्ञान प्रायः सभी वस्तुओं के सृष्टिकर्ता को ज़िम्मेदार बताकर दिया करता था। इस युग के आरम्भ में कोपेर्निक ने समूचे धर्मशास्त्र को ख़ारिज कर दिया था। इस युग के अन्त में न्यूटन ने एक दैवीय प्रथम आवेग की प्रस्थापना प्रस्तुत की। इस काल में प्रकृति विज्ञान जिस सर्वोच्च

सामान्य विचार तक पहुँचा वह यह था कि प्रकृति के सारे इंतज़ाम में प्रयोजनीयता व्याप्त है। वह वोल्फ़ के छिछले प्रयोजनवाद तक पहुँचा, जिसके अनुसार बिल्लियाँ इसलिए बनायी गयी कि चूहों का भक्षण कर सकें, चूहे इसलिए बनाये गये कि बिल्लियाँ भूखी न मरें और समूची प्रकृति इसलिए बनी कि सृष्टिकर्ता की बुद्धि प्रकाशित हो। उस युग के दर्शन-शास्त्र को इस बात का बहुत बड़ा श्रेय प्राप्त है कि उसने समकालीन प्रकृति ज्ञान की सीमित अवस्था द्वारा पथ भ्रष्ट किये जाने से स्वयं को बचा लिया। स्पिनोज़ा से लेकर महान फ्रांसीसी भौतिकवादियों तक सभी दुनिया की व्याख्या दुनिया से करने पर ही अटल रहे तथा उन्होंने इसे ब्यौरेवार ढंग से प्रमाणित करने का काम भावी प्रकृति-विज्ञान के ऊपर छोड़ दिया।

18वीं शताब्दी के भौतिकवादियों को मैं इस युग में इसलिए सम्मिलित करता हूँ कि प्रकृति-विज्ञान का उपरोक्त सामग्री के अतिरिक्त उन्हें कुछ भी उपलब्ध न था। कांट की युगांतरकारी कृति उनके लिए अज्ञात थी और लाप्लास उनके बहुत बाद में आए।[1] हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि प्रकृति सम्बन्धी यही पुरातन दृष्टिकोण विज्ञान की प्रगति के कारण छलनी हो जाने के बावज़ूद, 19वीं[2] शताब्दी के पूरे प्रथम पूर्वार्द्ध पर हावी रहा और सार रूप में अभी भी स्कूलों में पढ़ाया जाता है।[3]

प्रकृति सम्बन्धी इस जड़ीभूत दृष्टिकोण की पहली ईंट खिसकाने वाला व्यक्ति कोई

---

1. कांट की निहारिका प्राक्कल्पना का विवेचन उनकी रचना 'सामान्य प्रकृति, इतिहास और गगनमंडल सिद्धांत अथवा न्यूटन के सिद्धांत के आधार पर ब्रह्मांड की रचना और यांत्रिकी उत्पत्ति की व्याख्या करने का प्रयास' में किया गया है। इसके अनुसार सौरमंडल की उत्पत्ति मूल निहारिका से हुई थी।
2. हाशिये पर एंगेल्स की टिप्पणी : "प्रकृति सम्बन्धी पुरातन दृष्टिकोण की कट्टरता को वह आधार बना दिया गया, जिसे ग्रहण कर समस्त प्रकृति विज्ञान का समग्र विवेचन व सामान्यीकरण सम्भव हुआ : फ्रांसीसी विश्वकोशवादियों (18वीं शताब्दी के दार्शनिकों, प्रकृतिविदों, पत्रकारों की एक टोली, जो 'विज्ञान, कला तथा शिल्प का विश्वकोष' : 1751-1780, प्रकाशित करने के लिए एकजुट हुए। 'विश्वकोष' के प्रकाशन में दिदेरो, वोल्तेयर, गोल्बख़, रूसो आदि ने भाग लिया। उन्होंने सामन्ती प्रथा, चर्च की स्वच्छन्दता का विरोध और समाज की तीसरी श्रेणी का समर्थन किया। दर्शन में वें भौतिकवादी थे। विश्वकोषवादियों ने 18वीं शताब्दी की पूँजीवादी क्रांति की तैयारियों में निर्णायक भूमिका अदा की थी) द्वारा शुद्ध यांत्रिक तरीक़े से चीज़ों को अग़ल-बग़ल रखकर; फिर एक ही साथ सेंत साइमन तथा जर्मन प्राकृतिक दर्शन द्वारा, जिसे हेगेल ने पूर्णता प्रदान की।"— सपा.
3. 1861 तक में ऐसा व्यक्ति, जिसने अपनी वैज्ञानिक उपलब्धियों से इस दृष्टिकोण के उन्मूलन के लिए बेहद महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत की थी, किस तरह इस दृष्टिकोण से चिपका रह सकता था, इसका पता निम्नांकित विख्यात शब्दों में लग सकता है :

   "हमारे सौरमंडल की सारी व्यवस्थाओं का— जहाँ तक कि उन्हें समझने में समर्थ हैं— का लक्ष्य विद्यमान को अक्षुण्ण रखना है, उसका लक्ष्य अपरिवर्तनीय नैरंतर्य है। जिस तरह अति प्राचीन काल से इस धरती-तल पर कोई पशु या कोई पेड़-पौधा अधिक सर्वांगपूर्ण नहीं बना अथवा सामान्यतः भिन्न नहीं

प्रकृति विज्ञानी नहीं था बल्कि एक दार्शनिक था। 1755 में कांट की कृति 'प्रकृति-इतिहास और गगनमंडल का सामान्य सिद्धांत' प्रकाशित हुई। प्रथम आवेग के प्रश्न का उन्मूलन कर दिया गया। पृथ्वी और समूचा सौरमंडल ऐसी चीज़ के रूप में प्रकट हुए जो कालक्रम में **आविर्भूत** हुए थे। यदि अधिकतर प्रकृति-विज्ञानियों को चिन्तन से थोड़ी कम चिढ़ रही होती (न्यूटन ने इस चिढ़ को, 'भौतिकी, अधिभूतवाद से सावधाना रहना ![1] कहकर व्यक्त किया था) तो कांट की महती प्रतिभा से सम्पन्न इस एक ही ख़ोज से वे ऐसे निष्कर्ष निकालने को विवश हुए होते, जिनके फलस्वरूप वे अनगिनत भटकावों में पड़ने से तथा ग़लत दिशाओं में भटककर अपरिमित समय व श्रम नष्ट करने से बच जाते; क्योंकि कांट की खोज में आगे की सारी प्रगति का प्रस्थान-बिन्दु विद्यमान था। यदि पृथ्वी आविर्भूत वस्तु है तो उसकी वर्तमान भू-वैज्ञानिक, भौगोलिक और जलवायवीय अवस्था तथा उसके पेड़-पौधे और प्राणि भी अवश्य इसी प्रकार आविर्भूत हुए हैं; दिक् में सह-अस्तित्व का ही नहीं, वरन् कालक्रम में भी उसका एक इतिहास होना चाहिए। यदि इस दिशा में तत्काल, दृढ़तापूर्वक अन्वेषण का काम और आगे बढ़ाया जाता, तो प्रकृति-विज्ञान आज की अपेक्षा कहीं अधिक विकसित अवस्था में पहुँच गया होता। लेकिन दर्शन कितना लाभप्रद हो सकता था? कांट की कृति का उस वक़्त तक कोई फल नहीं निकला जब तक कि वर्षों बाद लाप्लास तथा हेर्शल ने उसकी अन्तर्वस्तु को प्रतिपादित तथा विस्तार से प्रमाणित नहीं किया और इस प्रकार **निहारिका-परिकल्पना**[2] को धीरे-धीरे मान्य नहीं बना दिया। इसके बाद की कुछ और खोजों ने इस सिद्धांत की विजय का झण्डा गाड़ दिया। इनमें सबसे महत्वपूर्ण खोजें ये थीं : स्थिर नक्षत्रों की अपनी गति, ब्रह्माण्डीय शून्य में प्रतिरोधक माध्यम का प्रदर्शन, बह्माण्डीय भूतद्रव्य की रासायनिक एकरूपता

हुआ, जिस तरह सभी जीवों में हम **पार्श्ववर्ती** ही अवस्थाएँ पाते हैं, **पूर्ववर्ती** अथवा परवर्ती नहीं; उसी तरह सह-अस्तित्वमान ब्रह्माण्डीय पिंडों में चाहे जितनी भी विविधता क्यों न हो, हमारा यह अनुमान कर लेना उचित न होगा कि ये रूप विकास की विभिनन अवस्थाएँ मात्र हैं। इसके विपरीत, प्रत्येक सृजित वस्तु अपने आप में **समान रूप से** सर्वांगपूर्ण है (मैडलर, 'सुबोध खगोल', बर्लिन, 1861, पाँचवाँ संस्करण, पृ. 316)। --- **(एंगेल्स की टिप्पणी)**

1. यहाँ इशारा आइज़क न्यूटन् द्वारा अपनी कृति 'प्राकृतिक दर्शन के गणितीय सिद्धांत' (तीसरी पुस्तक, सामान्य उपपत्ति) में प्रतिपादक विचार की ओर है। अपने 'दार्शनिक विज्ञानों के विश्वकोश', अनुच्छेद-98, परिशिष्ट-1, में इस विचार को उद्धृत करते हुए हेगेल ने लिखा : ''न्यूटन ने .... भौतिकी को सीधे-सीधे चेतावनी दी थी कि वह अधिभूतवाद के गर्त में न ढुलके .... ''
2. यह परिकल्पना कि आकाशीय पिंडों की उत्पत्ति तापदीप्त निहारिकाओं से हुई है।--- संपा.

तथा कांट द्वारा परिकल्पित तापदीप्त निहारिका पुंजों के अस्तित्व का स्पेक्ट्रमी विश्लेषण द्वारा प्रमाण प्रस्तुत किया जाना।[1]

पर यह शंका उठायी जा सकती है कि यदि उदित होती इस धारणा को कि प्रकृति केवल **अस्तित्वमान** ही नहीं है, बल्कि **अस्तित्व में आती है** और **अस्तित्व से बाहर चली जाती है,** एक और स्थान से समर्थन नहीं मिला होता तो क्या अधिकतर प्रकृति विज्ञानी परिवर्तनशील पृथ्वी के अपरिवर्तनशील जीवों के जन्मदात्री होने के अन्तर्विरोध को इतनी जल्दी जान लेते? भू-विज्ञान का उदय हुआ और उसने न केवल एक के बाद एक करके बनी तथा एक के ऊपर एक जमी पार्थिव परतों को दिखलाया, बल्कि इन परतों में दबे लुप्त जानवरों के खोल और अस्थि-पंजर तथा लुप्त पेड़-पौधों के तने, पत्ते और फल भी दिखाये। लोगों को यह मानना ही पड़ा कि समग्र रूप से पृथ्वी ही नहीं अपितु उसके वर्तमान धरातल तथा उसके ऊपर विद्यमान वनस्पतियों व प्राणियों का एक कालक्रमिक इतिहास रहा है। आरम्भ में तो यह बात काफ़ी अनिच्छापूर्वक मानी गयी। कुविए का पृथ्वी का परिक्रमण-सिद्धांत शब्दों में क्रांतिकारी पर सारतः प्रतिक्रियावादी था। एक बार के दैवी-सृजन के स्थान पर इस सिद्धांत ने बार-बार के सृजन के एक पूरे क्रम की धारणा प्रस्तुत की। दैवी चमत्कार को उस प्रकृति का आवश्यक आधार बना दिया। सर्वप्रथम ल्येल ने सृष्टिकर्त्ता की मर्ज़ी के कारण आकस्मिक परिक्रमणों के स्थान पर पृथ्वी के मंथर गति से होने वाले क्रमिक रूपांतरणों के क्रमिक प्रभावों को स्थापित कर भू-विज्ञान को नया अर्थ दिया।[2]

स्थायी जैव जातियों की मान्यता के साथ ल्येल का सिद्धांत उनके पूर्ववर्तियों के सिद्धांतों से भी अधिक बेमेल था। पृथ्वी की सतह तथा जीवन की सारी अवस्थाओं के क्रमिक रूपांतरण का प्रत्यक्ष परिणाम यह हुआ कि जीव क्रमशः रूपांतरित हुए और बदलते परिवेश के साथ बदले; जैव जातियों में परिवर्तनीयता का सिद्धांत आया। पर परम्परा केवल कैथोलिक चर्च में ही परम शक्ति नहीं है, प्रकृति विज्ञान में भी है। स्वयं ल्येल ने वर्षों तक इस अंतर्विरोध को नहीं देखा। उनके शिष्यों ने तो उसे और भी कम देखा। इसका कारण यही बताया जा सकता है कि उस समय तक प्रकृति विज्ञान में श्रम-विभाजन का बोलबाला हो गया था, जिसने प्रत्येक व्यक्ति को कमोबेश अपने-अपने क्षेत्र में बंद कर दिया था। बहुत थोड़े ही लोग

1. हाशिये पर एंगेल्स की टिप्पणी : 'ज्वार-भाटे के कारण घूर्णन (घूमने की गति) में मन्दन-यह भी कांट की ही पूर्व धारणा है, जो अब समझी जाने लगी है।'
2. ल्येल के मत की, कम-से-कम उसके पहले रूप की, खामी यह थी कि उसमें पृथ्वी पर क्रियाशील शक्तियों की स्थिर गुण और परिमाण में स्थिर रूप में कल्पना की गयी थी। पृथ्वी का धीरे-धीरे ठंडा हो जाना उनके लिए अज्ञात है, पृथ्वी किसी एक दिशा में विकसित नहीं होती है बल्कि वह क्रमहीन और आकस्मिक ढंग से परिवर्तित हो जाती है। —— (एंगेल्स की टिप्पणी)

ऐसे बचे जिन्हें इस श्रम-विभाजन ने व्यापक व समग्र दृष्टिकोण से वंचित नहीं कर दिया था।

भौतिकी ने इस बीच ज़बर्दस्त प्रगति की थी। इस प्रगति के परिणामों को तीन अलग-अलग व्यक्तियों ने 1842 में, जो प्रकृति विज्ञान की इस शाखा के लिए युगांतरकारी वर्ष था, प्रायः साथ-साथ प्रस्तुत किया। हील ब्रोन में मायर ने तथा मैंचेस्टर में जूल ने ऊष्मा का यांत्रिक ऊर्जा में तथा यांत्रिक ऊर्जा का ऊष्मा में रूपांतरण प्रदर्शित किया। ऊष्मा का यांत्रिक तुल्यांक निर्धारित हो जाने से यह परिणाम निर्विवाद बन गया। इसके साथ ही ग्रूव ने[1]— जो पेशे से प्रकृति विज्ञानी नहीं थे बल्कि इंग्लैंड के एक वकील थे— उपलब्ध भिन्न-भिन्न भौतिकीय परिणामों के विशदीकरण मात्र से यह सिद्ध कर दिया कि निश्चित अवस्थाओं के अंतर्गत समस्त तथाकथित भौतिक ऊर्जाएँ — यांत्रिक ऊर्जा, ऊष्मा, प्रकाश, विद्युत, चुंबकत्व और यहाँ तक कि तथाकथित रासायनिक ऊर्जा भी — ऊर्जा की क्षति हुए बिना एक-दूसरे में रूपांतरित हो जाती हैं। इस तरह उन्होंने भौतिकी की पद्धति से देकार्त का यह सिद्धांत प्रमाणित कर दिया कि विश्व में विद्यमान गति की मात्रा स्थिर है। इस तरह विशेष भौतिक ऊर्जाएँ, जो मानो भौतिकी की परिवर्तनीय जातियाँ थीं, निश्चित नियमों के अनुसार एक-दूसरे में परिवर्तित होने वाले भूतद्रव्य की गति के विभेदित रूप में बदल गयीं। इस या उस मात्रा में भौतिक ऊर्जा की विद्यमानता में जो आकस्मिकता दिखायी देती थी, वह उनके अंतःसम्बन्धों और परिवर्तनों (संक्रमणों) के प्रमाण द्वारा विज्ञान से उन्मूलित हो गयीं। जिस तरह खगोल विज्ञान के साथ इससे पहले हुआ था, उसी तरह भौतिकी भी एक ऐसे निष्कर्ष पर पहुँची जो अनिवार्यतः यह इंगित करता था कि गतिमान भूतद्रव्य का सनातन चक्र ही चरम निष्पत्ति है।

लावोइज़िए के और ख़ासकर डाल्टन के बाद से रसायन की जो अद्‌भुत तेज़ प्रगति हुई, उसने प्रकृति सम्बन्धी पुरानी धारणाओं पर एक अन्य पहलू से प्रहार किया। अभी तक जीवित शरीर में ही बनने वाले यौगिकों के अजैव निधियों से उत्पन्न किये जाने से यह सिद्ध हो गया कि रसायन के नियम जैव कार्यों के लिए उतने ही मान्य हैं जितने अजैव कार्यों के लिए। इस प्रकार जैव एवं अजैव प्रकृति की खाई, कांट तक जिसके बारे में यह मानते थे कि उसे पाटा नहीं जा सकता, बहुत हद तक पट गयी।

जैव अन्वेषण के क्षेत्र में भी, मुख्यतः पिछली शताब्दी के मध्य से नियमित रूप से आयोजित होने वाली वैज्ञानिक यात्राओं और अभियानों ने, दुनिया के सभी भागों में स्थित यूरोपीय उपनिवेशों के वहाँ रहने वाले विशेषज्ञों द्वारा अधिक सम्यक् अन्वेषण ने तथा इनके अतिरिक्त जीवाश्म विज्ञान, शरीर-रचना विज्ञान, शरीर-क्रिया विज्ञान की, विशेषकर ख़ुर्दबीन

1. 'प्रकृति की द्वंद्वात्मकता' पर काम करते समय एंगेल्स ने विलियम राबर्ट ग्रूव की पुस्तक 'भौतिक शक्तियों का सह-सम्बन्ध', (तीसरा संस्करण, लंदन, 1855) का उपयोग किया था।

के नियमित उपयोग तथा कोशिका की खोज के बाद से हुई प्रगति ने इतनी ढेर सारी सामग्री इकट्ठी कर दी कि अब तुलनात्मक विधि[1] का उपयोग करना संभव तथा साथ ही अपरिहार्य भी हो गया। एक ओर विभिन्न प्राणि-समूहों और पादप-समूहों की जीवनावस्थाएँ तुलनात्मक प्राकृतिक भूगोल विज्ञान के ज़रिये निर्धारित की गयीं, तो दूसरी ओर विभिन्न जीवों की उनके समजात अंगों के अनुसार परस्पर तुलना की गयी। यह तुलना केवल उनकी परिपक्व अवस्था में ही नहीं, बल्कि विकास की सभी अवस्थाओं में की गयी। जितनी अधिक गहराई तथा यथातथ्यता के साथ यह अनुसंधान कार्य किया गया, उसके स्पर्श से अपरिवर्तनीय रूप में स्थिर जैव प्रकृति की व्यवस्था उतनी ही खंड-खंड होती गयी। केवल यही नहीं हुआ कि वनस्पतियों और पशुओं की पृथक जातियाँ अधिकाधिक अविभाज्य रूप में घुल-मिल गयीं, बल्कि एंफिआक्सस और लेपिडोसिरेन[2] जैसे अनेक प्राणियों का पता चला, जिन्होंने पहले के सभी वर्गीकरणों को हास्यास्पद बना दिया।[3] अंततोगत्वा ऐसे भी जीव मिले जिनके बारे में यह बता पाना ही संभव न था कि वे वनस्पति जगत् के हैं या पशु जगत् के। जीवाश्म विज्ञान की सूची के रिक्त स्थान एक-एक करके भरते गये। इससे वे लोग भी, जो अभी तक बेहद हिचकिचा रहे थे, यह स्वीकार करने को विवश हुए कि समग्र जैव जगत् तथा अलग-अलग जीवों के विकास के इतिहास में ग़ज़ब की समानता है। यह समानता ही एरियाद्ने का वह सूत्र थी जिसे पकड़कर वनस्पति-विज्ञान तथा प्राणि-विज्ञान के लिए उस भूल-भुलैये से बाहर निकल पाना संभव हुआ जिसमें वे अधिकाधिक फँसते जाते दिखाई देते थे। उस काल के लिए यह विशिष्ट तथा लाक्षणिक बात है कि जिस समय कांट ने सौरमंडल की शाश्वतता पर प्रहार किया, प्रायः उसी समय सी.एफ़. वोल्फ़ ने 1759 में, जातियों की स्थिरता पर पहली चोट की और वंशानुक्रम का सिद्धांत प्रतिपादित किया।[4] किंतु वोल्फ़ ने अपनी असाधारण प्रतिभा द्वारा

---

1. हाशिये पर एंगेल्स की टिप्पणी : 'भ्रौणिकी' (embryology)— सम्पा.
2. **एंफ़िआक्सस**— मछली की तरह का एक छोटा-सा जीव, बिना रीढ़ और रीढ़ वाले जीवों के बीच का संक्रमणात्मक रूप; वह अनेक सागरों तथा महासागरों में पाया जाता है। **लेपिडोसिरेन**— डिप्नो आई (द्विधाश्वासी मछली) वर्ग की मछली जिसके शरीर में फेफड़ा और क्लोम दोनों होते हैं। यह दक्षिण अमरीका में पायी जाती है।
3. हाशिये पर एंगेल्स की टिप्पणी : सेराटोड्स/आर्केओप्टेक्स आदि'—संपा.

   सेटाटोड्स— फेफड़ा और क्लोम वाली मछली को ऑस्ट्रेलिया में पायी जाती है। **आर्के ओप्टेरिक्स** — रीढ़ वाला जीवाश्म जीव, पक्षी वर्ग का प्राचीनतम प्रतिनिधि, साथ ही सरीसृपों के कुछ गुणों से भी युक्त।
4. सी.एफ. वोल्फ़ ने 1759 में अपना शोध-प्रबंध 'जनन-सिद्धांत' प्रकाशित किया था, जिसमें उन्होंने पूर्वरचना के सिद्धांत का खंडन किया था तथा पश्च जनन सिद्धांत के पक्ष में वैज्ञानिक प्रमाण प्रस्तुत किया था।

जिस चीज़ का पूर्वाभास मात्र दिया था, उसे ओकेन, लामार्क तथा बायर ने स्पष्ट आकार दिया और ठीक सौ वर्ष बाद 1859 में डार्विन ने उसका झंडा गाड़ दिया।[1] प्रायः साथ ही साथ यह प्रमाणित किया गया कि जीवद्रव्य और कोशिका जिनके बारे में यह पहले ही सिद्ध किया जा चुका था कि वे सभी जीवों के चरम आकृतिक संघटक है, स्वतंत्र रूप से रहने वाले निम्नतम जैवीय रूप हैं। इसने जैव एवं अजैव प्रकृति के बीच की खाई को तो कम कर ही दिया, साथ ही वंशानुक्रम के सिद्धांत के मार्ग में आने वाली एक सबसे बड़ी दुर्निवार कठिनाई को भी दूर कर दिया। प्रकृति सम्बन्धी नयी दृष्टि अब अपनी सभी प्रमुख विशेषताओं के साथ पूर्ण हो गयी। सारी अनमनीयता समाप्त हो गयी। सारी अचलता का लोप हो गया। पहले नित्य (शाश्वत) समझी जाने वाली समस्त विशिष्टता अनित्य बन गयी, संपूर्ण प्रकृति चिरंतन प्रवाहमान तथा चक्रीय रूप में गतिमान दिखायी देने लगी।

इस तरह हम यूनानी दर्शन के महान संस्थापकों की चिंतन पद्धति की ओर एक बार फिर लौट आये हैं। इनके अनुसार छोटी-से-छोटी चीज़ से लेकर बड़ी-से-बड़ी चीज़ तक, बालू के कणों से लेकर सूर्यों तक, एक प्रोटिस्टा[2] से लेकर मनुष्य तक समूची प्रकृति का अस्तित्व इनके चिरंतन रूप से आविर्भाव और तिरोभाव (जीवन और मृत्यु), अनवरत प्रवाह, अश्रांत गति तथा प्रवाह में है। मूलभूत अंतर केवल यह है कि यूनानियों के इस चिंतन का आधार असाधारण प्रतिभाजन्य अंतर्ज्ञान था, जबकि हम इस निष्कर्ष पर अनुभव पर आधारित वैज्ञानिक अनुसंधान द्वारा पहुँचे हैं और इसीलिए हमें यह कहीं अधिक निश्चित तथा स्पष्ट रूप में दिखायी देता है। यह सच है कि इस चक्रीय गति के अनुभवजन्य प्रमाण में अभी भी कुछ रिक्त स्थान बचे तथा बने हुए हैं; पर जितना कुछ प्रमाणित हो चुका है उसकी तुलना में ये नगण्य हैं। वर्ष-प्रतिवर्ष इन रिक्त स्थानों की पूर्ति भी होती जा रही है। ब्यौरेवार प्रमाण अपूर्ण के सिवा हो ही क्या सकता है? यदि हम इस बात को भूल नहीं गये हैं कि पार-ग्रहीय खगोल-

---

पूर्वरचना का अर्थ यह है कि संवर्द्धित अंग की जनन-कोशिका में पूर्व रचना हो जाती है। पूर्व रचनावाद के अधिभूतवादी दृष्टिकोण से जो 17वीं और 18वीं शताब्दियों में जीव विज्ञानियों में प्रचलित रहा, संवर्द्धित अंग का प्रत्येक भाग संकुचित रूप से जनन-कोशिका में पहले से ही विद्यमान रहता है, इसलिए विकास पहले से ही विद्यमान विशुद्ध परिमाणात्मक संवर्द्धन होता है, जबकि सही अर्थों में विकास, अर्थात् रचना अथवा पश्चजनन होता ही नहीं। पश्चजनन का सिद्धांत वोल्फ़ से लेकर डार्विन तक अनेक प्रतिष्ठित जीव विज्ञानियों द्वारा प्रस्तुत किया जा चुका है।

1. चार्ल्स डार्विन की प्रमुख कृति 'प्राकृतिक वरण द्वारा स्पीशीज़ का उद्भव' 24 नवम्बर, 1859 को लंदन में प्रकाशित हुई थी।

2. **प्रोटिस्टा**— हेकेल के वर्गीकरण के अनुसार प्रोटोजों (सबसे निचले दर्जे के जीवों) का बहुत बड़ा समूह है, जिसमें एककोशीय तथा अकोशीय जीव आ जाते हैं। उनसे बहुकोशीय जीवों के दो जगतों (पशु जगत् तथा पादप जगत्) के अलावा एक विशेष-जैव प्रकृति के तीसरे जगत् की भी रचना होती है।

विज्ञान, रसायन, भू-विज्ञान जैसी विज्ञान की सबसे महत्त्वपूर्ण शाखाओं का वैज्ञानिक अस्तित्व बमुश्किल 100 वर्षों से है, शरीर क्रिया विज्ञान में तुलनात्मक विधि का प्रयोग मुश्किल से 50 वर्ष पुराना है और प्रायः सभी जैव विकास के मौलिक रूप—कोशिका—की खोज हुए मुश्किल से 40 वर्ष बीते हैं।[1]

आकाश गंगा के बाह्यतम तारकीय वलय से घिरे हमारे ब्रह्मांडीय द्वीप के अनगिनत सूर्य और सौरमंडल वाष्प के उफनते और दहकते पुंजों के सिकुड़ने और ठंडा होने से विकसित हुए। इसकी गति के नियमों का सम्भवतः तब पता चल सकेगा जब शताब्दियों के प्रेषण में हमें तारों की असली गति का आभास मिल जाये। ज़ाहिर है कि यह विकास सर्वत्र एक ही गति से नहीं हुआ है। खगोल-विज्ञान में यह धारणा अधिकाधिक प्रबल हो रही है कि हमारे तारामंडल के अन्दर ऐसे अदीप्त पिंड है जो ग्रहीय पिंड मात्र नहीं हैं, अतः वे लुप्त सूर्य हैं **(मैडलर)**; दूसरी ओर, (**सेक्की** के मतानुसार) वाष्पीय निहारिका धब्बों का एक अंश हमारे तारामंडल के अन्दर है, ये ऐसे सूर्य हैं जो अभी तक पूरे नहीं बने हैं। इससे यह सम्भावना अपवर्जित (समाप्त) नहीं हो जाती कि जैसाकि मैडलर का कहना है, अन्य निहारिकाएँ दूरस्थ स्वतंत्र ब्रह्मांडीय द्वीप हैं, जिनके विकास की सापेक्ष अवस्था स्पेक्ट्रमदर्शी द्वारा अवश्य निर्धारित की जानी चाहिए।

पृथक निहारिका पुंज से सौरमंडल किस तरह विकसित होता है, इसे लाप्लास ने विस्तारपूर्वक जिस ख़ूबी के साथ सिद्ध किया है, वह अभी तक बेजोड़ है। बाद के विज्ञान ने लाप्लास की अधिकाधिक पुष्टि ही की है।

इस तरह बने अलग-अलग पिंडों—यानी सूर्यों, ग्रहों, उपग्रहों—में शुरू में भूतद्रव्यों की गति का जो रूप प्रचलित होता है, यह वही है जिसे हम ऊष्मा कहते हैं। सूर्य का इस समय भी जो तापमान है, उस तापमान की अवस्था में भी तत्त्वों के रासायनिक यौगिक का प्रश्न नहीं उठता। ऐसी अवस्था में ऊष्मा किस हद तक विद्युत अथवा चुम्बकत्व में रूपांतरित होती है यह अनवरत सौर-अवलोकन से ही ज्ञात हो सकेगा। इसे प्रमाणित ही समझना चाहिए कि सूर्य में जारी यांत्रिक गति ऊष्णा एवं गुरुत्व की टक्कर से ही उत्पन्न होती है।

---

1. एंगेल्स की पांडुलिपि में यह पैरा पहले के तथा बाद के पैराओं से सीधी रेखाएँ खींचकर अलग कर दिया गया है तथा आड़ा काटा हुआ है। एंगेल्स ऐसा तब ही करते थे जब वह उक्त पैरा का किसी अन्य कृति में इस्तेमाल कर लेते थे।

पृथक पिंड जितने छोटे होते हैं, उतनी ही जल्दी वे ठंडे हो जाते हैं। सबसे पहले उपग्रह, क्षुद्र ग्रह तथा उल्काएँ ठंडी होती हैं। जैसे कि हमारा चन्द्रमा दीर्घकाल से बुझा हुआ है। ग्रहों की ठंडा होने की गति अपेक्षाकृत धीमी होती है।

क्रमिक रूप से शीतलता के आते जाने के साथ, गति के भौतिक रूपों की, जो एक-दूसरे में रूपांतरित हो जाते हैं, अन्योन्य-क्रिया अधिकाधिक सामने आती-जाती है। अन्ततः स्थिति एक ऐसे बिन्दु पर पहुँच जाती है जब रासायनिक बन्धुता अपने को प्रकट करने लगती है। जो तत्त्व पहले रासायनिक तौर पर परस्पर उदासीन थे, वे एक-एक कर रासायनिक तौर से विभेदित होने लगते हैं, रासायनिक गुण-धर्म प्राप्त कर लेते हैं तथा एक-दूसरे के साथ संयोजित होने लगते हैं। ये यौगिक भी घटते ताप के साथ जो केवल हर तत्त्व पर ही नहीं, बल्कि तत्त्वों के हर अलग-अलग संयोग पर भी भिन्न-भिन्न ढंग से असर डालता है, लगातार बदलते हैं। साथ ही गैसीय भूतद्रव्य के एक अंश के पहले तरल और फिर ठोस अवस्था में प्रवेश के साथ और इस तरह उत्पन्न नयी अवस्था के साथ भी परिवर्तित होते हैं।

यह काल, जबकि ग्रह का ठोस खोल बन जाता है तथा उसके धरातल पर जल के आगार बन जाते हैं, उस काल के साथ ही आता जबकि केन्द्रीय पिंड द्वारा प्राप्त ऊष्मा की तुलना में उसकी अपनी आन्तरिक ऊष्मा अधिकाधिक कम होती जाती है। उसका वायुमंडल, उस अर्थ में जिसमें हम आज इस शब्द को ग्रहण करते हैं, मौसम-परिघटनाओं का क्षेत्र बन जाता है। उसका धरातल भौमिक परिवर्तनों का क्षेत्र बन जाता है जिनमें वायुमंडलीय अवक्षेपण के परिणामस्वरूप होने वाले निक्षेपों का तापदीप्त द्रव-अन्तर के धीरे-धीरे घटते बाह्य प्रभावों की तुलना में अधिकाधिक प्राधान्य होता जाता है।

अन्ततः यदि ताप इस हद तक सम हो जाता है कि धरातल के काफ़ी बड़े हिस्से के ऊपर वह कम-से-कम उस सीमा से आगे नहीं जाता जिसके अन्दर प्रोटीन जीवन धारण करने की क्षमता रखता है, तो अन्य रासायनिक पूर्वावस्थाओं के अनुकूल होने पर जीवित जीव द्रव्य (प्रोटोप्लाज़्म) की रचना होती है। हमें अभी तक ज्ञात नहीं है कि ये पूर्वावस्थाएँ क्या हैं? यह आश्चर्यजनक नहीं है, क्योंकि अभी तक प्रोटीन के रासायनिक सूत्र का भी पता नहीं चला है और हम यह तक नहीं जानते कि रासायनिक रूप से जिन्न कितने प्रोटीन काय हैं। दूसरे, केवल दस वर्ष पूर्व ही यह तथ्य ज्ञात हुआ था कि पूर्णतया संरचनाहीन प्रोटीन ही जीवन के सभी कार्य-पाचन, मलोत्सर्जन, गति, संकुचन उद्दीपनों के प्रति प्रतिक्रिया तथा प्रजनन-सम्पन्न करता है।

सम्भवतः हज़ारों वर्ष बीत जाने के बाद उन अवस्थाओं का आविर्भाव हुआ जिनमें अगला क़दम उठ सका और वह आकारहीन प्रोटीन केन्द्रक और झिल्ली बनने के ज़रिये प्रथम कोशिका उत्पन्न कर सका। पर इस प्रथम कोशिका ने समूचे जीव-जगत् के आकृतिक विकास का आधार भी प्रदान किया। जैसा कि जीवाश्म विज्ञान के लेखे के सम्पूर्ण तथ्यों के आधार पर माना जा सकता है। सर्वप्रथम अकोशिकीय और कोशिकीय प्रोटिस्टाओं की अनगिनत जातियाँ विकसित हुईं, जिसमें से केवल एक Eozoon Canadense (कनाडा में पाया गया एक जीवाश्म। यह माना जाता था कि वह किसी प्राचीन निम्न विकसित जीव का अवशेष है। 1778 में जर्मन प्राणि-विज्ञानी के. म्योबिउस ने इसी जीवाश्म की जैविक मूल सम्बन्धी धारणा का खंडन किया था) ही हमारे युग तक चलता आया है और जिसमें से कुछ क्रमशः प्रथम पौधों में तथा दूसरे प्रथम पशुओं के रूप में विभेदित हो गये। प्रथम पशुओं से ही मुख्यतः विभेदन की क्रिया के आगे बढ़ने के द्वारा ही पशुओं के अनगिनत वर्ग, उपवर्ग, वंश, जातियाँ और प्रजातियाँ विकसित हुईं। अन्त में कशेरूकी पैदा हुए अर्थात् वह रूप पैदा हुआ जिसके अन्दर तंत्रिका तंत्र अपना पूर्ण विकास प्राप्त करता है। अन्त में उनके बीच वह कशेरूकी पैदा हुआ जिसमें प्रकृति अपनी चेतना प्राप्त करती है—यानी मनुष्य पैदा हुआ।

मनुष्य का आविर्भाव भी विभेदन की क्रिया के द्वारा होता है: केवल व्यक्तिगत तौर पर ही नहीं अर्थात् एकल अंडकोशिका से विभेदित होकर प्रकृति द्वारा उत्पन्न सबसे जटिल जीव के रूप में ही नहीं, बल्कि ऐतिहासिक तौर पर भी। जब हज़ारों वर्षों के संघर्ष के बाद पैर का हाथ से विभेदन हो गया एवं सीधा खड़ा होने की विशेषता आ गयी, तो मनुष्य वानर से पृथक हो गया तथा स्पष्ट वाणी के विकास का तथा मस्तिष्क के प्रबल विकास का आधार क़ायम हो गया। इसके बाद तो मानव और वानर के बीच का अन्तर अलंघनीय हो गया। हाथ के विशेषीकरण में औज़ार का संकेत है और औज़ार में विशिष्ट मानवीय क्रियाकलाप का, प्रकृति पर मानव-क्रिया के रूपांतरकारी प्रभाव का—उत्पादन का— संकेत है। शब्द के संकुचित अर्थ में पशुओं के पास भी औज़ार होते हैं, पर ये शरीर के अंग के रूप में ही होते हैं। जैसे चींटी, मधुमक्खी तथा ऊदबिलाव के पास। पशु भी उत्पादन करते हैं, परन्तु चारों ओर की प्रकृति पर उनका उत्पादक प्रभाव प्रकृति के साथ सम्बन्ध के मामले में — शून्य के बराबर ही होता है। केवल मनुष्य ही प्रकृति पर अपनी छाप डालने में सफल हुआ है। उसने न केवल पेड़-पौधों और पशुओं का स्थानान्तरण किया है, बल्कि अपने निवास-स्थान की शक्ल-सूरत व जलवायु में और यहाँ तक कि स्वयं पेड़-पौधों तथा पशुओं में भी ऐसे परिवर्तन किये

हैं कि उसके क्रियाकलाप के परिणाम इस भू-मंडल के सामान्य विलोप के साथ ही विलुप्त हो सकते हैं। यह सब उसने प्रधानतः एवं मूलतः **हाथ** के ज़रिये ही किया है। प्रकृति के कायापलट के लिए मानव का अब तक का सबसे प्रबल औज़ार भाप का इंजन तक एक औज़ार होने के नाते अन्ततः हाथ पर ही निर्भर है। लेकिन हाथ के विकास के साथ क़दम-ब-क़दम दिमाग़ का विकास हुआ। चेतना का आगमन हुआ। सबसे पहले पृथकतः व्यवहार करने, उपयोगी परिणाम उत्पन्न करने की चेतना आयी। इसके बाद अधिक अनुकूल स्थितियों में रहने वाली जातियों में तथा उन अवस्थाओं को शासित करने वाले प्राकृतिक नियमों का, उस चेतना से निःसृत अन्तर्ज्ञान उत्पन्न हुआ और प्रकृति के नियमों के तेज़ी के बढ़ते ज्ञान के साथ प्रकृति पर प्रभाव डालने के साधन भी बढ़े। अकेला हाथ ही भाप-इंजन कदापि उपलब्ध नहीं कर सकता था यदि मनुष्य का मस्तिष्क भी हाथ के साथ मिलकर और उसके साथ-साथ तथा अंशतः उसकी बदौलत विकसित नहीं हुआ होता।

मनुष्य के साथ हम **इतिहास** में प्रवेश करते हैं। इतिहास पशुओं का भी है। यानी उनकी व्युत्पत्ति तथा वर्तमान अवस्था तक उनके क्रमिक विकास का इतिहास। पर यह इतिहास उनके लिए निर्मित होता है। यदि किसी हद तक वे स्वयं इसमें भाग लेते हैं तो वह भी उनके ज्ञान अथवा इच्छा के बग़ैर होता है। दूसरी ओर मनुष्य पशुओं से — इस शब्द के संकीर्ण अर्थ में — जितना अधिक दूर होते जाते हैं, उतना ही अधिक अपना इतिहास वे स्वयं सचेतन रूप से रचते हैं, उतना ही इस इतिहास पर अपूर्व-दृष्ट परिणामों और अनियंत्रित शक्तियों का प्रभाव कम होता जाता है और उतना ही ऐतिहासिक परिणाम पहले से निर्दिष्ट लक्ष्य के ठीक-ठीक अनुरूप होता है। परन्तु परिणाम एवं लक्ष्य की इस अनुरूपता को हम मानव-इतिहास पर लागू करें, यहाँ तक कि आज की सबसे अधिक विकसित जातियों पर भी लागू करें, तो हम पाते हैं कि प्रस्तावित लक्ष्यों तथा वास्तविक परिणामों के बीच अब भी बड़ा भारी अन्तर है — यानी अपूर्व-दृष्ट परिणामों का ही बाहुल्य है और अनियंत्रित शक्तियाँ योजना के अनुसार संचालित शक्तियों से अभी तक भी कहीं अधिक शक्तिशाली बनी हुई हैं। उस समय तक अन्य कुछ हो भी नहीं सकता, जब तक कि मनुष्य का सबसे मूलभूत ऐतिहासिक क्रियाकलाप — वह क्रियाकलाप जिसने उन्हें पशु से ऊपर उठाकर मानव बनाया है और जो उनके अन्य सभी प्रकार के क्रियाकलाप की भौतिक आधारशिला है अर्थात् उसके जीवन-निर्वाह के साधनों का उत्पादन यानी वर्तमान युग में सामाजिक उत्पादन— अनियंत्रित शक्तियों के अनभिप्रेत घात-प्रतिघात (अन्योन्य क्रिया) के विशेष रूप से अधीन है और वह वांछित

लक्ष्य की प्राप्ति अपवाद लक्ष्य के ठीक उलटे ही होते हैं। सर्वाधिक आगे बढ़े हुए औद्योगिक देशों में हमने प्रकृति की शक्तियों को वशीभूत कर लिया है तथा उन्हें मानव जाति की सेवा में लगा दिया है। इस प्रकार हमने उत्पादन को अपरिमित रूप में बढ़ा लिया है तथा अब एक बच्चा भी पहले के सौ वयस्कों से कहीं अधिक पैदा करने लगा है। परिणाम क्या है? बढ़ता हुआ **अतिश्रम** तथा आम जनता की बढ़ती हुई दुर्दशा (ग़रीबी-कष्ट)। इसके अलावा, हर दसवें वर्ष भयंकर आर्थिक विनाश। डार्विन को पता नहीं था कि वह मानव जाति पर और ख़ासकर अपने देशवासियों पर कितना बड़ा व्यंग्य कर रहे थे जब उन्होंने यह दर्शाया कि हमारे अर्थशास्त्रियों द्वारा उच्चतम उपलब्धियों के रूप में प्रशंसित मुक्त होड़ यानी अस्तित्व के लिए संघर्ष **पशु जगत्** की प्रकृत (सामान्य) अवस्था है। सामाजिक उत्पादन का वह सेचतन संघटन, जिसमें उत्पादन और वितरण नियोजित ढंग से होते हैं, मानव जाति को शेष पशु जगत् से सामाजिक तौर पर उसी तरह ऊँचा उठा सकता है, जिस तरह सामान्य उत्पादन ने विशिष्ट जैविकीय दृष्टि से मनुष्यों को ऊपर उठाया है। ऐतिहासिक विकास ऐसे संघटन को दिन-प्रतिदिन अधिक अपरिहार्य बना रहा है और साथ ही दिन-प्रतिदिन उसे अधिक सम्भव भी बना रहा है। जिस दिन ऐसा हो जायेगा, उस दिन से इतिहासि का एक नया युग आरंभ होगा। इस युग में मानव जाति स्वयं तथा मानव जाति के साथ उसके क्रियाकलाप की समस्त शाखा ख़ासकर प्रकृति-विज्ञान इतनी बड़ी प्रगति कर लेंगी जिसके आगे अभी तक समूची उन्नति एकदम फीकी पड़ जायेगी।

पर 'जो जन्मदाता है वह मरण का भी पात्र है।[1] शायद करोड़ों वर्ष लग जायें, लाखों पीढ़ियों का जन्म और मरण हो चुके, पर वह दिन आयेगा ही जब सूर्य का कम होता जाता ताप ध्रुवों की ओर से आने वाली बर्फ़ को पिघलाने के लिए अपर्याप्त हो जायेगा, जब मानव जाति— जो अधिकाधिक विषुवत रेखा के आसपास सिमटती जायेगी, वहाँ भी जीवन के लिए पर्याप्त ऊष्मा न पायेगी, और जब धीरे-धीरे करके जैव जाति के अन्तिम चिह्न भी मिट जायेंगे और जब चन्द्रमा की भाँति बुझा और बर्फ़-सा जमा पृथ्वी का गोला निरन्तर संकुचित होती जाती कक्षा में वैसे ही बुझे हुए सूर्य के चारों ओर गहनतम अंधकार में चक्कर लगाते-लगाते एक दिन उसी में गिर पड़ेगा। कुछ ग्रहों का उससे पहले ही यह हाल हो चुका होगा,

1. गेटे के **'फ़ाउस्ट'** में मेफ़िस्टोफ़ीलीस की उक्ति।—संपा.

और कुछ का उसके बाद यह हाल होगा। अपने सदस्यों की सामंजस्यपूर्ण व्यवस्था वाले उष्ण ज्योतिर्मय सौरमंडल के स्थान पर एक ठंडा, मृत गोला ही ब्रह्मांडीय शून्य में अकेला घूमता रह जायेगा और जो हाल हमारे सौरमंडल का होगा वही कभी-न-कभी हमारे ब्रह्मांडीय द्वीप के अन्य सौर-मंडलों का होगा, वही अनगिनत अन्य ब्रह्मांडीय द्वीपों का भी होगा उनका भी जिनका प्रकाश एक भी जीवन मानव के रहते हुए पृथ्वी पर नहीं पहुँचेगा।

जब ऐसा सौरमंडल अपना जीवन-इतिहास पूरा कर लेगा, समस्त अन्तवान सत्ता की नियति-काल का ग्रास बन जायेगा, तब क्या होगा? क्या मुर्दा सूर्य निस्सीम शून्य में अनन्त काल तक घूमता रहेगा और क्या एक समय अपरिमित विविधता से विभेदित सभी प्राकृतिक शक्तियाँ सदा के लिए गति के एक रूप में आकर्षण में तिरोहित हो जायेगी?

'या' जैसे कि सेक्की ने जिज्ञासा की है (पृ. 810) "प्रकृति में ऐसी शक्तियाँ विद्यमान हैं जो मृत मंडल को तापदीप्त निहारिका की उसकी मूल अवस्था में फिर से परिवर्तित कर सकती हैं, और उसमें नव-जीवन का संचार कर सकती हैं? हम नहीं जानते।"[1]

उस अर्थ में हम सचमुच इसे नहीं जानते जिस अर्थ में हम यह जानते हैं कि 2 x 2= 4 होता है या यह जानते हैं कि भूतद्रव्य का आकर्षण दूरी के वर्ग के अनुसार बढ़ता और घटता है। पर प्रकृति सम्बन्धी अपने दृष्टिकोण को यथा-सम्भव तालमेलयुक्त पूर्ण आकार देने के लिए सैद्धांतिक प्रकृति-विज्ञान में— जिसके बिना आजकल विचारशून्य से विचारशून्य इंद्रियानुभववादी भी आगे क़दम नहीं बढ़ा सकता— हमें अक्सर अपूर्ण रूप में ज्ञात राशियों से काम लेना पड़ता है। ज्ञान की अपूर्णता की पूर्ति के लिए चिन्तन की तर्कगत सुसंगतता को हमेशा ही सहायक होना पड़ा है। आधुनिक प्रकृति-विज्ञान को दर्शन से गति की अविनाशिता का सिद्धांत लेना पड़ा है। बिना इस सिद्धांत के वह अब भी जी ही नहीं सकता है। पर **भूतद्रव्य की गति** भोंड़ी यांत्रिक गति मात्र नहीं है, स्थान परिवर्तन मात्र नहीं है। वह **ऊष्मा और प्रकाश है, विद्युतीय** और **चुम्बकीय तनाव (प्रतिबल) है, रासायनिक योग और वियोजन है, जीवन है और अन्ततः चेतना है**। यह कहना कि भूतद्रव्य ने अपने अस्तित्व के समूचे असीम काल में केवल एक बार और वह भी एक ऐसी अल्प अवधि के लिए जो उसकी अनन्तता की तुलना में अत्यन्त क्षुद्र अवधि है, अपने को—अपनी गति को विभेदित करने में

---

1. एंगेल्स ने यहाँ इतालवी खगोलविज्ञानी, एंजेलो सेक्की की कृति **'सूर्य'** से, लेखक के शब्दों को उद्धृत किया है।

और इस प्रकार इस गति की सम्पूर्ण सम्पदा को प्रकट करने में समर्थ पाया और यह कि इसके पहले तथा इसके बाद वह अनन्त काल के केवल स्थान–परिवर्तन मात्र तक ही सीमित रहता है, वस्तुतः यह कहने के समान है कि भूतद्रव्य विनाशी तथा गति क्षणभंगुर है। गति की अविनाशिता केवल परिमाणात्मक ही नहीं हो सकती। उसकी गुणात्मक रूप में भी परिकल्पना की जानी चाहिए। वह भूतद्रव्य **गति से वंचित हो सकता है** जिसके विशुद्ध यांत्रिक स्थान–परिवर्तनों में अनुकूल अवस्थाओं में ऊष्मा, विद्युत, रासायनिक क्रिया, जीवन में रूपांतरित होने की सम्भावना बेशक सम्मिलित है, परन्तु जो अपने अन्दर से इन अवस्थाओं को उत्पन्न करने की क्षमता नहीं रखता। अपने उपर्युक्त विभिन्न रूपों में परिवर्तित होने की क्षमता गँवा देने वाली गति में बेशक अब भी **ऊर्जा** हो सकती है पर उसमें **क्रियाशीलता** नहीं रह गयी है, अतः वह आंशिक रूप में विनष्ट हो चुकी है। परन्तु न तो ऐसे भूतद्रव्य की और न ऐसी गति की कल्पना की जा सकती है।

इतना तो निश्चित है : एक ऐसा वक़्त था जब हमारे ब्रह्मांडीय द्वीप के भूतद्रव्य ने गति की (यह गति किस क़िस्म की थी, हम यह नहीं जानते) एक इतनी बड़ी मात्रा को ऊष्मा में रूपांतरित किया था कि उससे बड़े–बड़े सौरमंडलों का विकास हुआ, जिनमें (मैडलर के कथनानुसार) कम–से–कम दो करोड़ सितारे शामिल हैं, जिनका इसी भाँति धीरे–धीरे बुझना भी निश्चित है। यह रूपांतरण किस तरह से हुआ? इसके बारे में हम उतना ही कम जानते हैं जितना कि धर्मपिता सेक्की यह जानते हैं कि क्या हमारे सौरमंडल के भावी मृत शरीर के अवशेष ऐसी कच्ची सामग्री में बदल सकेंगे जिनसे नये सौरमंडलों की रचना हो सके। लेकिन यहाँ आकर हमें किसी सृष्टिकर्त्ता को स्वीकार करना होगा या फिर यह निष्कर्ष मानने को बाध्य होना पड़ेगा कि हमारे ब्रह्मांडीय द्वीप के सौरमंडलों की तापदीप्त कच्ची सामग्री गति के रूपांतरणों द्वारा प्राकृतिक रूप से पैदा हुई थी। ये रूपांतरण गतिमान भूतद्रव्य में **स्वभावतया अन्तर्भूत हैं** और इसलिए उनकी अवस्थाएँ भूतद्रव्य द्वारा अवश्य पुनरुत्पादित होंगी, भले ही वे करोड़ों वर्षों के बाद कमोबेश, संयोगवश, किन्तु उस अनिवार्यता के साथ जो संयोग में भी अन्तर्भूत है, पुनरुत्पादित हों।

ऐसे रूपांतरण की संभावना अधिकाधिक मानी जा रही है। लोग इस मत पर पहुँच रहे हैं कि आकाशीय पिंड अंततः एक-दूसरे में गिर पड़ेंगे तथा उस ऊष्मा का भी हिसाब-किताब लगाया जाने लगा है, जो ऐसी टक्करों से पैदा होगी। खगोल-विज्ञान द्वारा उल्लिखित नये सितारों का अचानक धधक उठना और उतने ही अचानक रूप से सुपरिचित सितारों की चमक बढ़ जाना आदि चीज़ें इन टक्करों से सबसे आसानी से समझी जा सकती हैं। न केवल हमारा ग्रह-समूह सूर्य के चारों ओर और हमारा सूर्य हमारे ब्रह्मांडीय द्वीप के अन्दर घूमता है, बल्कि हमारा पूरा ब्रह्मांडीय द्वीप भी अंतरिक्ष में, अन्य ब्रह्मांडीय द्वीपों के साथ अस्थायी सापेक्ष सन्तुलन में घूमता है, क्योंकि स्वच्छंद रूप से तिरते पिंडों का सापेक्ष सन्तुलन भी वहीं क़ायम रह सकता है जहाँ गति परस्पर प्रानुकूलित हो। बहुत से लोग यह मानते हैं कि एक अंतरिक्ष में ताप सर्वत्र एक जैसा नहीं है। अन्तिम बात यह है कि हम जानते हैं कि एक अत्यन्त क्षुद्र अंश को छोड़कर हमारे ब्रह्मांडीय द्वीप के अनगिनत सूर्यों की ऊष्मा अंतरिक्ष में विलुप्त हो जाती है तथा वह एक डिग्री सेंटीग्रेड के दस लाख-वें भाग के बराबर भी अंतरिक्ष के ताप को नहीं बढ़ा पाती। ऊष्मा की यह विपुल मात्रा सारी की सारी कहाँ जाती है? क्या वह अंतरिक्ष को गरम करने की चेष्टा में सदा के लिए बिखरकर बेकार हो जाती है? क्या व्यवहारतः उसका अस्तित्व समाप्त हो गया है और क्या उसका सैद्धांतिक रूप में भी अस्तित्व इस नाते क़ायम है कि अंतरिक्ष एक डिग्री के 10 या अधिक शून्यों से आरम्भ होने वाले दशमलव अंश तक गरम हो गया है? ऐसी धारणा गति की अविनाशिता का निषेध करती है। वह इस संभावना को स्वीकार कर लेती है कि ब्रह्मांडीय पिंडों के एक-एक कर एक-दूसरे में गिरते जाने के ज़रिये समस्त विद्यमान यांत्रिक गति ऊष्मा में रूपांतरित हो जायेगी, जिससे सारी 'शक्ति की अविनाशिता' के बावजूद गति सामान्यतः समाप्त हो जायेगी। (प्रसंगवश, यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि 'गति की अविनाशिता' के बदले 'शक्ति की अविनाशिता' पद कितना अपरिशुद्ध है!) अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि किसी-न-किसी विधि से (कुछ समय बाद जिसे दर्शाना प्रकृति, विज्ञान का प्रमुख कार्यभार होगा) अंतरिक्ष में विकिरित ऊष्मा गति के किसी

अन्य रूप में अवश्य ही रूपांतरित होनी चाहिए, जिस रूप में वह फिर संचित एवं सक्रिय की जा सके। इस तरह बुझे सूर्यों के तापदीप्त वाष्प में पुनः परिवर्तित हो जाने के मार्ग की मुख्य कठिनाई दूर हो जाती है।

जहाँ तक अन्य बातों का सवाल है, अनन्त काल में विश्वों का सनातन अनुक्रमण अनन्त दिक् में अनगिनत विश्वों के सह-अस्तित्व का ही तर्कसंगत परिपूरक है। यह ऐसा सिद्धांत है जिसकी आवश्यकता को ड्रेपर का सिद्धांत विरोधी अमरीकी (यांकी) मस्तिष्क भी स्वीकार करने को बाध्य हुआ।[1]

भूतद्रव्य अनन्त चक्र में घूमता रहता है। यह चक्र निश्चय ही अपनी कक्षा ऐसी कालावधियों में पूरी करता है जिनकी माप के लिए हमारा भौतिक वर्ष एकदम अपर्याप्त है। इस चक्र में उच्चतम विकास के लिए, जैव जीवन के लिए तथा उससे भी अधिक अपने एवं प्रकृति के प्रति सचेतन प्राणियों के लिए उतनी ही अल्प कालावधि निर्धारित है, जितना अल्प दिक् जीवन एवं आत्म-चेतना के क्रियाशील होने के लिए निर्धारित है। इस चक्र में भूतद्रव्य के अस्तित्व का प्रत्येक परिमित रूप—वह चाहे सूर्य हो या निहारिका वाष्प, एकाकी पशु हो या पशु-जाति, रासायनिक योग हो या वियोजन—समान रूप से क्षण-भंगुर होता है। उसमें शाश्वत रूप से परिवर्तनशील, शाश्वत रूप से प्रवहमान भूतद्रव्य के अतिरिक्त तथा उसकी गति एवं परिवर्तन को शासित करने वाले नियमों के अतिरिक्त अन्य कोई चीज़ शाश्वत नहीं है। पर यह चक्र चाहे जितनी बार और जितने कठोर-दुर्निवार रूप में काल एवं दिक् में पूर्ण हो, चाहे जितने करोड़ सूर्य एवं पृथ्वियाँ पैदा हों और मिट जायें, चाहे जितना दीर्घ समय एक सौरमंडल के अन्दर केवल एक ही ग्रह में जैव जीवन की अवस्थाओं के उत्पन्न होने में लगे, इसके पहले ही कि उनके बीच में सोचने की क्षमता रखने वाले मस्तिष्क से युक्त प्राणि विकसित हों, चाहे जितने अनगिनत जैव सत्त्व लुप्त हो जायें। इन प्राणियों के एक अत्यन्त अल्प अवधि के लिए

1. "अनन्त दिक् में अनगिनत विश्वों की विद्यमानता हमें अनन्त काल में विश्वों के अनुक्रमण की धारणा तक पहुँचाती है।" जे. डब्ल्यू. ड्रेपर, यूरोप के बौद्धिक विकास का इतिहास, खंड 2, पृ. 325—(एंगेल्स की टिप्पणी)।

जीवनोपयुक्त अवस्थाएँ प्राप्त करने तथा बाद में निर्ममतापूर्वक नष्ट भी कर दिये जाने के बावजूद एक चीज़ निश्चित है: भूतद्रव्य अपने समस्त रूपांतरों में भी शाश्वत रूप से वही का वही रहता है; उसका कोई भी गुण लुप्त नहीं होता; इसलिए यह भी निश्चित है कि जिस अपरिहार्य आवश्यकता के वशीभूत होकर वह अपनी सर्वोच्च सृष्टि चिंतनशील मस्तिष्क को पृथ्वी से कभी मिटा देगा, उसी आवश्यकता के वशीभूत होकर वह अन्यत्र एवं किसी अन्य काल में उसका पुनः सृजन भी करेगा।

प्रेतात्म-जगत् में प्रकृति-विज्ञान

वह द्वन्द्ववाद जो लोक चेतना का अंग बन गया है इस पुरानी कहावत में अभिव्यक्त होता है कि दो विरोधी छोरों का मिलन होता है। इसके अनुरूप भव्य-कल्पना, आशु विश्वास (भोलापन) तथा अंधविश्वास की सर्वाधिक अतिवादी सीमा की तलाश यदि हम प्रकृति - विज्ञान की उस प्रवृत्ति में न करके — जो जर्मन प्रकृति-दर्शन की भाँति वस्तुजगत् को आत्मगत चिन्तन के चौखटे में ज़बरन प्रविष्ट कराने की कोशिश करती है— बल्कि उसकी विरोधी (उलट) प्रवृत्ति—जो मात्र अनुभव को अत्यन्त सम्मानित स्थान देकर चिन्तन को परम घृणा-भाव से देखती है तथा जो चिन्तन के खोखलेपन की परली सीमा तक चली गयी है— में करें तो क़तई ग़लती नहीं करेंगे। इंग्लैंड में इस संप्रदाय का वर्चस्व है। उसके जनक बहुप्रशंसित फ्रांसिस बेकन ने तो पहले ही यह माँग रख दी थी कि उनकी इंद्रियानुभविक, आगमिक पद्धति का सर्वोपरि उसके साधनों के ज़रिये दीर्घ जीवन-कायाकल्प प्राप्त करने के लिए तथा कुछ सीमा तक क़द-काठी तथा नाक-नक्श में परिवर्तन तथा नयी प्रजातियों (स्पीशीज़) के प्रजनन, वायु के ऊपर आधिपत्य एवं अंधड़-तूफ़ान पैदा करने के लिए उपयोग किया जाना चाहिए। उनको शिकायत है कि इस तरह की पड़तालों को तिलांजलि दे दी गयी है तथा उन्होंने अपने प्राकृतिक इतिहास में सोना बनाने एवं तरह-तरह के चमत्कार कर दिखाने की अनेक सुनिश्चित विधियाँ प्रस्तुत की हैं। इसी प्रकार आइज़क न्यूटन ने अपनी वृद्धावस्था में सन्त जॉन की प्रकाशना को प्रतिपादित करने में बेहद व्यस्त रखा था। इसलिए यदि हाल के वर्षों में आंग्ल इंद्रियानुभववाद अपने कुछ प्रतिनिधियों— उनमें से सबसे निकृष्ट के रूप में नहीं के — माध्यम से, अमरीका से आयातित प्रेत-झाड़ने तथा प्रेत-देखने का लाचार शिकार हो गया है तो इस पर किसी को आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

यहाँ जुड़े सबसे पहले प्रकृति-विज्ञानी अतिप्रतिष्ठित प्राणिविज्ञानी एवं वनस्पति शास्त्री, एल्फ्रेड रसेल वैलेस हैं जिन्होंने डार्विन के साथ ही प्राकृतिक वरण के ज़रिये प्रजातियों के परिवर्तन का सिद्धांत प्रस्तुत किया था। अपनी छोटी-सी पुस्तक 'चमत्कारों तथा आधुनिक

अध्यात्मवाद के बारे में ' (लंदन, बर्न्स, 1875) में उन्होंने बताया है कि प्राकृतिक ज्ञान की इस शाखा में उनका अनुभव काफ़ी पुराना है—1844 में जाकर मिलता है—जब उन्होंने श्री स्पैंसर हॉल के सम्मोहन विद्या सम्बन्धी व्याख्यान सुने थे तथा जिसके परिणामस्वरूप अपने शिष्यों पर वैसे ही प्रयोग किये थे।

"मेरी इस विषय में सघन रुचि थी तथा मैंने इसका अध्ययन जोश व उत्साह के साथ किया।" (पृ. 119)

उन्होंने न केवल संधि-कठोरता (अनभ्यता) तथा स्थानीय संवेदन-शून्यता की घटना क्रियाओं के साथ-साथ चुम्बकीय नींद पैदा की, बल्कि उन्होंने गॉल द्वारा प्रस्तुत कपाल के नक्शे के सहीपन की पुष्टि की क्योंकि गॉल के किसी भी अंग का स्पर्श करते ही चुम्बकीकृत कर्मपात्र में तदनुरूप क्रिया जाग्रत हो जाती थी, तथा जो उपयुक्त एवं जीवन्त भाव-संकेतों के माध्यम से प्रदर्शित की जाती थी। इससे भी आगे, उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि उनका कर्मपात्र छुए जाने मात्र से चालक के समस्त संवेदनों को ग्रहण कर लेता था; उन्होंने उसे एक गिलास पानी पिलाकर ही, पर यह कहकर नशे की अवस्था में पहुँचा दिया कि लो ब्रांडी पी लो। वह किसी युवा को उसकी जाग्रत अवस्था में इतना मूर्ख बना सकते थे कि उसे अपना नाम तक याद नहीं रहता था, हालाँकि यह एक ऐसा करतब है जिसे अन्य स्कूली शिक्षक सम्मोहन विद्या का सहारा लिये बग़ैर ही कर दिखाने में सक्षम होते हैं।

हक़ीक़त यह है कि 1843-44 की सरदी में मैंने भी स्पैंसर हॉल को मांचेस्टर में देखा था। वह अत्यन्त सामान्य योग्यता का कठवैद (धूर्त) था जिसने कुछेक पादरियों के संरक्षकत्व में देहात की यात्राएँ कीं तथा जो ईश्वर का अस्तित्व आत्मा की अनश्वरता को सिद्ध करने के लिए तथा बड़े नगरों में ओवेन-समर्थकों द्वारा प्रचारित भौतिकवाद को ग़लत सिद्ध करने के लिए एक युवा स्त्री के साथ चुम्बकीय कपाल क्रियाएँ किया करता था। वह महिला चुम्बकीय नींद के प्रभाव में आ जाती थी तथा उसके बाद चालक गॉल के अंगों के अनुरूप जैसे ही कपाल के किसी हिस्से को छूता, वैसे ही वह अंग-विशेष के क्रियाकलाप का प्रतिनिधित्व करने वाली नाटकीय, प्रदर्शनात्मक भंगिमाओं व छवियों का उदारतापूर्वक (ढेर सारा) प्रदर्शन करने लग जाती। उदाहरण के लिए— शिशु-प्रजनकता के अंग की अभिव्यक्ति के लिए वह एक काल्पनिक बच्चे को खिलाने व चूमने लग जाती आदि। यही नहीं, भले व्यक्ति हॉल ने तो कपाल संबंधी गॉल के भूगोल को एक नये द्वीप— बाराटेरिया[1]— से समृद्ध कर दिया था : कपाल के सबसे ऊपरी भाग में उन्होंने श्रद्धा का अंग खोज लिया था, जिसे छूने भर से

1. **बाराटेरिया** (स्पेनिश शब्द बाराटो—सस्ता—से) सेर्वेटीज़ द्वारा अपने 'डान क्विक्ज़ोट' में एक कल्पित द्वीप को दिया गया नाम। सांको पांज़ा नामक पात्र यहीं पर रहता था।

मोहाविष्ट युवती अपने घुटनों के बल झुक जाती, प्रार्थना की मुद्रा में अपने हाथों को जोड़ लेती तथा स्तंभित कूपमंडूक दर्शकों के लिए श्रद्धा-मग्न देवदूत को चित्रित करती। यह प्रदर्शन का चरमोत्कर्ष तथा समापन हुआ करता था : यानी ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध कर दिया गया।

मुझ पर तथा मेरे एक परिचित पर भी वैसा ही प्रभाव पड़ा जैसा श्री वैलेस पर; घटना क्रियाएँ हमें रोचक लगीं तथा हमने यह पता लगाने की कोशिश की कि हम कहाँ तक उनकी पुनर्रचना कर सकते हैं। बारह वर्ष के एक पूरी तरह जाग्रत लड़के ने स्वयं को प्रयोग-वस्तु के रूप में प्रस्तुत कर दिया। उसकी आँखों में टकटकी लगाकर झाँकने अथवा उसे हौले-से-ठकठकाने मात्र से बिना किसी कठिनाई के वह मोहाविष्ट अवस्था में पहुँच जाता। पर चूँकि हम श्री वैलेस की तुलना में हम लोग कम भोले (आशुविश्वासी) थे तथा हमने कहीं कम उत्साह से काम शुरू किया था, हमने बिल्कुल भिन्न परिणाम निकाले। मांसपेशियों की अनम्यता तथा संवेदन शून्यता (इन्हें पैदा करना तो काफ़ी आसान था) के अलावा हमने इच्छाशक्ति की चरम निष्क्रियता की अवस्था को उत्तेजना की एक ख़ास अति-संवेदनशीलता के साथ संबद्ध भी पाया। किसी भी बाह्य उद्दीपक की सहायता से जब कर्मपात्र को उसकी शिथिलता की स्थिति से जगाया जाता तो वह जाग्रत अवस्था की तुलना में कहीं अधिक जीवंतता प्रदर्शित करता था। चालक के साथ किसी भी प्रकार के रहस्यात्मक सम्बन्ध का लेशमात्र भी नहीं था : कोई अन्य व्यक्ति भी उतनी ही आसानी से सोने वाले को सक्रिय कर सकता था। गॉल के कपालीय अंगों को चालित करना हमारे लिए बाएं हाथ का खेल बन गया; हम और भी आगे निकल गये, हम न केवल उन अंगों की अदला-बदली कर सकते थे, या पूरे शरीर में उनके स्थान को कहीं भी बना सकते थे, बल्कि हमने बड़ी संख्या में नये अंग— गाने, सीटी बजाने, बाँसुरी बजाने, नाचने, सिलाई करने, जूता गाँठने, तंबाकू पीने आदि के अंग — भी गढ़ दिये, और हम जहाँ भी चाहते, उनका स्थान बदल सकते थे। वैलेस ने तो अपने रोगियों को पानी पिलाकर नशा कराया था, पर हमने तो पैर की सबसे बड़ी उँगली में नशे का वह अंग खोज लिया था जिसे आप छू लें और देखें कितना सुंदर नशे की स्थिति का हास्य आपके सामने प्रस्तुत हो जाता है। लेकिन यहाँ एक बात अच्छी तरह से समझ ली जानी चाहिए कि जब तक कर्मपात्र को यह समझा नहीं दिया जाता था कि उससे क्या अपेक्षित है? किसी भी अंग में क्रिया का चिह्न तक दिखायी नहीं पड़ता था। उस लड़के ने अभ्यास कर-करके जल्दी ही अपने आपको इतना निपुण बना लिया था कि हल्का-सा संकेत भी काफ़ी होता था। इस तरह से पैदा किये अंग बाद में सुलाये जाने के अवसरों के लिए तब तक अपनी वैधता बनाये रखते, जब तक कि उन्हें उसी तरह परिवर्तित नहीं कर दिया जाता। दरअसल कर्मपात्र के पास दोहरी याददाश्त होती—एक जाग्रत अवस्था के लिए तथा बिल्कुल दूसरी मोहाविष्ट अवस्था

के लिए। जहाँ तक इच्छा शक्ति की निष्क्रियता तथा उसकी किसी तीसरे व्यक्ति की इच्छाशक्ति की अधीनता का सम्बन्ध है, इसका समस्त चमत्कारिक प्रकटन नष्ट हो जाता है। यदि हम इस बात पर ग़ौर करें कि इस संपूर्ण अवस्था की शुरुआत कर्मपात्र की इच्छाशक्ति के चालक की इच्छाशक्ति की अधीनस्थता से ही हुई थी तथा उसके बिना पैदा नहीं की जा सकती। दुनिया का सबसे बड़ा चुंबकत्व पैदा करने वाला जादूगर भी उस दिन अपने संसाधनों की समाप्ति के बिंदु पर जा पहुँचेगा । जिस दिन उसका कर्मपात्र उसके मुँह की ओर देखकर हँस देगा।

जहाँ हमने अपने छिछोर संशयवाद के सहारे यह पता लगा लिया कि चुंबकीय कपाल वैज्ञानिक धूर्तता का आधार घटना क्रियाओं की शृंखला होती है जो अधिकांशतः जाग्रत अवस्था की घटना क्रियाओं से सिर्फ़ मात्रा में भिन्न होती, वहीं श्री वैलेस के उत्साह ने उन्हें आत्म-प्रवंचनाओं की शृंखलाओं में ले जा पटका, जिनसे गद्‌गद होकर उन्होंने गॉल द्वारा प्रस्तुत कपाल के नक्शे की ब्यारेवार पुष्टि ही नहीं की बल्कि चालक और कर्मपात्र[1] के बीच एक रहस्यमय सम्बन्ध को भी रेखांकित किया। श्री वैलेस द्वारा प्रस्तुत वर्णन में, जिसकी निष्ठा मासूमियत की सीमा को छू लेती है, सर्वत्र यह स्पष्ट हो जाता है कि धूर्तता की तथ्यात्मक पृष्ठभूमि की पड़ताल करने में उनकी रुचि तमाम घटना क्रियाओं की, किसी भी क़ीमत पर, पुनर्रचना करने की बनस्वित काफ़ी कम थी। किसी भी ऐसे व्यक्ति के, ख़ासतौर पर उसके लिए जो मूलतः वैज्ञानिक था, सीधी तथा सुनम्य आत्म-प्रवंचना के जरिये एक दक्ष चमत्कारी के रूप में परिवर्तित हो जाने के लिए इसी तरह की मानसिक बनावट की ज़रूरत होती है। श्री वैलेस का अंत चुम्बकीय कपाल वैज्ञानिक चमत्कारों में विश्वास करने वाले व्यक्ति के रूप में हुआ और इसलिए यह कहा जा सकता है कि उनका एक पैर तो पहले से ही प्रेतात्म जगत में रखा हुआ था।

1865 में उन्होंने अपना दूसरा पैर भी उधर ही रख दिया। उष्णकटिबंध की अपनी बारह वर्ष की यात्रा से लौटने पर, नये-नये (उलटफेर तथा उठापटक वाले) प्रयोगों ने उन्हें विविध माध्यमों (मृतात्माएँ जो प्रयोग का माध्यम बनती हैं—अनु.) के समाज से परिचित कराया। उनकी प्रगति कितनी तीव्र तथा इस विषय में उनकी दक्षता कितनी परिपूर्ण थी यह

---

1. जैसा पहले ही कहा जा चुका है ये कर्मपात्र अभ्यास के द्वारा ही स्वयं को परिशुद्ध व निपुण बनाते हैं। इसलिए यह एकदम संभव है कि इच्छाशक्ति की अधीनता जब आदत का रूप धारण कर लेती है तो भागीदारों के बीच का सम्बन्ध घनिष्ठ बन जाता है तथा पृथक घटना क्रियाएँ सघन हो जाती हैं तथा जाग्रत अवस्था में भी क्षीण रूप से प्रतिबिंबित होने लगती हैं।

— (एंगेल्स की टिप्पणी)

तो पूर्वोक्त पुस्तिका से ही प्रमाणित हो जाता है। वह यह अपेक्षा रखते हैं कि हम न केवल होम्स तथा डेवेन पार्ट बंधुओं तथा उन जैसे अन्य लोगों द्वारा दिखाये जाने वाले कथित चमत्कारों को तथा अन्य 'माध्यमों' के करतबों को खरे सिक्के के रूप में स्वीकार कर लें (जो दरअसल कमोबेश पैसे के लिए ही अपना प्रदर्शन करते हैं तथा अधिकांशतः धोखेबाजों के रूप में जिनका पर्दाफ़ाश होता रहा है), बल्कि वह यह भी अपेक्षा करते है कि हम आरंभिक काल से चली आ रही प्रेतात्माओं के इतिहासों की तथाकथित अधिकृत शृंखला पर भी विश्वास कर लें। यूनानी देववाणी के पायथोनेस तथा मध्य युग की चुडैलें सबके सब 'माध्यम' थे और आयंब्लीकस ने अपनी पुस्तक 'भविष्यवाणियाँ' में 'आधुनिक प्रेतात्मवाद ही सर्वाधिक चौंकाने वाली घटना क्रियाओं' को बेहद सटीक ढंग से वर्णित कर ही दिया है। (पृ. 229)

यह दिखाने के लिए कि श्री वैलेस इन चमत्कारों की वैज्ञानिक सिद्धि तथा पुष्टि को कितने हल्के व अगंभीर ढंग से लेते हैं, एक उदाहरण ही काफ़ी होगा। यह निश्चित रूप से एक सबल पूर्वमान्यता है कि हम इस बात पर विश्वास कर लें कि ये ऊपर वर्णित प्रेतात्माएँ अपनी फ़ोटो खिंचवाने के लिए प्रस्तुत होंगी। हमें निश्चय ही यह माँग करने का अधिकार तो है ही कि इन प्रेतात्म-चित्रों के असली होने की पुष्टि ऐसे ढंग से की जाए कि किसी तरह के संदेह की गुंजाइश न रहे। तभी तो हम उन्हें असली मान सकते हैं। श्री वैलेस पृ. 187 पर यह बताते हैं कि मार्च 1872 में एक अग्रणी 'माध्यम' श्रीमती गुप्पी (पूर्वनाम निकोल) ने अपने पति तथा एक छोटे बच्चे के साथ नाटिंघम हिल में श्री हडसन के स्टूडियो में फ़ोटो खिंचाये थे तथा दो अलग-अलग चित्रों में पीछे एक लंबी महिला आकृति (चमचमाते सफ़ेद वस्त्रों में सजी-धजी तथा जिसके नाक-नक्श कुछ-कुछ पूर्वी लगते थे) देखी जा सकती थी, मानो आशीर्वाद की मुद्रा में।

"यहाँ दो में से एक चीज़ तो पूरी तरह निश्चित है।[1] या तो वहाँ कोई जीवित, बुद्धिमान, पर अदृश्य प्राणि उपस्थित था या श्री एवं श्रीमती गुप्पी, फ़ोटोग्राफ़र तथा किसी चौथे व्यक्ति ने कुत्सित चालबाज़ी की योजना बना ली थी, तब से मैं इसी धारणा पर क़ायम हूँ। चूँकि मैं श्री एवं श्रीमती गुप्पी को बहुत अच्छी तरह से जानता हूँ, मेरा यह **दृढ़ विश्वास** है कि वे प्रकृति विज्ञान की शाखा में सत्य के गंभीर पड़ताली होने के नाते इस तरह की

1. प्रेतात्मजगत् व्याकरण से श्रेष्ठ है। इस मसखरे ने एक बार वैयाकरण लिंडले मरे की आत्मा को साक्ष्य देने के लिए बुलाया। इस प्रश्न के जवाब में कि क्या वह वहाँ था, उसने उत्तर दिया, मैं हैं (I are)। 'माध्यम' अमरीका का था। (एंगेल्स द्वारा टिप्पणी)।

चालबाज़ी के सर्वथा अक्षम हैं।'' (पृ. 188)

परिणामस्वरूप या तो भ्रम या प्रेतात्म-फ़ोटोग्राफ़ी। बेशक। यदि भ्रम है तो या तो प्रेतात्मा फ़ोटो-प्लेट पर पहले से ही विद्यमान थी; या चार व्यक्ति इस सबमें सम्मिलित रहे होंगे या कम-से-कम तीन तो अवश्य। यदि हम श्री गुप्पी को क्षीण-मना अथवा छल-कपट का शिकार मानकर अलग भी कर दें, क्योंकि 84 वर्ष की उम्र में जनवरी, 1875 में उनका निधन हो गया था— हाँ, इसमें सम्मिलित रहे होंगे (इसके लिए बस यही तो ज़रूरी रहा होगा कि उसे पृष्ठभूमि के स्पेनी पर्दे के पीछे कर दिया जाये। यह बात को एकदम बहसतलब है ही नहीं कि एक फ़ोटोग्राफ़र आसानी से प्रेतात्मा का मॉडल जुटा सकता था; इसलिए और भी नहीं कि उक्त फ़ोटोग्राफ़र हडसन पर कुछ समय बाद ही मिथ्या प्रेतात्म-चित्रों के लिए सार्वजनिक तौर पर मुक़दमा चलाया गया था और इसलिए श्री वैलेस प्रशमनकारी टिप्पणी करते हैं :

''एक चीज़ साफ़ है कि यदि कोई चालबाज़ी हुई तो उसे स्वयं प्रेतात्मवादियों ने ही तत्काल पकड़ लिया है।'' (पृ. 189)

अतः फ़ोटोग्राफ़र पर ज़्यादा भरोसा नहीं किया जा सकता। अब बचीं श्रीमती गुप्पी — और उनके पास है हमारे मित्र वैलेस के 'दृढ़ विश्वास' के अलावा और कुछ भी नहीं। और कुछ नहीं? हाँ, कुछ भी नहीं। श्रीमती गुप्पी की परम विश्वसनीयता का प्रमाण तो उनके इस दावे में ही मिल जाता है कि जून 1871 की एक शाम उन्हें अचेतनावस्था में हाईबरी हिल पार्क स्थित अपने घर से लैंब्स कंड्यूट स्ट्रीट के 69 नं. के मकान में हवा के रास्ते ले जाया गया — पूरे तीन मील दूर और उस मकान के प्रेतात्म-कक्ष में एक मेज़ पर लिटा दिया गया। कमरे के सभी दरवाज़े बन्द थे और यद्यपि श्रीमती गुप्पी लंदन की तगड़ी महिलाओं में से एक थीं (और यह कहना काफ़ी अर्थवान है), फिर भी कमरे में उनके प्रवेश के परिणामस्वरूप न तो दरवाज़ों में और न छत में ही, कोई हल्का-सा भी छेद हुआ। (लंदन के 'ईको' नामक समाचार-पत्र में 8 जून, 1871 को छपी रिपोर्ट)। और यदि कोई अभी भी प्रेतात्म-फ़ोटोग्राफ़ी की असलियत में विश्वास न करे, तो उसका भला कौन कर सकता है?

अंग्रेज प्रकृति विज्ञानियों में ऐसे 'निपुण' के रूप में दूसरा नाम आता है श्री विलियम क्रुक्स का, जिन्होंने रसायन-तत्व थेलियम की तथा रेडियो मीटर[1] (जिसे जर्मनी में लिख़्तमूल भी कहा जाता है) की खोज की थी। श्री क्रुक्स ने 1871 के आसपास प्रेतात्म-अभिव्यक्तियों

---

1. **थेलियम** की खोज क्रूक्स ने 1861 में की थी। क्रुक्स द्वारा 1874 में निर्मित रेडियोमीटर विकिरणों को मापने वाला यंत्र होता है।

की हड़ताल शुरू की थी तथा इस काम में अनेक भौतिक एवं यांत्रिक उपकरणों, क़मानीदार तराजुओं तथा बिजली की बैटरियों का इस्तेमाल किया था। हमें यह देखना है कि उन्होंने अपने इस काम में जिस चीज़ की सबसे ज़्यादा ज़रूरत होती है— यानी संशयी-आलोचनात्मक मस्तिष्क—उसे काम में लिया अथवा नहीं और यह भी कि उन्होंने उसे अंत तक उपयुक्त प्रभावी स्थिति में बनाये भी रखा अथवा नहीं। जो भी हो, जल्दी ही श्री क्रुक्स भी श्री वैलेस की तरह ही पूरी तरह विमोहित हो गये।

'कुछ वर्षों से' वह लिखते हैं ''एक युवा महिला (कुमारी फ़्लोरेंस कुक) ने उल्लेखनीय 'माध्यम-क्षमता' प्रदर्शित की है, बाद में जिसकी चरम परिणति समग्र महिला-आकृति के प्रस्तुतीकरण में हुई (जिसके प्रेतात्मिक स्रोत बताये गये), जो नंगे-पाँव, सफ़ेद पोशाक में लिपटी हुई प्रकट हो जाती थी जबकि वह (कु. कुक) काले कपड़े पहन किसी लकड़ी के बक्से में अथवा बग़ल के कमरे में जकड़ी हुई मोहाविष्ट अवस्था में लेटी होती थी।'' (पृ. 181)।

इस प्रेतात्मा को जो अपने आपको केटी बताती थी तथा जो उल्लेखनीय रूप से— कु. कुक जैसी ही दिखती थी एक शाम श्री फोकमैन—श्रीमती गुप्पी के मौजूदा पति— ने अचानक कमर से पकड़ लिया तथा उसे कसकर थामे रखा यह देखने के लिए कि कहीं वह वस्तुतः कु. कुक का ही कोई दूसरा संस्करण तो नहीं थी। प्रेतात्मा काफ़ी तगड़ी काठी की युवती सिद्ध हुई, उसने ज़ोरदार ढंग से अपना बचाव किया, दर्शकों ने हस्तक्षेप किया, बिजली बुझा दी गयी और जब थोड़ी धक्का-मुक्की के बाद शांति क़ायम हुई और बिजली फिर से जला दी गयी तो, प्रेतात्मा ग़ायब हो चुकी थी और कु. कुक अपने कोने में बँधी हुई तथा बेहोश पड़ी थी। फिर भी यह बताया जाता है कि श्री फ़ोकमैन आज तक अपनी इस बात पर क़ायम हैं कि उन्होंने कु. कुक को पकड़ा था और किसी को नहीं। इसे वैज्ञानिक रूप से सिद्ध करने के लिए श्री वार्ले—सुविख्यात विद्युत-कर्मी— ने एक नये प्रयोग के अवसर पर, यह बंदोबस्त किया कि बैटरी से करंट 'माध्यम' यानी कु. कुक में होकर प्रवाहित हो और वह भी इस तरह कि करंट में व्यवधान उत्पन्न किये बिना प्रेतात्मा की भूमिका अदा न कर सके। फिर भी प्रेतात्मा प्रकट हो गयी। इसलिए इससे यह जाहिर हो गया कि वह प्रेतात्मा कु. कुक से भिन्न जीव थी। इसे आगे स्थापित करना श्री क्रुक्स का काम था। उनका पहला क़दम था प्रेतात्मिक महिला का विश्वास जीतना।

5 जून, 1874 के **'प्रेतात्मवादी'** में वह स्वयं कहते हैं कि यह विश्वास ''धीरे-धीरे

इस हद तक बढ़ गया कि उसने **आत्मायन** का प्रदर्शन तब तक देने से इन्कार कर दिया जब तक कि **सारे इंतज़ाम** मैं न कर दूँ। उसने कहा कि वह मुझे हमेशा अपने पास तथा लकड़ी के बक्से के आस-पड़ौस में चाहती थी; मैंने यह पाया कि— जब यह विश्वास पूरी तरह क़ायम हो गया और उसे भरोसा हो गया कि मैं **उससे किये गये किसी भी वादे को तोड़ूंगा नहीं** तो — घटना क्रियाओं की शक्ति काफ़ी बढ़ गयी तथा साक्ष्य मुक्त रूप से उपलब्ध होने लगा जो शायद अन्य किसी तरीक़े से प्राप्त न हो पाता। वह आत्मायन कक्ष में उपस्थित व्यक्तियों तथा उन्हें दिये जाने वाले स्थानों के बारे में अक्सर मुझसे सलाह करती, क्योंकि वह कुछेक ग़लत सुझावों— जैसे पड़ताल के अन्य अधिक वैज्ञानिक साधनों के अलावा बल प्रयोग भी किया जाना चाहिए— के परिणामस्वरूप बेहद व्यग्र व आशंकित हो उठी थी।''

इस प्रेतात्म-महिला ने इस विश्वास (जो दयालु तथा वैज्ञानिक दोनों ही था) के सुफल भी दिये—और ख़ूब दिये। वह श्री क्रुक्स के घर तक में प्रकट हो गयी— हम इस पर चकित नहीं है— बच्चों के साथ खेली तथा उन्हें भारत में अपने साहसिक करतबों के क़िस्से भी सुनाये; श्री क्रुक्स को 'अपने विगत जीवन के कड़वे अनुभवों' का लेखा-जोखा भी परोसा, उन्हें अपनी बाँह पकड़ने की अनुमति भी दी ताकि वह उसकी प्रकट भौतिकता का भरोसा कर सकें, उन्हें अपनी नब्ज़ देखने तथा प्रति मिनट साँस गिनने की अनुमति भी दी और अन्त में श्री क्रुक्स की बग़ल में बैठकर फ़ोटो खिंचवाने को भी राज़ी हो गयी। 'यह आकृति' श्री वैलेस कहते हैं ''देखे जाने, अनुभव किये जाने, उससे बात किये जाने, उसका फ़ोटो खींचा जाने के बाद उस छोटे से कमरे से एकदम ग़ायब हो गयी, जिससे बाहर निकलने का कोई भी रास्ता बग़ल के उस कमरे के अलावा नहीं था जो कि दर्शकों से भरा हुआ था।'' (पृ. 183)

— यह कोई बड़ा करतब नहीं था, बशर्ते कि दर्शक इतने विनम्र तो रहे ही हों कि प्रेतात्मा में उतना विश्वास प्रदर्शित कर दें जितना विश्वास श्री क्रुक्स को था और जिनके घर में ही यह सब कुछ घटित हुआ।

दुर्भाग्य से, प्रेतात्मवादी भी इन ''पूर्णतया सही प्रमाणित घटना क्रियाओं को सहज रूप से तथा तुरत विश्वसनीय नहीं पाते। हम ऊपर देख चुके हैं कि कैसे अति प्रेतात्मवादी श्री फ़ोक्समैन ने एक बेहद भौतिक पकड़ के लिए स्वयं को प्रस्तुत कर दिया और अब 'प्रेतात्मावादियों के ब्रिटिश राष्ट्रीय संघ' की समिति का सदस्य, एक पादरी भी कु. कुक के आत्मायन सत्र में उपस्थित हो गया। उसने यह स्थापित किया कि उस कमरे का दरवाज़ा —जिसमें होकर प्रेतात्मा आयी-गयी थी—एक **दूसरे दरवाज़े** के माध्यम से बाहरी दुनिया से संपर्क साधता

था। श्री क्रुक्स जो वहाँ उपस्थित थे— के व्यवहार ने "मेरे इस विश्वास पर अन्तिम प्राणांतक आघात किया कि शायद चेहरे की अभिव्यक्तियों में कहीं कुछ हो ही।" (**रहस्यात्मक लंदन**— लेखक रेवे. सी. मॉरिस डेवीज़, लंदन, टिंस्ले ब्रदर्स, पृ. (319)। और इस सबके भी ऊपर अमरीका में यह पता चला लिया गया कि ये **केटियाँ** (केटी तथा उस जैसे अन्य प्रेतात्म-मॉडल) कैसे 'बनती' थीं? होम्स नामक एक विवाहित जोड़ा फ़िलाडेल्फ़िया में आत्मायन आयोजित किया करता था जिसमें भी एक **केटी** प्रकट होती तथा विश्वास रखने वालों से उदारतापूर्वक उपहार प्राप्त करती थी। बहरहाल, एक संशयी व्यक्ति ने तब तक आराम न करने की ठान ली जब तक कि उसे कथित केटी (जो एक बार वेतन न मिलने के कारण हड़ताल कर चुकी थी) का पता न लग जाये; उसने केटी (जो असंदिग्ध हाड़-माँस की युवती थी) को एक बोर्डिंग-हाउस में ढूँढ निकाला जहाँ वे सभी उपहार भी मिल गये जो कि प्रेतात्मा को दिये गये थे।

इस बीच, महाद्वीप (शेष यूरोप) के पास भी अपने वैज्ञानिक-प्रेतात्मदर्शी थे। सेंट पीटर्सबर्ग के वैज्ञानिक संघ (मुझे यह पक्के तौर पर पता नहीं है कि विश्वविद्यालय अथवा ख़ुद अकादमी ने यह काम सौंपा था अथवा नहीं) ने राज्य के सभासद अक्साकोव तथा रसायन विज्ञानी बुतले रोव को प्रेतात्मिक घटना क्रियाओं के आधार पर परीक्षण करने का काम सौंपा था, पर लगता यह है कि उससे ख़ास कुछ निकला नहीं।[1] दूसरी ओर यदि प्रेतात्मवादियों की शोरभरी घोषणाओं पर विश्वास कर लिया जाये तो जर्मनी ने भी प्रोफ़ेसर ज़ौलनर के रूप में लाइप्ज़िग में अपना प्रतिनिधि प्रस्तुत कर दिया है।

यह सुविख्यात है कि श्री ज़ौलनर कई वर्षों से अंतरिक्ष के 'चतुर्थ आयाम' सम्बन्धी काम में लगन व कड़ी मेहनत के साथ लगे हुए हैं तथा उन्होंने यह खोज की है कि बहुत सी

---

1. सेंट पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय में 'मई 1875 को भौतिक संस्थान द्वारा गठित 'प्रेतात्मिक घटना क्रियाओं की पड़ताल के लिए आयोग' का हवाला। इसने 21 मार्च, 1876 को अपना काम पूरा कर लिया। इसने रूस में प्रेतात्मवाद का प्रसारण करने वालों—अक्साकोव, बुतलेरोव तथा अन्य—के सामने प्रस्तावित किया कि वे 'सच्ची' प्रेतात्मिक घटना क्रियाओं से सम्बन्धित जानकारी उपलब्ध करायें। आयोग के सदस्यों में ये वैज्ञानिक थे—मेंदेलेयेव, बोबील्योव तथा क्रायेविच। आयोग इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि "प्रेतात्मिक घटना क्रियाएं अचेतन गतियों अथवा सुविचारित ढंग से भ्रम पैदा करने की क्रिया से उत्पन्न होती हैं तथा प्रेतात्मवादी सिद्धांत अंधविश्वास होता है।" आयोग के निष्कर्ष गोलोस (आवाज़) नामक समाचार-पत्र के अंक 85 में 25 मार्च, 1876 को प्रकाशित हुए थे। मेंदेलेयेव ने आयोग की सामग्री को **प्रेतात्मवाद पर फ़ैसले** की सामग्री शीर्षक से प्रकाशित किया— (सेंट पीटर्सबर्ग, 1876)।

चीज़ें जो तीन आयामों के अंतरिक्ष में असंभव प्रतीत होती हैं, वस्तुतः चार आयामी अंतरिक्ष में सहज लगती हैं। इस प्रकार चार आयामी अंतरिक्ष एक बन्द धातु के गोले को दस्ताने की तरह उलटा जा सकता है, बिना उसमें कोई छेद किये। इसी तरह एक अनंत शृंखला में अथवा उसमें भी जिसके दोनों छोर बँधे हुए हों, गाँठ लगायी जा सकती है तथा दो अलग-अलग बंद छल्लों को बिना एक को भी खोले हुए जोड़ा जा सकता है। इस तरह के न जाने ऐसे कितने करतब दिखाये जा सकते हैं। अब, प्रेतात्म-जगत् से प्राप्त हाल ही की उपलब्धियों के समाचारों के अनुसार, प्रोफ़ेसर ज़ौलनर ने स्वयं को एक अथवा अधिक 'माध्यमों' से संबोधित किया है ताकि उनकी मदद से वह चौथे आयाम की अवस्थिति के बारे में अधिक ब्यौरों का निर्धारण कर सकें। सफलता आश्चर्यजनक बतायी जाती है। सत्र की समाप्ति पर उस कुर्सी का हत्था, जिस पर उन्होंने अपनी बाँह रख रखी थी—बावजूद इसके कि उन्होंने मेज़ पर से एक क्षण के लिए भी अपना हाथ नहीं उठाया था—उनकी बाँह से गुँथ गया, एक ऐसी लड़ी के रूप में जिसके दोनों छोर मेज़ पर बँधे पाये गये तथा उसमें चार गाँठें लगी हुई थीं आदि। संक्षेप में, चौथे आयाम के सभी चमत्कारों के बारे में यह कहा जाता है कि प्रेतात्माओं ने उन्हें बेहद आसानी से संपन्न कर दिया। इस चीज़ को ध्यान में रखा जाना चाहिए : सम्बन्धों-संदर्भों को जोड़कर मैं प्रेतात्म-बुलेटिन के सहीपन की साक्ष्य नहीं देता, पर यदि उसमें कुछ त्रुटियाँ व असंगतियाँ सन्निहित हों— श्री ज़ौलनर को मेरे प्रति कृतज्ञ होना चाहिए कि मैं उन्हें शुद्धिकरण का अवसर दे रहा हूँ। यदि फिर भी उससे श्री ज़ौलनर के अनुभव ही बिना किसी मिथ्याकरण के पुनर्जनित होते हैं तो वह प्रेतात्म विज्ञान तथा गणित दोनों ही क्षेत्रों में नये युग के सूत्रपात का सुसमाचार होगा। प्रेतात्माएँ चौथे आयाम के अस्तित्व को ठीक वैसे ही प्रमाणित करती हैं जैसे चौथा आयाम प्रेतात्माओं के अस्तित्व को। एक बार बस यह स्थापित हो जाये, विज्ञान के समक्ष एकदम नये तथा अनंत विस्तार वाले क्षेत्र के द्वार खुल जायेंगे। समस्त पूर्ववर्ती गणित और प्रकृति-विज्ञान चौथे तथा और भी ऊपर के आयामों के लिए गणित के लिए यांत्रिकी, भौतिकी, रसायन-विज्ञान तथा इन ऊँचे आयामों में निवास करने वाली प्रेतात्माओं के शरीर क्रिया विज्ञान के लिए तैयारी के स्कूल का ही काम देगा। क्या श्री क्रुक्स ने वैज्ञानिक दृष्टि से यह निर्धारित नहीं कर दिया है कि चौथे आयाम तक की यात्रा में मेज़ें तथा अन्य फ़र्नीचर का कितना वज़न कम हो जाता है और क्या श्री वैलेस इसे प्रमाणित घोषित नहीं करते हैं कि आग मानव शरीर को कोई नुक़सान नहीं पहुँचती? और अब तो हमारे सामने प्रेतात्माओं का शरीर क्रिया विज्ञान भी आ गया है! वे सांस लेती हैं, उनके पास नब्ज़ है, इसलिए फेफड़े,

हृदय तथा रक्त-संचार यंत्र भी है तथा कुल मिलाकर अन्य जैव अवयवों की तुलना में कम-से-कम उतने शानदार ढंग से तो संपन्न हैं ही जितने कि हम। क्योंकि साँस लेने के लिए कार्बोहाइड्रेटों की आवश्यकता होती है जो फेफड़ों में दहन-प्रक्रिया से गुज़रते हैं तथा इन कार्बोहाइड्रेटों की आपूर्ति बाहर से ही की जा सकती है। इसका अर्थ है— पेट, अंतड़ियाँ तथा अन्य सहायक अवयव और यदि हमने एक बार इतना सब प्रमाणित-स्थापित कर लिया तो बाक़ी सब भी बिना किसी कठिनाई के हो ही जायेगा। बहरहाल इन अंगों के अस्तित्व में उनके बीमारी का शिकार हो जाने की संभावना तो सन्निहित है ही, अतएव ऐसा भी हो ही सकता है कि श्री विरख़ोव को प्रेतात्म-जगत् का कोशिकीय रोग विज्ञान भी संकलित करना पड़ जाये। चूँकि इन प्रेतात्माओं में से अधिकांश बेहद ख़ूबसूरत युवा महिलाएँ हैं, जो अन्य लौकिक महिलाओं से किसी भी लिहाज़ से विशिष्ट नहीं लगती, सिवाय अपने अति-लौकिक सौंदर्य के; अतः यह कोई बहुत दूर की बात नहीं है कि किसी दिन वे ''प्रेम के आवेग का अनुभव करने वाले पुरुषों[1] के संपर्क में आ जायें और चूँकि, जैसा श्री क्रुक्स ने नाड़ी की धड़कन से प्रमाणित कर दिया है ''नारी-हृदय भी अनुपस्थित नहीं है'' प्राकृतिक वरण ने भी उसके सामने चौथे आयाम की संभावना के द्वार खोल दिये हैं एक ऐसी संभावना जिसमें उसे कुत्सित सामाजिक जनवाद[2] के साथ गड्ड-मड्ड किये जाने का भी कोई भय नहीं सताना चाहिए।

बस। यहाँ यह एकदम स्पष्ट हो जाता है कि प्रकृति-विज्ञान से रहस्यवाद तक का सबसे सुनिश्चित मार्ग कौन-सा है। वह प्रकृति-दर्शन के बारे में अतिशय उन्मुक्त सिद्धांतीकरण नहीं, अपितु सर्वाधिक छिछला इंद्रियानुभववाद जो समस्त सिद्धांत की अवमानना करता है (उसे घृणा भी करता है) तथा समस्त चिंतन पर अविश्वास करता है। कारण-कार्य न्याय पर आधारित आवश्यकता प्रेतात्माओं के अस्तित्व को प्रमाणित नहीं करती बल्कि सर्वश्री वैलेस, क्रुक्स एवं मंडली के इंद्रियानुभविक प्रेक्षण हैं जो ऐसा करते हैं। यदि हम क्रुक्स के स्पेक्ट्रम-विश्लेषण प्रेक्षणों, जिन्होंने थेलियम धातु की खोज को संभव बनाया, का विश्वास करते हैं या मलय द्वीप समूह में वैलेस द्वारा की गयी समृद्ध प्राणिशास्त्रीय खोजों का विश्वास करते हैं तो हमसे यह कहा जाता है कि इन दोनों वैज्ञानिकों के प्रेतात्मिक अनुभवों तथा खोजों का भी

1. मोज़ार्त के ऑपेरा, **जादुई बाँसुरी**, अंक 1, दृश्य 18 से।
2. एंगेल्स यहाँ जर्मनी में डार्विनवाद के ख़िलाफ़ प्रतिक्रियावादी आक्रमणों — खासकर पेरिस कम्यून, 1871 के बाद के दिनों में— की ओर संकेत कर रहे हैं। विरख़ोव जैसे महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक ने जिसने पहले डार्विनवाद का समर्थन किया था भी 1877 में यह सुझाव दिया कि डार्विनवाद के शिक्षण पर प्रतिबंध लगा दिया जाये तथा इस बात पर ज़ोर दिया कि वह (डार्विनवाद) समाजवादी आंदोलन से घनिष्ठ रूप से जुड़ा होने के कारण मौजूदा सामाजिक व्यवस्था के लिए ख़तरनाक है।

उतना उतना ही विश्वास कर लें और हम यदि यह राय व्यक्त करें कि आख़िर इन दोनों चीज़ों में थोड़ा फ़र्क़ है यानी इन दोनों चीज़ों में थोड़ा फ़र्क़ है यानी हम एक का सत्यापन कर सकते हैं जबकि दूसरी का नहीं कर सकते, तो प्रेतात्मदर्शन प्रत्युत्तर देते हैं कि ऐसा नहीं है कि वे हमें प्रेतात्म–घटना क्रियाओं के सत्यापन का भी अवसर प्रदान करने को तैयार हैं।

दरअसल, द्वंद्वात्मकता के प्रति हिक़ारत का भाव रखने, उसकी अवमानना करने का दंड भी भोगना पड़ता है। समस्त सैद्धांतिक चिंतन के प्रति किसी के मन में घृणा–भाव कितना ही क्यों न हो, सैद्धांतिक चिंतन के बग़ैर दो प्राकृतिक तथ्यों के परस्पर सम्बन्ध क़ायम नहीं किये जा सकते और न उनके बीच विद्यमान सम्बन्ध को समझा ही जा सकता है। एकमात्र प्रश्न जो उठना चाहिए वह यह कि किसी व्यक्ति का चिंतन सही है अथवा नहीं। सिद्धांत की अवमानना ज़ाहिर तौर पर प्रकृतवादी (यथातथ्य) ढंग से और इसलिए ग़लत ढंग से चिंतन करने का सर्वाधिक सुनिश्चित मार्ग है। किंतु एक पुराने और सुपरिचित द्वंद्वात्मक नियम के अनुसार— ग़लत चिंतन अपनी तार्किक (चरम) परिणति में अनिवार्य रूप से अपने प्रस्थान–बिंदु की विपरीत स्थिति में आ पहुँचता है। अतएव, द्वंद्वात्मकता के प्रति इंद्रियानुभविक घृणाभाव का दंड इस रूप में मिलता है कि सर्वाधिक संजीदा अनुभववादियों में से कुछ भटककर सर्वाधिक अनुर्वर (जहाँ कुछ पैदा नहीं होता) अंधविश्वास यानी आधुनिक प्रेतात्मवाद के क्षेत्र में जा गिरते हैं।

गणित पर भी यही बात लागू होती है। सामान्य अधिभूतवादी गणितज्ञ अतिशय गर्व के साथ शेख़ी बघारते हैं कि उनके विज्ञान के नतीजे ऐसे होते हैं जिनका खंडन सर्वथा असंभव है। पर इन नतीजों में तो काल्पनिक परिणाम भी समाहित होते हैं, जो इस प्रकार की यथार्थता भी ग्रहण कर लेते हैं। जैसे ही हम अपने मस्तिष्क के परे $\sqrt{-1}$ पर अथवा चौथे आयाम पर किसी प्रकार की यथार्थता आरोपित करने के अभ्यस्त हो जाते हैं, तो यदि हम एक क़दम और आगे जाकर माध्यमों के प्रेतात्म–जगत् को भी मानने लग जायें, तो इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। यह वैसा ही है जो कैटेलर ने डॉलिंजर के बारे में कहा था।

"इस व्यक्ति ने अपने जीवन में इतनी अधिक मूर्खता को समर्थन दिया है (उसका बचाव किया है) कि वस्तुतः वह बदले में अमोघत्व (भ्रमातीत होने की स्थिति) को भी स्वीकार कर सकता था।"[1]

दरअसल, मात्र इंद्रियानुभववाद प्रेतात्मवादियों का खंडन कर पाने में सर्वथा असमर्थ

---

1. पोप के अमोघत्व का जड़सूत्र वैटिकन परिषद द्वारा 18 जुलाई, 1870 को परिभाषित किया गया था। जर्मन कैथोलिक धर्मशास्त्री डॉलिंजर ने इस जड़ सूत्र को अस्वीकार कर दिया था। मेंज़ के बिशप कैटेलर भी पहले तो इसके विरुद्ध थे पर जल्दी ही वह इससे सहमत हो गये तथा इसके कट्टर समर्थक हो गये।

है। पहली बात तो यह कि ये 'उच्चतर' घटना क्रियाएँ स्वयं को तभी प्रकट करती हैं जबकि सम्बन्धित 'अन्वेषक' पहले ही उस सिद्ध अवस्था में पहुँच चुका होता है कि अब वह वही देखता है जो उसे देखना चाहिए या जो वह देखना चाहता है जैसा स्वयं क्रूक्स ने अननुकरणीय मासूमियत (भोलेपन) के साथ वर्णन किया है। दूसरे, प्रेतात्मवादी इस बात की क़तई परवाह नहीं करते कि सैकड़ों कथित तथ्यों का पाखंड के रूप में तथा दर्जनों 'माध्यमों' का सामान्य धूर्तों (चालबाज़ों) के रूप में पर्दाफ़ाश हो चुका है। जब तक कि **प्रत्येक** कथित चमत्कार की समुचित व्याख्या नहीं हो जाती, तब तक उनके जारी रहने की गुंजाइश बनी रहती है; जैसा कि दरअसल वैलेस मिथ्या साबित कर दिये गये प्रेतात्म-चित्रों के सम्बन्ध में साफ़ तौर पर कहते हैं। जालसाज़ियों का अस्तित्व असली चीज़ों (चित्रों) की असलियत को सिद्ध करता है।

और इसलिए इंद्रियानुभववाद, इंद्रियानुभविक प्रयोगों के आधार पर नहीं बल्कि सैद्धांतिक सोच-विचार के आधार पर दुराग्रही प्रेतात्म-दर्शियों का खंडन करता है और यदि हक्सले के स्वर में स्वर मिलाकर कहें तोः

"प्रेतात्मवाद के सत्य के प्रदर्शन में मुझे जो एकमात्र अच्छी चीज़ लगती है वह है आत्महत्या के ख़िलाफ़ एक अतिरिक्त तर्क की प्रस्तुति। मर जाने और एक आत्मायन-सत्र के लिए एक पाउंड की दर पर नियुक्त 'माध्यम' द्वारा बकवास करने को विवश किये जाने के बेहतर तो यही है कि सड़क साफ़ करने वाले के रूप में ज़िंदा रहना कहीं बेहतर है।"

1. ये शब्द जीव विज्ञानी टामस हक्सले द्वारा लिखे उस पत्र से लिये गये हैं जो उन्होंने लंदन द्वंद्वात्मक संघ द्वारा प्रेतात्मक घटना क्रिया के अध्ययन के लिए गठित समिति के काम में भाग लेने के लिए आमंत्रित किये जाने पर लिखे थे। हक्सले ने कार्यवाही में भाग लेने से इन्कार कर दिया तथा प्रेतात्मवाद के बारे में अनेक व्यंग्यात्मक टिप्पणियाँ भी कीं। 29 जनवरी, 1869 का उनका यह पत्र द **डेली न्यूज़** में 17 अक्टूबर, 1871 को प्रकाशित हुआ था। यह डेवीज़ की पूर्व-वर्णित पुस्तक 'रहस्यमय लंदन' के पृष्ठ 389 पर भी दिया गया है।

वानर से नर बनने की प्रक्रिया में श्रम की भूमिका

वास्तव में ज्यों-ज्यों दिन बीतते जाते हैं, हम इन नियमों की बेहतर समझ को ग्रहण करते जाते हैं तथा प्रकृति के पारंपरिक प्रक्रम में अपने हस्तक्षेप के तात्कालिक परिणामों के साथ उसके अधिक दूरवर्ती परिणामों को भी देखने लगते हैं। ख़ासकर, प्रकृति-विज्ञान की वर्तमान शताब्दी की प्रबल प्रगति के बाद तो हम अधिकाधिक ऐसी स्थिति में आते जा रहे हैं जहाँ कम-से-कम अपने सबसे साधारण उत्पादक क्रियाकलाप के अधिक दूरवर्ती प्राकृतिक परिणामों तक को हम जान सकते हैं और फलतः उन्हें नियंत्रित भी कर सकते हैं। लेकिन जितना ही अधिक ऐसा होगा, उतना ही अधिक मनुष्य प्रकृति के साथ अपनी एकता का न केवल अनुभव करेंगे, बल्कि उसे समझेंगे भी और तब यूरोप में प्राचीन क्लासिकीय युग के अवसान के बाद उद्‌भूत होने वाली तथा ईसाई धर्म में सबसे अधिक निरूपित की जाने वाली मस्तिष्क एवं भूतद्रव्य, मनुष्य एवं प्रकृति, आत्मा एवं शरीर के वैपरीत्य की निरर्थक एवं अस्वाभाविक धारणा उतनी ही अधिक असंभव होती जायेगी।

टिप्पणियाँ तथा अंश[1]

ऐतिहासिक

आधुनिक प्रकृति-विज्ञान— जिसे यूनानियों की तेजस्वी प्रतिभा सम्पन्न अंतर्दृष्टियों तथा अरबों के छिटपुट असंबद्ध अन्वेषणों के बरक्स एकमात्र विज्ञान के रूप में रखकर विचार किया जा सकता है— का आरम्भ उस प्रचंड युग के साथ होता है, जिसमें बर्गरों ने सामंतवाद को ध्वस्त कर दिया था। इस युग ने नगरों के बर्गरों तथा सामंती अभिजात वर्ग के संघर्ष की पृष्ठभूमि में विद्रोही किसान वर्ग को दिखाया तथा किसान वर्ग के पीछे हाथ में लाल झंडा लिये हुए तथा कम्युनिज़्म के नारे लगाते हुए आधुनिक सर्वहारा वर्ग की क्रांतिकारी शुरुआतों को दिखाया। यह वह युग था जब यूरोप में महान राजतंत्र क़ायम हुए, पोप की आध्यात्मिक तानाशाही टूटी, यूनानी स्वर्ण युग के पुनरुज्जीवित किये जाने की आवश्यकता अनुभव की गयी तथा उसके साथ ही नये युग के सर्वोच्च कलात्मक विकास का सूत्रपात हुआ, पुरानी दुनिया की सीमाएँ टूटीं तथा पहली बार वास्तव में दुनिया की खोज हुई।

यह दुनिया द्वारा अब तक अनुभव की गयी सबसे बड़ी क्रांति थी। प्रकृति-विज्ञान भी इस क्रांति में फला-फूला— पूरी तरह क्रांतिकारी था— महान् इतालवियों के आधुनिक दर्शन के जागरण के हाथ में हाथ डालकर आगे बढ़ा तथा अग्निदंड तथा जेलों के लिए उसने अपने शहीद भी प्रस्तुत किये। यह ग़ौरतलब है कि उसे उत्पीड़ित करने में कैथोलिकों तथा प्रोटेस्टेंटों के बीच होड़ मच गयी थी। प्रोटेस्टेंटों ने सर्वेटस को तथा कैथोलिकों ने ग्योर्दानो ब्रूनो को ज़िंदा जला दिया था। यह वह काल था जो महानमानवों की माँग करता था तथा जिसने महामानव — पैदा भी किये— ज्ञान, बुद्धि तथा चरित्र के क्षेत्रों में महामानव। यह वह काल था जिसे फ्रांसीसियों ने पुनर्जागरण की सही संज्ञा दी तथा जिसे प्रोटेस्टेंट यूरोप ने एक

1. यहाँ सम्मिलित **टिप्पणियाँ तथा अंश** एंगेल्स की कृति **प्रकृति की द्वंद्वात्मकता**, मास्को, 1972, पृ. 192-195 तथा 200-201 से लिये गये हैं। यह शीर्षक मार्क्सवाद-लेनिनवाद संस्था द्वारा दिया गया था।

पक्षीय पूर्वाग्रह के तहत इसे धर्म-सुधार के काल की संज्ञा दी।

उस समय प्रकृति-विज्ञान के पास भी उसका स्वतंत्रता का घोषणा-पत्र था यद्यपि यह सही है कि वह शुरू में ही नहीं आ गया था, वैसे ही जैसे लूथर सबसे पहला प्रोटेस्टेंट था। धार्मिक क्षेत्र में जो महत्त्व लूथर द्वारा पोप का आदेश-पत्र जलाये जाने का था, प्रकृति-विज्ञान में वही महत्त्व कोपेर्निक[1] की महान कृति का था, जिसमें उन्होंने हालांकि भीरु भाव से छत्तीस वर्ष की झिझक व संकोच के बाद, या यूँ कहें अपनी मृत्यु-शय्या पर—पुरोहित वर्ग के अंधविश्वास को चुनौती दी थी। तब से लेकर प्रकृति-विज्ञान सार रूप में धर्म से मुक्त हो गया, हालाँकि सारे हिसाब-किताब ब्यौरेवार चुकतारा तो आज तक जारी है तथा कई दिमाग़ों में तो वह अभी भी पूरा होने से काफ़ी दूर है। तब से लेकर विज्ञान का विकास बड़ी-बड़ी छलाँगें लगाता हुआ आगे बढ़ता रहा, या यूँ कहें कि अपने प्रस्थान-बिंदु से काल के अर्थ में तय की गयी दूरी के वर्ग के समानुपाती ढंग से बढ़ता रहा, जैसे कि वह दुनिया को दिखा देना चाहता हो कि जैव भूतद्रव्य की सर्वोच्च कृति—मानव मस्तिष्क—की गति पर जो नियम लागू होता है, वह अजैव भूतद्रव्य की गति पर लागू होने वाले नियम का उलटा है।

आधुनिक प्रकृति-विज्ञान का पहला चरण—अजैव क्षेत्र में—न्यूटन के साथ पूरा होता है। यह वह काल है जब उपलब्ध विषय-वस्तु का पूरा अधिकार प्राप्त कर लिया गया; जब ख़ासकर केप्लर तथा गैलीलियो— जिनकी कृतियों से न्यूटन ने निष्कर्ष निकाले थे— की कृपा से गणित, यांत्रिकी तथा खगोल-विज्ञान, स्थैतिकी एवं गतिकी के क्षेत्र में महान कार्य संपन्न हुआ। हालाँकि जैव क्षेत्र में आरंभिक क़दम उठाये जाने के परे कोई प्रगति नहीं हो पायी। ऐतिहासिक विकास की शृंखला में एक के बाद एक करके आने वाले तथा एक-दूसरे का स्थान लेने वाले जीवन-रूपों तथा उनके अनुरूप (सदृश) जीवन की परिवर्तित परिस्थितियों का अन्वेषण— जीवाष्म विज्ञान तथा भू-विज्ञान का अभी तक अस्तित्व ही नहीं था। प्रकृति को अभी तक ऐसी चीज़ के रूप में नहीं माना जाता था जिसका विकास ऐतिहासिक ढंग से होता हो, या काल में जिसका इतिहास हो; सिर्फ़ दिक् में विस्तार पर विचार किया जाता था। विभिन्न रूपों को एक के बाद एक न रखकर, बल्कि एक के पास दूसरे को रखकर वर्गीकृत किया जाता था। प्राकृतिक इतिहास, ग्रहों की दीर्घवृत्तीय कक्षाओं के समान सभी युगों के लिए वैध था। जैव संरचना के सूक्ष्म तथा गहन विश्लेषण के दोनों तात्कालिक आधारों —

---

1. कोपेर्निक को अपनी पुस्तक 'खगोलीय पिंडों का घूर्णन', जिसमें उन्होंने विश्व के सूर्य-केन्द्रित सिद्धांत का प्रतिपादन किया था, अपनी मृत्यु के ही दिन (24 मई, 1543 को) तैयार होकर मिली। उनके सिद्धांत ने अब तक मान्यता-प्राप्त पृथ्वी-केंद्रित सिद्धांत की धज्जियाँ उड़ा दीं और सिद्ध कर दिया कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है तथा साथ ही अपनी धुरी पर भी घूमती है।

रसायन-विज्ञान तथा मूलभूत जैव संरचना (कोशिका) का ज्ञान—का अभाव था। प्रकृति विज्ञान—जो आरंभ में क्रांतिकारी था—का सामना घोर रूढ़िवादी प्रकृति से हुआ, जिसमें आज भी हर चीज़ वैसी ही बनी हुई मानी जाती थी, जैसी कि वह दुनिया की शुरुआत में थी तथा जिसमें अंत तक प्रत्येक चीज़ वैसी ही बनी रहेगी जैसी कि वह शुरू में थी।

यह लाक्षणिक है कि प्रकृति के अजैव तथा जैव दोनों ही क्षेत्रों के सम्बंध में यह रूढ़िवादी दृष्टिकोण (.....)[1]

खगोल-विज्ञान	भौतिकी	भू-विज्ञान
यांत्रिकी	रसायन-विज्ञान	जीवाश्म-विज्ञान
गणित		खनिज-विज्ञान

वनस्पति शरीर-क्रिया-विज्ञान	चिकित्सा-विज्ञान
जीव-शरीर-क्रियाविज्ञान	निदान-विज्ञान
शरीर-रचना-विज्ञान	

पहला अतिक्रमण : कांट एवं लाप्लास। दूसरा : भू-विज्ञान एवं जीवाश्म-विज्ञान (ल्येल, धीमा विकास)। तीसरा : जैव रसायन-विज्ञान, जो जैव कार्यों को निर्मित करता है तथा जीवित कार्यों के लिए रासायनिक नियमों की वैधता दर्शाता है। चौथा : यांत्रिक ऊष्मा (का सिद्धांत), 1842, ग्रोव। पाँचवाँ : डार्विन, लामार्क, कोशिका आदि (संघर्ष, कूविए एवं अगासिज़)। छठा : शरीर रचना-विज्ञान तथा जलवायु-विज्ञान में **तुलनात्मक तत्त्व** (समताप), जीव एवं वनस्पति भूगोल (18वीं शताब्दी के मध्य से वैज्ञानिक यात्रा अभियान), सामान्य रूप से भौतिक भूगोल (हंबोल्ट) सामग्री का उसके अंतः सम्बन्ध में संयोजन। आकृति-विज्ञान (भ्रूण विज्ञान— बायर)।[2]

पुरानी प्रयोजन मूलकता तो नष्ट हो गयी है, पर अब यह पक्के तौर पर प्रमाणित-स्थापित हो गया है कि भूतद्रव्य अपने शाश्वत् चक्र में उन नियमों के अनुरूप गतिशील रहता है जो एक निश्चित अवस्था में कभी यहाँ, कभी वहाँ जैव शरीरियों में अनिवार्य रूप से चिंतनशील मस्तिष्क को जन्म देते हैं।

जीवों का मानकीय अस्तित्व उन समकालीन परिस्थितियों द्वारा निर्धारित होता है जिनमें वे जीते हैं तथा स्वयं को जिनके अनुकूलित करते हैं। मनुष्य की परिस्थितियाँ— जैसे

---

1. यह वाक्य पूरा नहीं किया गया।—सम्पा.
2. इस बिंदु तक, पांडुलिपि में टिप्पणी के पाठ को आड़ा काट दिया गया है, जैसा कि एंगेल्स ने 'भूमिका' के प्रथम भाग में भी किया था। आगे के दो पैरा, जिन्हें 'भूमिका' के दूसरे भाग में आंशिक रूप से काम में लिया गया था, नहीं काटे गये—सम्पा.

ही वह स्वयं को संकुचित अर्थ में जीवों से विभेदीकृत कर लेता है अभी तक अस्तित्व में नहीं रही हैं तथा जिनका विशदीकरण परवर्ती ऐतिहासिक विकास द्वारा किया जाना बाक़ी है। मनुष्य ही एकमात्र ऐसा जीव है,जो मात्र पशु-अवस्था से निकलने का रास्ता बनाने में समर्थ है। उसकी मानकीय अवस्था वह है जो उसकी चेतना के लिए उपयुक्त होती है, **वह जिसका सृजन स्वयं उसी को करना है।**

ईश्वर के साथ इतना ख़राब बर्ताव कहीं नहीं किया गया जितना कि उसमें आस्था रखने वाले प्रकृति विज्ञानियों ने किया है। भौतिकवादी तो इस तरह के जुमलों का इस्तेमाल किये बग़ैर, बस तथ्यों की व्याख्या भर करते हैं; वे ऐसा पहली बार तो तब करते हैं जब दुराग्रही पवित्र धर्मावलम्बी उन पर ईश्वर को आरोपित करने की चेष्टा करते हैं और फिर वे या तो लाप्लास की तरह टके-सा जवाब दे देते हैं : श्रीमान्! मुझे इस प्राक्कल्पना की आवश्यकता ही नहीं थी,[1] या फिर डच व्यापारियों की तरह—तब जर्मन वाणिज्यिक यात्रियों द्वारा उन पर रद्दी माल थोपने की कोशिश की जाती है, तो वे इन्हें इन शब्दों का इस्तेमाल करके भगा देने के अभ्यस्त हो गये हैं—रूखे लहज़े में यह कह देते हैं : ये चीज़ें मेरे काम की नहीं है और यहीं मामला ख़त्म हो जाता है। लेकिन ईश्वर को अपने समर्थकों के हाथों क्या-कुछ नहीं भोगना पड़ा है। ईश्वर के साथ उसके समर्थक वही सलूक करते हैं फ्रेडरिक विलियम तृतीय के साथ याना अभियान में उसके जनरलों व अधिकारियों ने किया था। विज्ञान के प्रयाण (प्रगति) के सामने एक-एक करके सेना के सभी डिवीज़न हथियार डाल देते हैं, एक-एक करके सभी गढ़ आत्मसमर्पण कर देते हैं, जब तक कि अंततः प्रकृति के संपूर्ण असीम साम्राज्य पर विजय नहीं पा लेता तथा उसमें स्रष्टा के लिए कोई जगह नहीं बचती। न्यूटन ने भी उसे 'प्रथम संवेग' की तो अनुमति दी पर अपने (न्यूटन के) सौरमंडल में आगे किसी भी तरह का हस्तक्षेप करने की मनाही कर दी। पादरी सेक्की उसे सौरमंडल से पूरी तरह विदा कर देते हैं, चाहे पूरे धर्म-वैधानिक सम्मान के साथ, पर फिर भी एकदम बेलाग तरीक़े से; वह ईश्वर को मात्र आदि-निहारिका के सम्बन्ध में सृजनात्मक कर्म की स्वीकृति देते हैं। ऐसा ही अन्य सब क्षेत्रों में हुआ। जीव-विज्ञान में **उसका** आख़िरी **डॉन क्विक्ज़ोट** (समर्थक के अर्थ में), अगासिज़ तो **उस पर** शुद्ध बकवास तक थोप देता है कि **उसने** न केवल वास्तविक जीवों की ही सृष्टि की बल्कि अमूर्त जीवों की भी सृष्टि की है, यह एकदम बकवास है और अंत में टिंडाल प्रकृति में **उसके** प्रवेश को एकदम वर्जित करके, **उसे** भावात्मक प्रक्रियाओं की दुनिया में पीछे ढकेल

---

1. लाप्लास से नेपोलियन ने जब यह पूछा था कि उन्होंने अपनी कृति **ख़गोलीय यांत्रिकी** में ईश्वर का उल्लेख तक क्यों नहीं किया ? तो लाप्लास ने यह उत्तर दिया।

देता है और वहाँ भी शायद इसीलिए उसे प्रवेश दे देता है कि कहीं कोई तो हो जो इन चीज़ों (प्रकृति) के बारे में जॉन टिंडाल से अधिक जानता हो।[1] पुराने ईश्वर स्वर्ग एवं पृथ्वी के स्रष्टा, सभी चीज़ों के नियंता, जिसके बिना पत्ता तक नहीं मिलता, से कितनी दूरी है यह।

टिंडाल की भावनात्मक आवश्यकता कुछ भी सिद्ध नहीं करती। सूरमा ग्रियू की भी तो भावनात्मक आवश्यकता थी मानन लेस्को (जिसने उसके लिए स्वयं को बार-बार बेचा था) को पाने व प्यार करने की तथा जो उसकी ख़ातिर पत्ताचोर तथा भड़ुआ तक बन गया था, यदि टिंडाल उसे बुरा-भला कहना चाहेगा, तो वह भी तो अपनी भावनात्मक आवश्यता बताकर ही उसका मुँह बंद कर देगा !

ईश्वर=अज्ञान, किंतु अज्ञान के नाम अपील करना ही तो सबसे बड़ा तर्क है। (स्पिनोज़ा)[2]

✤ ✤

---

1. एंगेल्स यहाँ टिंडाल के उस भाषण का हवाला दे रहे हैं जो उसने 19 अगस्त, 1874 को बेलफ़ास्ट में आयोजित विज्ञान की प्रगति के लिए ब्रिटिश संघ की बैठक में दिया था। (20 अगस्त, 1874 के नेचर में प्रकाशित)।
2. स्पिनोज़ा अपने नीतिशास्त्र के प्रथम भाग के परिशिष्ट में प्रकृति के बारे में पुरोहिती-धर्मशास्त्रीय दृष्टिकोण के प्रतिनिधियों द्वारा प्रयुक्त तर्क को अज्ञान की अपील करना मात्र बताते हैं।

ब्रूनो बावेर तथा आरम्भिक ईसाई धर्म

बर्लिन में 13 अप्रैल को एक ऐसे व्यक्ति का निधन हो गया, जिसने कभी दार्शनिक तथा धर्मशास्त्री की भूमिका अदा की थी किंतु कई वर्ष से जिसके बारे में कोई चर्चा नहीं सुनी गयी, जो समय-समय पर 'साहित्यिक झक्की' के रूप में जनता का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करता रहा। अधिकृत धर्मशास्त्रियों— जिनमें रेनां भी सम्मिलित हैं, ने उसे ख़ारिज कर दिया और इसलिए उसके सम्बन्ध में मौत की-सी चुप्पी बनाये रखी और फिर भी वह उन सबकी तुलना में अधिक लायक़ था तथा उसने उन सबकी तुलना में अधिक काम किया था कम-से-कम एक विषय में जिसमें हम समाजवादियों की भी गहरी रुचि है : ईसाई धर्म के ऐतिहासिक उद्भव के विषय में।

उनकी मृत्यु के अवसर पर हम इस प्रश्न पर मौजूदा स्थिति तथा उसके समाधान में बावेर के योगदान का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करना चाहेंगे।

मध्ययुग के मुक्त चिंतकों से लेकर 18वीं शताब्दी के प्रबोधकों तक (यानी इनके समेत) प्रचलित यह धारणा कि समस्त धर्म और इसलिए ईसाई धर्म भी धोखेबाज़ों (छलियाओं) द्वारा रचे गये थे, अब समुचित नहीं रह गयी थी क्योंकि हेगेल ने दर्शनशास्त्र का कार्यभार विश्व इतिहास में बुद्धिसंगत विकास को दर्शाना निर्धारित कर दिया था।

यह स्पष्ट है कि यदि स्वतःस्फूर्त ढंग से उद्भूत होने वाले धर्म—जैसे नीग्रो जाति की जड़-पूजा तथा आर्यों का साझा आदिम धर्म—छल की किसी भूमिका के बग़ैर अस्तित्व में आ जाते हैं, तो उनके आगे विकास में पुरोहितों का छल जल्दी ही अवश्यंभावी हो जाता है। किंतु समस्त ईमानदार मतांधता (कट्टरता) के बावजूद, कृत्रिम धर्म अपनी नींव में भी छल तथा इतिहास की जालसाज़ी के बिना काम नहीं चला सकते। ईसाई धर्म भी इस लिहाज़ से आरंभ से ही ख़ासी उपलब्धियों पर गर्व कर सकता है, जैसा कि बावेर ने न्यू टेस्टामेंट की अपनी आलोचना में दिखाया है। किंतु उससे तो सामान्य घटना क्रिया की ही पुष्टि होती है तथा विचाराधीन ख़ास प्रश्न की व्याख्या नहीं होती।

जिस धर्म ने रोमन विश्व साम्राज्य को अपने अधीन कर लिया और सभ्य मानव जाति के कहीं अधिक बड़े भाग पर 1800 वर्षों तक आधिपत्य जमाये रखा, उसे जालबाज़ों तथा धूर्तों द्वारा संकलित घोषित करने मात्र से समाप्त नहीं किया जा सकता। जब तक उन ऐतिहासिक परिस्थितियों—जिनमें उसका उदय हुआ तथा वह अपनी आधिपत्यशाली स्थिति तक पहुँचा— से उसके उद्‌भव एवं विकास की व्याख्या नहीं कर दी जाती, तब तक उसे समाप्त नहीं किया जा सकता। यह ईसाई धर्म पर लागू होता है। इसलिए जिस प्रश्न का समाधान किया जाना है वह यह है कि ऐसा कैसे हुआ कि रोमन साम्राज्य की आम जनता इस बकवास को—जो दासों तथा दमितों ने इस तरह प्रचारित की कि सौदा पट गया—अन्य सभी धर्मों की तुलना में अभी तक इतना पसंद क्यों करती रही कि अंततः उस महत्त्वाकांक्षी कांस्तेंतिन को बकवास के इस धर्म को अंगीकृत करने में स्वयं को रोमन जगत् के निरंकुश शासक के पद पर आसीन करने का सर्वश्रेष्ठ साधन दिखाई दे गया।

ब्रूनो बावेर ने इस प्रश्न के समाधान में अन्य किसी व्यक्ति की तुलना में कहीं अधिक योगदान किया है। प्रतिक्रिया के काल के अधूरी आस्था वाले धर्मशास्त्रियों ने 1849 से लेकर उसके ख़िलाफ़ चाहे जितना भी संघर्ष क्यों न किया हो, उसने ईसाई धर्म-सिद्धांतों के कालक्रम तथा उनकी परस्पर अंतर्निर्भरता को उक्त सिद्धांतों की अंतर्वस्तु के आधार पर ही अकाट्य रूप से प्रमाणित कर दिया, जिसे विल्के ने विशुद्ध भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से दर्शाया था। उसने स्ट्रास के अस्पष्ट मिथक सिद्धांत— जिसके अनुसार धर्मसिद्धांत वर्णनों में से कोई जिस चीज़ को भी चाहे और जितना चाहे ऐतिहासिक रूप में सिद्ध कर सकता है— में वैज्ञानिक दृष्टि के घोर अभाव को उजागर किया। यदि धर्म सिद्धांतों की संपूर्ण अंतर्वस्तु में ऐसा कुछ भी न मिले जिसे ऐतिहासिक दृष्टि से साध्य (सिद्ध किये जाने योग्य) माना जा सके— ताकि यदि ईसा मसीह के ऐतिहासिक अस्तित्व तक के आगे प्रश्नवाचक चिह्न लगाया जा सके—बावेर ने इस तरह इस प्रश्न के समाधान के लिए ज़मीन तैयार करने का ही काम किया है : उन विचारों तथा धारणाओं का स्रोत क्या है जो ईसाई धर्म के भीतर एक प्रकार की प्रणाली के रूप में एक-दूसरे से गुँथ गये हैं और उन्होंने दुनिया पर आधिपत्य कैसे क़ायम कर लिया?

बावेर अपनी मृत्यु के दिन तक इस प्रश्न पर विचार तथा इसके सम्बन्ध में अध्ययन करते रहे। उनका शोध इस निष्कर्ष के रूप में अपने चरम बिंदु पर पहुँचा कि अलेक्ज़ेंद्रिया या यहूदी **फ़िलो** जो 40 ई. तक जीवित था— पर काफ़ी बूढ़ा हो गया था— ईसाई धर्म का वास्तविक जनक था। रोम स्टोइक (सुख-दुख उपेक्षी) दार्शनिक तो, कहना चाहिए कि ईसाई धर्म का चाचा था। हम तक पहुँची विभिन्न रचनाओं, जिनका लेखक फ़िलो को माना जाता है, का उदय वस्तुतः अन्योक्तिपरक तथा बुद्धिसंगत रूप में संकल्पित यहूदी परंपराओं

तथा यूनानी, ख़ासकर स्टोइक दर्शन के संयोजन-समेकन में से होता है। पश्चिमी एवं पूर्वी दृष्टियों के इस मेल में समस्त मूलभूत ईसाई धारणाएँ समाहित हैं; मनुष्य की जन्मजात पाषमयता शब्द — जिसका स्रोत ईश्वर है तथा जो ईश्वर है (शब्द ब्रह्म) तथा जो ईश्वर व मनुष्य के बीच मध्यस्थता का कार्य करता है; प्रायश्चित्त (पापमुक्ति) पशुओं की बलि चढ़ाकर नहीं बल्कि ईश्वर में मन रमाकर तथा अंत में वह मूलभूत विशेषता कि यह नया धर्म पूर्ववर्ती विश्व-क्रम को उलट ग़रीबों, पीड़ितों, दासों तथा तिरस्कृतों के बीच अपने अनुयायियों की तलाश करता है तथा अमीरों, ताक़तवरों तथा विशेषाधिकार भोगियों को हिक़ारत की नज़र से देखता है— इसी में से लौकिक सुखों का परित्याग व देह-पीड़न का नियम (उपदेश) उभरता है।

दूसरी ओर, आगस्टन ने इसे कार्यरूप में परिणत करने की ज़िम्मेदारी स्वयं निभाकर यह सुनिश्चित कर दिया कि न केवल धर्मगुरु बल्कि तथाकथित दोषरहित अवधारणा राज्य द्वारा आरोपित सूत्र बन जायें। उसने न केवल स्वयं को व सीज़र को देवताओं के रूप में पुजवाया था, बल्कि इस धारणा को प्रचारित-प्रसारित भी करवाया कि वह 'आगस्टस सीज़र दिवस' किसी मानव-पिता की संतान नहीं था बल्कि उसकी माँ ने उसे देवता एपोलो के साथ संसर्ग के परिणामस्वरूप गर्भ में धारण किया था। पर क्या वह एपोलो उसका सम्बन्धी नहीं जिसका गुणगान हाइनरिख़ हाइन ने किया था?

जैसा स्पष्ट है— हमें ज़रूरत केवल संधान-प्रस्तर (डाट) की पहचान करने की है और संपूर्ण ईसाई धर्म अपनी बुनियादी विशिष्टताओं समेत उभरकर स्वतः ही आ जायेगा : एक निश्चित व्यक्ति में शब्द का मनुष्य रूप में अवतार तथा पापी मानव जाति की मुक्ति के लिए सूली पर उसका बलिदान।

वास्तविक विश्वसनीय स्रोत हमें इस सम्बन्ध में अनिश्चय से उबार नहीं पाते कि दरअसल, यह आधार प्रस्तर स्टोइक-फ़िलोवादी सिद्धांतों में प्रविष्टि कैसे हो गया। किंतु इतना तो निश्चित है कि इसे दार्शनिक—चाहे स्टोइक हों अथवा फ़िलो के अनुयायी हों— ने प्रविष्ट नहीं कराया था। धर्मों की स्थापना उन लोगों द्वारा की जाती है जो स्वयं धर्म की आवश्यकता का अनुभव करते हैं तथा जिन्हें जनगण की धार्मिक आवश्यकताओं का अहसास होता हैं आम तौर पर धार्मिक संप्रदायों के साथ ऐसा नहीं होता। दूसरी ओर हम पाते हैं कि आम पतन के काल में—उदाहरण के लिए अब—दार्शनिक एवं धार्मिक कट्टरता एवं मतांधता विकृत तथा उथले रूप में प्रचलित हो जाती है। जहाँ क्लासिकीय यूनानी दर्शन ने अपने अंतिम रूपों में—ख़ासकर एपीक्यूरस संप्रदाय में अधर्मी— (नास्तिक) भौतिकवाद को जन्म दिया; यूनानी कुत्सित दर्शन ने एकेश्वरवाद तथा मानव आत्मा की शाश्वतता के सिद्धांत को जन्म दिया। इसी प्रकार विजातियों तथा अर्द्ध-यहूदियों के साथ संपर्क व मेल-मिलावट की प्रक्रिया

में बुद्धिसंगत रूप में विकृतीकृत यहूदी धर्म ने भी कर्मकांड की अवहेलना की तथा कभी अनन्य रहे यहूदी जातीय देवता जेवोहा को एकमात्र वास्तविक परमेश्वर में — लोक-परलोक के स्रष्टा के रूप में रूपांतरित कर दिया तथा आत्मा की शाश्वतता सम्बन्धी धारणा को स्वीकृति प्रदान की जो कि वस्तुतः आरंभिक यहूदी धर्म के लिए विजातीय थी। इस प्रकार एकेश्वरवादी विकृत दर्शन का विकृत धर्म के साथ संपर्क क़ायम हुआ, जिसने उसे तैयारशुदा एकमात्र परमेश्वर उपहार में दे दिया और इस प्रकार वह ज़मीन तैयार हो गयी। यहूदियों के बीच वैसी ही विकृतीकृत फ़िलोवादी धारणाओं का— जिस पर आधारित विवेचन ईसाई धर्म को जन्म दे सकता था— जो कि जन्म के साथ ही यूनानियों व रोमनों के लिए स्वीकार्य होता। यह तथ्य कि ईसाई धर्म का जन्म लोक-प्रचारित फ़िलोवादी धारणाओं से हुआ था न कि फ़िलो की कृतियों से, तो इस बात से भी सिद्ध हो जाता है कि न्यू टैस्टामेंट में इन कृतियों—ख़ासकर, ओल्ड टैस्टामेंट के वर्णनों की अन्योक्तिपरक तथा दार्शनिक व्याख्याओं —की लगभग पूरी तौर पर उपेक्षा की गयी है। इस पक्ष की ओर बावेर ने समुचित ध्यान नहीं दिया।

तथाकथित जॉन के प्रकाशना ग्रंथ को पढ़कर भी यह अन्दाज़ लगाया जा सकता है कि अपने आरम्भिक रूप में ईसाई धर्म कैसा दिखता था। बेलग़ाम, दिग्भ्रमित कट्टरता (मतांधता), जड़सूत्रों की आरम्भिक स्थिति, तथाकथित ईसाई नैतिकता के अनुरूप देह-दमन तथा दूसरी ओर अनेकानेक दिव्य स्वप्न तथा भविष्य वाणियाँ। जड़सूत्रों तथा नैतिक सिद्धांत का विकास बाद के काल की बात है, जब धर्म सिद्धांतों तथा संतों के तथाकथिक काव्यपत्रों की रचना हुई। उसमें, ख़ासकर नैतिकता के संदर्भ में, स्टोइक दर्शन—ख़ासकर सेनेका के दर्शन का—का अनौपचारिक (अभद्र भी) रूप से उपयोग किया गया। बावेर ने यह सिद्ध कर दिया कि ये काव्यपत्र सेनेका शब्दशः नक़ल हैं। दरअसल, इस पर आस्थावानों तक की नज़र पड़ गयी, पर वे इस बात पर अड़ गये कि सेनेका ने उन्हें न्यू टैस्टामेंट से उड़ा लिया था, हालाँकि सेनेका के काल तक न्यू टैस्टामेंट लिखा ही नहीं गया था। जड़सूत्रों का विकास एक ओर तो ईसा की अनुश्रुति (जो उन दिनों आकार ग्रहण करने लगी थी) के सम्बन्ध में हुआ था। दूसरी— यहूदी तथा ग़ैर-यहूदी पृष्ठभूमियों के ईसाइयों के बीच संघर्ष के दौर में हुआ।

बावेर ने उन कारणों के बारे में भी बहुमूल्य तथ्य प्रस्तुत किये हैं जिन्होंने ईसाई धर्म की विजय में तथा विश्व-आधिपत्य की अवस्था तक पहुँचने में उसकी सहायता की है। किन्तु यहाँ जर्मन दार्शनिक का भाववाद उसे साफ़ ढंग से चीज़ों को देखने तथा सटीक व त्रुटिहीन सूत्र प्रस्तुत करने से रोक लेता है। सार कर स्थान अक्सर जुमले ले लेते हैं। इसलिए बावेर की धारणाओं के ब्योरे में न जाकर, हम इस मुद्दे पर बावेर की कृतियों तथा अपने स्वयं के अध्ययन पर भी आधारित अपनी अवधारणा प्रस्तुत करना चाहेंगे।

रोमन विजय ने सभी अधीन देशों में पहले तो प्रत्यक्ष रूप से पूर्ववर्ती राजनीतिक परिस्थितियों को तथा बाद में जीवन की पुरानी सामाजिक परिस्थितियों को भी ध्वस्त कर दिया। एक तो श्रेणियों के अनुरूप (दासों को छोड़कर) पूर्ववर्ती संगठन के स्थान पर रोम नागरिकों तथा दासों के बीच सरल भेद पर आधारित संगठन खड़ा करके। दूसरे तथा मुख्यतः— रोमन राज्य के नाम पर कर लगाकर। यदि साम्राज्य के अंतर्गत साम्राज्य के हित में शासकों की धन-पिपासा पर अंकुश लगा दिया गया (सीमा निर्धारित करके) तो उस पिपासा का स्थान, राज्य-कोश के फ़ायदे को ध्यान में रखकर अधिकाधिक कारगर तथा दमनकारी कर प्रणाली द्वारा ले लिया गया। जिसका परिणाम भयानक रूप से विनाशकारी रहा। तीसरे— रोमन न्यायाधीशों द्वारा सर्वत्र रोमन क़ानून लागू कर दिया गया तथा जातीय समाज— व्यवस्था को इसलिए अवैध करार दे दिया गया कि वह रोमन क़ानून के प्रावधानों से मेल नहीं खाती। इन तीन उत्तोलकों ने अनिवार्य रूप से ज़बर्दस्त समतावादी शक्ति विकसित की, ख़ासकर तब जबकि कई सौ वर्षों तक उन्हें आबादियों—जिनके सर्वाधिक ऊर्जावान हिस्से को विजय के पूर्ववर्ती, सहवर्ती अथवा उत्तरवर्ती युद्धों में या तो दमित किया गया था या ग़ुलाम बना लिया गया था — पर लागू किया गया। प्रांतों में भी वैसे ही सामाजिक सम्बन्ध उभरने लगे जैसे कि राजधानी में तथा इटली में विद्यमान थे। अत्यन्त विविध तत्त्वों एवं जातियों से निकलकर आबादी एकबद्ध होकर तीन वर्गों में अधिकाधिक तीक्ष्ण रूप से विभाजित हो गयी : धनी वर्ग —जिसमें कुछ विमुक्त दास (संदर्भ— पेट्रोनियस), बड़े भू-स्वामी तथा सूदख़ोर अथवा दोनों का मिश्रण (जैसे कि ईसाई धर्म का चाचा सेनेका) समाहित था; संपत्तिविहीन स्वतंत्र लोग— रोम में जिनका भरण-पोषण राज्य का दायित्व था तथा प्रांतों में जो-जो अपने बूते पर जैसे-जैसे जीवन-यापन करते थे और अंतिम वर्ग था— बहुसंख्यक दासों का। राज्य—यानी सम्राट—के बरक्स पहले के दो वर्गों को उतने ही अधिकार प्राप्त थे, जितने स्वामियों के बरक्स दासों को प्राप्त थे। टिबेरियस के ज़माने से नीरो के ज़माने तक यह प्रथा चलती रही कि धनी नागरिकों को मृत्यु दंड दे दिया जाता था ताकि उनकी संपत्ति को ज़ब्त किया जा सके। सरकार को मुख्य सहारा— भौतिक बल सेना से प्राप्त था जो पुरानी रोमन किसान सेना जैसी न होकर किराये के विदेशी सैनिकों की सेना अधिक लगती थी और नैतिक सहारा यह आम धारणा थी कि उस परिस्थिति से बाहर निकलने का कोई रास्ता था ही नहीं कि सैन्य प्रभुत्व पर आधारित साम्राज्य (दरअसल यह अथवा वह सीज़र नहीं, बल्कि साम्राज्य) एक ऐसी अनिवार्यता था जिसे टाला नहीं जा सकता था। यह धारणा किन भौतिक तथ्यों पर आधारित थी, इसकी पड़ताल यहाँ कर पाना संभव नहीं है।

आम अधिकार विहीनता तथा एक बेहतर स्थिति की संभावना न दिखने से उत्पन्न

हताशा ने तदनुरूप आम शिथिलता तथा उत्साह-भंडा (नैतिक पतन) को जन्म दिया। कुलीन क़िस्म अथवा विचारों वाले कुछ बचे-खुचे पुराने रोमन या तो अलग-थलग पड़ गये या मर गये; टैसीटस उनका आख़िरी प्रतिनिधि था। शेष अन्य लोग सार्वजनिक जीवन से दूर रहकर प्रसन्न थे; उनके जीवन का परम ध्येय अधिकाधिक धन एकत्र करना व उसका उपभोग करना तथा निजी गपबाज़ी व निजी छल बन गया था। संपत्तिविहीन स्वतंत्र नागरिकों को रोम में राज्य द्वारा पेंशन दी जाती थी, पर प्रांतों में उनकी हालत अच्छी नहीं थी। उन्हें मज़दूरी करनी पड़ती थी तथा दास-मज़दूरों की बराबरी करनी पड़ती थी। किन्तु वे नगरों तक ही सीमित थे। प्रांतों में उनके अलावा किसान, स्वतंत्र भू-स्वामी (इक्का-दुक्का मामलों में साझा स्वामित्व भी) भी थे तथा जैसे कि गॉल में भू-स्वामियों के ऋणी-बँधुआ दास भी थे। यह वर्ग सामाजिक उथल-उथल से सबसे कम प्रभावित था; साथ ही यही यह वर्ग भी था जिसने सबसे लम्बे समय तक धार्मिक उथल-पुथल का प्रतिरोध भी किया।[1] अन्त में दास आते थे, जो अधिकारों तथा अपनी इच्छा-शक्ति तक से वंचित थे तथा जिनके स्वतंत्र हो पाने की संभावना तक धूमिल हो गयी थी; जैसा कि स्पार्टकस की पराजय से पहले ही सिद्ध हो चुका था; हालाँकि उनमें से अधिकांश भूतपूर्व स्वतंत्र नागरिक अथवा स्वतंत्र जन्मे नागरिकों के वंशज थे। इसलिए उन लोगों के मध्य, उनकी जीवन-परिस्थितियों के प्रति घृणा-भाव व्यापक रूप से तीव्र रहा होगा, चाहे ऊपर से शक्तिहीन क्यों न दिखता रहा हो।

हमें यह पता चल जायेगा कि उस समय के सिद्धांतकार इन हालात से मेल खाते थे। दार्शनिक या तो मात्र धन कमाने वाले स्कूली शिक्षक थे या धनी अय्याशों के वेतनभोगी विदूषक थे। कुछ तो दास भी थे। अच्छे हालात में उनका क्या हश्र हुआ इसका उदाहरण सेनेका में प्राप्त किया जा सकता है। सदाचार तथा ब्रह्मचर्य का यह स्टोइक उपदेशक नीरो का प्रथम दरबारी षड्यंत्रकारी था जो कि वह बिना चापलूसी किये नहीं बन सकता था। उसने नीरो से धन, संपत्ति, बाग़ान तथा महल भेंट स्वरूप प्राप्त किये तथा ग़रीबों को धर्मकथा के लज़ारस का उपदेश देकर भी वह वस्तुतः उस कथा में चित्रित धनी आदमी का प्रतिरूप बन गया। जब नीरो उसकी असलियत पहचान कर उसे सज़ा देने के बारे में सोचने लगा तो उसने सम्राट से अपने समस्त उपहार वापस ले लेने का निवेदन किया, यह कहकर कि उसके लिए तो उसका दर्शन ही पर्याप्त था। पर्सियस जैसे पूरी तरह से असंपृक्त दार्शनिकों में ही इतना साहस था कि वे अपने पतित समकालीनों पर व्यंग्य की चाबुक चला सकें। लेकिन जहाँ तक दूसरी क़िस्म के सिद्धांतकारों यानी न्यायविदों का संबंध है वे हालात के प्रति काफ़ी उत्साहित थे

1. फ़ाल्मर्यर के अनुसार मैना, पेलोपोनेसस में किसान 9वीं शताब्दी तक भी यूनानी देवराज को बलि चढ़ाया करते थे।—(एंगेल्स की टिप्पणी)

क्योंकि श्रेणियों के बीच भेदों के मिट जाने से उन्हें अपने मन-पसंद निजी क़ानून को विवेचित करने के लिए विस्तृत क्षेत्र उपलब्ध हो गया तथा बदले में उन्होंने सम्राट के लिए निकृष्टतम राज्य-क़ानून प्रणाली तैयार करके प्रस्तुत की, ऐसी प्रणाली जो कभी भी अस्तित्व में नहीं रही थी।

रोमन साम्राज्य ने विभिन्न जातियों (जनगणों) की राजनीतिक एवं सामाजिक विशिष्टताओं के साथ-साथ उनके विशिष्ट धर्मों को भी नष्ट कर दिया। प्राचीन काल के समस्त धर्म स्वतः स्फूर्त कबीलाई धर्म थे, जो बाद में जातीय धर्म बन गये तथा जो अलग-अलग जातियों की सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों से ही पैदा हुए थे तथा उन्हीं में एकाकार हो गये। उनके आधारों के ध्वस्त होते ही तथा समाज के उनके पारंपरिक रूपों, विरासत में प्राप्त उनकी राजनीतिक संस्थाओं तथा उनकी जातीय स्वतंत्रता के नष्ट होते ही, उनके तदनुरूप धर्म भी स्वाभाविक रूप से ध्वस्त हो गये। प्राचीन काल के सामान्य नियम के अनुसार जातीय देवता अन्य जातियों के जातीय देवताओं को अपनी क़तार में तो बर्दाश्त कर सकते थे, पर अपने से ऊपर नहीं। पूरब के देवताओं का रोम में प्रत्यारोपण रोमन धर्म के लिए ही हानिकारक सिद्ध हुआ, वह पूरब के धर्मों के क्षय को तो नहीं ही रोक पाया। जैसे ही जातीय देवता अपनी जाति की स्वतंत्रता व संप्रभुता की रक्षा कर पाने में अक्षम हो गये, उनका भी अन्त हो गया। सब जगह (ख़ासकर पहाड़ों के किसानों को छोड़कर) यही हाल था। कुत्सित दार्शनिक प्रबोधन— मैं उसे वाल्तेयरवाद की संज्ञा देते-देते रह गया— ने जो कुछ यूनान व रोम में किया था, वही रोमन दमन ने प्रान्तों में कर दिया; अपनी स्वतंत्रता पर गर्व करने वाले व्यक्तियों के स्थान पर हताश प्रजा व स्वार्थी फटे हालों को खड़ा करके।

सो यह थी उस समय भौतिक एवं नैतिक स्थिति। वर्तमान असह्य था तथा भविष्य संभवतया और भी अधिक धमकी-भरा ! कोई चारा नहीं था। मात्र हताशा अथवा अति सामान्य ऐंद्रिक सुख की शरण—और वह भी **उनके लिए** जो ऐसा कर पाने की स्थिति में थे, जाहिर है ऐसे लोग अल्पमत में ही थे। अन्यथा अवश्यंभावी के समक्ष समर्पण के सिवा कुछ नहीं।

किन्तु सभी वर्गों में ऐसे लोग भी बड़ी संख्या में थे जो भौतिक मुक्ति से हताश होकर, उसके स्थान पर आत्मिक मुक्ति की तलाश में लग गये— यह मुक्ति उनकी चेतना में ऐसी सांत्वना थी जो उन्हें घोर निराशा से बचा सकती थी। यह सांत्वना न तो स्टोइकों से और न ही एपीक्यूरीय संप्रदाय से प्राप्त हो सकती थी क्योंकि इन दर्शनों का अभीष्ट सामान्य चेतना थी ही नहीं तथा दूसरे इसलिए भी कि इन संप्रदायों के अनुयायियों का आचरण उनके सिद्धांत की साख को बिगाड़ता था। इस सांत्वना को खोये हुए दर्शन का नहीं, खोये हुए धर्म का स्थानापन्न

बनना था। इसे धार्मिक रूप धारण करना पड़ा जिसने न केवल तब बल्कि 17वीं शताब्दी तक जनता को अपनी पकड़ में रखा।

हमें यहाँ यह टिप्पणी करने की क़तई ज़रूरत नहीं है। जो लोग अपनी चेतना की सांत्वना के लिए, बाह्य जगत् से आंतरिक जगत् में पलायन करने के लिए बेचैन थे, उनमें से अधिकांश लोग अनिवार्य रूप से दासों के बीच से आये थे।

इस सर्वव्यापी आर्थिक, राजनीतिक, बौद्धिक एवं नैतिक पतनशीलता के बीच से ही ईसाई धर्म का आविर्भाव हुआ। वह समस्त पूर्ववर्ती धर्मों के दृढ़ निषेध (विरोध) के रूप में खड़ा हो गया।

समस्त पूर्ववर्ती धर्मों में कर्मकांड प्रमुख तत्त्व था। बलियों व शोभा यात्राओं में भाग लेकर ही, तथा पूरब में अत्यन्त ब्योरेवार आहार तथा स्वच्छता के नियमों का पालन करके ही कोई यह प्रदर्शित कर सकता था कि वह किस धर्म का अनुयायी है। जहाँ रोम तथा यूनान इस लिहाज़ से सहिष्णु थे, पूरब में धार्मिक निषेधों के प्रति जो धुन (उन्माद) थी, उसने उनके पतन में कोई कम योगदान नहीं किया। दो अलग-अलग धर्मों के लोग (मिस्री, पारसी, यहूदी तथा काल्डीन---बाबिल का प्रमुख प्रभावशाली धार्मिक समूह) न तो साथ-साथ खा-पी सकते थे, न कोई रोज़मर्रा का काम साथ-साथ कर सकते थे, यहाँ तक कि एक-दूसरे से बातचीत भी मुश्किल से ही कर पाते थे। मनुष्य से मनुष्य का यह पार्थक्य ही बहुत बड़ी सीमा तक पूरब के पतन का कारण बना। ईसाई धर्म लोगों को बाँटने वाले किसी भी अनुष्ठान को स्वीकृति नहीं देता था, यहाँ तक कि क्लासिकीय जगत् (पुराने ज़माने) की शोभा यात्राओं तथा बलियों तक को नहीं। इस प्रकार समस्त जातीय धर्मों तथा उनके अनुष्ठानों को ख़ारिज करके तथा बिना किसी भेदभाव के संपूर्ण जनगण से स्वयं को संबोधित करके वह **सर्वप्रथम संभावित विश्व धर्म** बन जाता है। यहूदी धर्म ने भी अपने नये सार्विक परमेश्वर के साथ विश्व धर्म बनने की ओर क़दम बढ़ाना शुरू कर दिया था, किन्तु इज़रायल की सन्तानें धर्मावलंबियों तथा परिच्छेदितों (ख़तना किये हुओं) के बीच सदा अभिजात वर्ग ही बनी रही तथा स्वयं ईसाई धर्म को यहूदी-ईसाइयों की श्रेष्ठता की धारणा (जो जॉन के तथाकथित प्रकाशना ग्रन्थ में भी अभी भी प्रभुत्वशाली बनी हुई है) से छुटकारा पाना पड़ा और तभी वह सही अर्थ में विश्व धर्म बन गया। दूसरी ओर खुद इस्लाम ने भी अपने विशिष्ट पूरबी अनुष्ठान को बनाये रखकर, अपने प्रचार-प्रसार का क्षेत्र पूरब तथा उत्तर अफ्रीका (जो कि बेदिनों द्वारा विजय प्राप्त किये जाने के परिणामस्वरूप नये सिरे से बस गया था) तक सीमित कर दिया। यहाँ यह प्रभुत्वशाली धर्म बन गया, पर पश्चिम में अपने पैर नहीं जमा पाया।

दूसरे, ईसाई धर्म ने जो तार झंकृत किया उसकी अनगिनत हृदयों में गूँज होना अवश्यंभावी

था। ज़माने की दुष्टता तथा आम भौतिक एवं नैतिक दुर्गति की समस्त शिकायतों का ईसाई पाप–चेतना के पास यही उत्तर था : यह ऐसा ही है और यह अन्यथा हो भी नहीं सकता; दोष तुम्हारा ही है; तुम सभी इस दुनिया के भ्रष्टाचार (विकृति, दुराचार), अपनी आंतरिक विकृति के लिए ज़िम्मेदार हो। ऐसा व्यक्ति था ही कहाँ जो इससे इन्कार कर सकता हो। **मेरा दोष !** आम दुख–कष्ट की स्थिति के लिए ज़िम्मेदारी में हरेक व्यक्ति की भागीदारी की स्वीकारोक्ति अकाट्य थी तथा जो ईसाई धर्म द्वारा घोषित आत्मिक मुक्ति की पूर्व–शर्त बन गयी। इस आत्मिक मुक्ति को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया कि उसे प्रत्येक पुराने धार्मिक समुदाय के सदस्य आसानी से समझ सकते थे। रुष्ट देवता को मनाने के उद्देश्य से प्रायश्चित्त की अवधारणा सभी पुराने धर्मों में प्रचलित थी; वहाँ समूची मानव जाति के पापों के प्रायश्चित्त के लिए मध्यस्थ द्वारा आत्म–बलि की धारणा क्यों पनप पायी? ईसाई धर्म ने इसलिए इस सार्विक भावना को स्पष्ट रूप से अभिव्यक्ति दी कि मनुष्य स्वयं प्रत्येक की पाप–चेतना के रूप में चेतना की आम विकृति के लिए दोषी है; साथ ही उसने अपने संस्थापक की मृत्यु बलि के माध्यम से विकृत जगत् से आंतरिक मुक्ति, चेतना की सांत्वना का वह रूप भी प्रस्तुत किया जिसकी सार्वत्रिक आकांक्षा अनुभव होती रही थी और इस तरह से उसने एक बार फिर विश्व धर्म— तत्कालीन विश्व की आवश्यकताओं के अनुरूप— बनने की अपनी सामर्थ्य प्रमाणित कर दी।

तो इस तरह यह हुआ कि अनगिनत धार्मिक जीर्णोद्धारों के उस काल में रेगिस्तान में सक्रिय हज़ारों पैगंबरों तथा उपदेशकों के बीच से मात्र ईसाई धर्म को ही सफलता प्राप्त हुई। न केवल फ़िलिस्तीन बल्कि समूचा पूरब धर्मों के संस्थापकों से लदा–फँदा था तथा उनके बीच वह संघर्ष छिड़ा जिसे विचारधारात्मक अस्तित्व के लिए डार्विनवादी संघर्ष की संज्ञा दी जा सकती है। इस बात का श्रेय प्रमुख रूप से ऊपर वर्णित तत्त्वों को ही जाता है कि ईसाई धर्म की विजय हुई। उसने प्राकृतिक वरण के माध्यम से एक–दूसरे के ख़िलाफ़ संप्रदायों के तथा सर्वेश्वरवादी जगत् के खिलाफ़ संघर्षों के दौरान अपना चरित्र व स्वरूप कैसे निर्मित–विकसित किया, इसकी विस्तृत शिक्षा पहली तीन शताब्दियों के चर्च के इतिहास से मिलती है।

✤ ✤

प्रकाशना ग्रंथ

बाइबिल की ऐतिहासिक एवं भाषा वैज्ञानिक आलोचना, ओल्ड तथा न्यू टैस्टामेंट समेत विभिन्न रचनाओं के काल, उद्‌भव तथा ऐतिहासिक मूल्य की पड़ताल एक ऐसा विज्ञान है जो कुछेक उदारचेता धर्मशास्त्रियों— जो उसे यथासम्भव गुप्त बनाये रखने की तरक़ीब सोचते हैं— को छोड़कर इस देश में लगभग अपरिचित है।

यह विज्ञान लगभग अनन्य रूप से जर्मन है और यही नहीं, इसका थोड़ा-बहुत भाग जर्मनी की सीमाओं के परे चला गया है, वह निस्सन्देह उसका सर्वश्रेष्ठ भाग नहीं है; यह वह सिद्धांत-निरपेक्ष (उदारपंथी) आलोचना है जो पूर्वाग्रह-मुक्त तथा सांगोपांग तथा साथ ही, ईसाई होने के नाते स्वयं पर गर्व करती है। ये ग्रंथ सही मायने में पवित्र आत्मा के माध्यम से धर्मविज्ञान द्वारा किये गये रहस्योद्‌घाटन हैं। इस प्रकार, तुबिंगेन सम्प्रदाय[1] (बावेर, जिफ्रोयेर आदि) हालैंड व स्विट्‌जरलैंड में तथा इंग्लैंड में भी ख़ासा लोकप्रिय है तथा यदि लोग थोड़ा और आगे बढ़ते हैं तो वे स्ट्रॉस के अनुयायी बन जाते हैं। वही सौम्य किन्तु घोर अनैतिहासिक प्रवृत्ति सुविख्यात अर्न्स्ट रेनां जो कि जर्मन आलोचकों का अकुशल भावहारी (साहित्यिक चोर) मात्र है, में भी प्रबल दिखाई देती है। उसकी समस्त कृतियों में व्याप्त चिन्तन के सौन्दर्य-शास्त्रीय भावुकतावाद के सिवा तथा उसे छिपाने वाली दूध-पानी भाषा के सिवा उसका अपना तथा मौलिक कुछ भी नहीं है।

---

1. **तुबिंगेन सम्प्रदाय**—19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में बावेर द्वारा स्थापित बाइबिल सम्बन्धी शोध-समालोचना का सम्प्रदाय। उसके अनुयायियों द्वारा की गयी धर्म सिद्धांत की बुद्धि-संगत आलोचना की विशिष्टता वह असंगति है जिसके तहत बाइबिल की कुछेक प्रस्थापनाओं को ऐतिहासिक दृष्टि से विश्वसनीय बनाकर पेश किया गया। ऐसा न करना चाहते हुए भी इस सम्प्रदाय ने अपनी आलोचना के माध्यम से, विश्वसनीय ऐतिहासिक स्रोत के रूप में बाइबिल की सत्ता व प्रभुत्व को कम करने में बड़ा महत्वपूर्ण योगदान दिया।

फिर भी एक अच्छी बात को अर्न्स्ट रेनां ने कह ही डाली है: "जब आप स्पष्ट रूप से यह जानना चाहें कि सबसे पहले ईसाई सम्प्रदाय कैसे लगते थे, तो आप उनकी तुलना हमारे युग की यजमानी सभाओं से मत कीजिए बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय कामगर संघ की स्थानीय शाखाओं से कीजिये।"

और यह एकदम सही है। ईसाई धर्म ने विशाल जन-समूहों को ठीक उसी प्रकार प्रभावित किया जैसे आधुनिक समाजवाद करता है, सम्प्रदायों की विविधता की आकृति— और उससे भी अधिक परस्पर विरोधी वैयक्तिक धारणाओं (जिनमें से कुछ सुस्पष्ट तथा शेष गड़ड्मड्ड—और इन गड़ड्मड्ड धारणाओं की संख्या ही अधिक होती है) की विविधता की आकृति के तहत जन-समूहों को प्रभावित किया था क्योंकि ये समस्त धारणाएँ शासन-व्यवस्था तथा सत्ताधारियों की घोर विरोधी थीं।

उदाहरण के लिए इस प्रकाशन ग्रंथ को लें, जिसे हम घोर अन्धकारमय तथा अत्यन्त रहस्यमय होने के बजाय, सम्पूर्ण न्यू टैस्टामेंट के सरलतम एवं स्पष्टतम ग्रंथ के रूप में पाते हैं। फ़िलवक़्त हमें पाठकों से यह विश्वास करने का आग्रह करना चाहिए कि हम शनैः-शनैः सिद्ध कर देंगे कि यह ग्रंथ 68 ई. अथवा जनवरी 69 ई. में रचा गया और कि यह न्यू टैस्टामेंट का एकमात्र ग्रंथ ही नहीं (क्योंकि उसकी तिथि तो सुनिश्चित है) बल्कि सबसे पुराना ग्रंथ भी है। 68 ई. में ईसाई धर्म कैसा दिखता था, यहाँ हम उतना ही स्पष्ट तौर पर देख सकते हैं जैसे कि दर्पण में।

सर्वप्रथम तो विभिन्न सम्प्रदायों के बारे में। एशिया के सात चर्चों के नाम सन्देशों में कम-से-कम तीन सम्प्रदायों की चर्चा की गयी है, जिनके बारे में हमें अन्यथा कोई जानकारी नहीं है : निकोलायतन, बलानी तथा येज़ेबेल के नाम से वर्णित महिला के अनुयायी। इन तीनों ही सम्प्रदायों के बारे में यह कहा जाता है कि उन्होंने अपने अनुयायियों को मूर्तियों के समक्ष बलि चढ़ायी गयी वस्तुओं को खाने की अनुमति दे रखी थी और यह भी कि उन्हें व्यभिचार (कुमारियों के साथ संभोग का) का शौक था। यह विचित्र तथ्य है कि प्रत्येक महान क्रांतिकारी आन्दोलन के साथ 'मुक्त प्रेम (यौन)' का प्रश्न अग्रभूमि में आ जाता है। लोगों के एक समूह की दृष्टि में क्रांतिकारी प्रगति के रूप में, पुरानी पारम्परिक बेड़ियों को तोड़ने के रूप में, अनावश्यक; दूसरों की दृष्टि में एक स्वागत योग्य सिद्धांत, जो पुरुष एवं स्त्री के बीच तमाम तरह के मुक्त एवं सहज आचरण को सुविधापूर्वक आच्छादित-आवेष्टित कर लेता है। यह दूसरी श्रेणी— कूपमंडूकनुमा— जल्दी ही हावी होती प्रतीत होती है; क्योंकि 'व्यभिचार' सदा से 'मूर्तियों के समक्ष बलि चढ़ायी गयी चीज़ों' के खाने से (यहूदियों तथा ईसाइयों को ऐसा न करने की सख़्त हिदायतें दी जाती थीं) जुड़ा हुआ रहा है, किन्तु जिसे अस्वीकार करना

कभी-कभी ख़तरनाक, नहीं तो कम-से-कम अप्रिय तो हो ही सकता था. इससे यह एकदम साफ़ हो जाता है कि यहाँ वर्णित मुक्त प्रेमियों का आमतौर पर रुझान हरेक का मित्र होने की ओर होता था तथा यह जो भी हो वह कच्चा माल तो कदापि नहीं, जिससे शहीद निर्मित होते हैं।

प्रत्येक महान क्रांतिकारी आंदोलन की भाँति, ईसाई धर्म का निर्माण भी विशाल जन-समूहों ने किया था। इसका उदय फ़िलिस्तीन में (जिस तरह यह उदय हुआ उससे हम सर्वथा अपरिचित हैं) उस समय हुआ था जब नये सम्प्रदाय, नये धर्म, नये पैग़म्बर सैकड़ों के हिसाब से पैदा हो रहे थे। वस्तुतः यह तो मात्र औसत है जो कि इनमें से प्रगतिशील सम्प्रदायों के घर्षण से स्वतः स्फूर्त रूप से निर्मित होकर बाद में एलेक्ज़ेंड्रियायी यहूदी फ़िलो के प्रमेयों तथा तदनन्तर प्रबल स्टोइक घुसपैठ से मिलकर एक सिद्धांत का रूप धारण कर लेता है। दरअसल यदि हम फ़िलो को ईसाई धर्म का सैद्धांतिक जनक कह सकते हैं, तो सेनेका उसका चाचा था। न्यू टैस्टामेंट में अनुच्छेद के अनुच्छेद उसकी कृतियों से एकदम नक़ल किये गये दिखते हैं तथा दूसरी ओर, पर्सियस के व्यंग्यों में आपको **तब तक अलिखित** न्यू टैस्टमामेंट से लिये गये अनुच्छेद मिल जायेंगे। इस प्रकाशना ग्रंथ में इन सैद्धांतिक तत्वों का निशान (संकेत) तक नहीं मिलता। यहाँ हमें ईसाई धर्म का वह अनगढ़ (अपरिष्कृत-अशोधित) रूप दिखाई देता है जिसमें कि उसे हमारे युग के लिए सुरक्षित बनाये रखा गया है। वहाँ केवल एक प्रभुत्वशाली जड़सूत्र बिन्दु मिलता है कि निष्ठावानों की रक्षा ईसा मसीह की बलि ने ही की है। लेकिन क्यों और कैसे को पूरी तरह से अपरिभाषेय बना दिया गया है। वहाँ इस पुरानी यहूदी तथा मूर्ति-पूजक धारणा के सिवा कुछ नहीं मिलता कि परमात्मा अथवा देवताओं को बलि चढ़ाकर प्रसन्न किया जाना चाहिए; इसे एक विशिष्ट ईसाई धारणा में रूपांतरित कर दिया गया है (दरअसल, जिसने ही ईसाई धर्म को सार्विक धर्म बना दिया) यानी ईसा की मृत्यु वह महान बलि है, जो सदा-सर्वदा के लिए काफ़ी है।

मूल पाप के बारे में एक शब्द भी नहीं। त्रियेक परमेश्वर (त्रयी) का ज़िक्र तक नहीं। ईसा 'मेमना' तो है, पर परमेश्वर के अधीनस्थ है। दरअसल एक अनुच्छेद (15 :3) में उसे तथा मोज़ेज़ को एक ही धरातल पर (बराबरी का दर्ज़ा देकर) खड़ा कर दिया गया है। एक पवित्र आत्मा के बजाय वहाँ 'ईश्वर के सात प्रेत' हैं (3 :1 तथा 4 : 5)। मारे गये संत (शहीद) चिल्लाकर परमेश्वर से बदले की माँग करते हैं :

"कब तक, ओ पिता ! तू फ़ैसला नहीं करेगा और धरती पर रहने वालों के ख़िलाफ़ हमारे ख़ून का अदला नहीं लेगा?" (6:10) यह एक ऐसा भाव है जिसे बाद में ईसाई नैतिकता की सैद्धांतिक संहिता से सावधानीपूर्वक काटकर निकाल दिया गया, पर विधर्मियों के ऊपर

ईसाई धर्म का पलड़ा जैसे ही भारी हुआ, उक्त भाव का क्रियान्वयन बड़े जोशो-ख़रोश के साथ किया गया।

सच तो यह है कि ईसाई धर्म यहाँ स्वयं को यहूदी धर्म के एक सम्प्रदाय मात्र के रूप में प्रस्तुत करता है। सात चर्चों के नाम भेजे गये सन्देशों को देखें :

''मैं उन लोगों की ईश-निन्दा से परिचित हूँ जो स्वयं को यहूदी (ईसाई नहीं) बताते हैं और हैं नहीं, बल्कि शैतान के सभासद हैं'' (2 : 9); तथा फिर 3 : 9 :

''शैतान के सभाकक्ष के वे लोग जो कहते हैं वे यहूदी हैं, पर है नहीं।''

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे युग के 69वें वर्ष तक प्रकाशना ग्रंथ के रचयिता को यह हल्का-सा भी अन्दाज़ नहीं था कि वह धार्मिक विकास की एक नयी मंज़िल का प्रतिनिधित्व कर रहा था; जिसका क्रांति के प्रमुख तत्वों में एक होना निश्चित था। इसी तरह जब संत परमेश्वर के सिंहासन के सामने उपस्थित होते हैं, वहाँ शुरू में कम-से-कम 1 लाख 44 हज़ार यहूदी हैं 12 क़बीलों में से प्रत्येक के 12 हज़ार के हिसाब से तथा उनके बाद ही उन विधर्मियों को प्रवेश दिया जाता है जो यहूदी धर्म के नये चरण में हाल ही में सम्मिलित हुए हैं।

तो न्यू टैस्टामेंट के सबसे पुराने तथा एकमात्र ग्रंथ में (जिसके अधिकृत तथा विश्वसनीय होने पर सन्देह नहीं किया जा सकता) चित्रित ईसाई धर्म 68 ई. में ऐसा था। हम यह नहीं जानते कि इसका लेखक कौन था। वह अपने आपको जॉन कहता है। वह धर्म-प्रचारक (ईसा के पटु शिष्य) जॉन होने का आभास तक नहीं देता, क्योंकि 'नये येरूसलेम' की आधारशिला पर 'ईसा के बारह पटु शिष्यों' (21 : 14) के नाम दिये हुए हैं। इससे यही लगता है कि पुस्तक के लेखन-अवधि तक आते-आते वे मर चुके होंगे। वह (जॉन) यहूदी था, यह तो इसी से साफ़ है कि उसकी यूनानी इब्रानी से भरी पड़ी है तथा न्यू टैस्टामेंट के अन्य ग्रंथों की तुलना में कहीं अधिक ग़लत व्याकरण का नमूना है कि तथाकथित जॉन का धर्म सिद्धांत, जॉन के काव्यपत्र तथा यह ग्रंथ अलग-अलग लेखकों द्वारा लिखे गये हैं, तो एक ऐसा तथ्य है जो इनकी भाषा से ही सिद्ध हो जाता है, यदि इनमें समेकित परस्पर-विरोधी सिद्धांतों से यह सिद्ध न भी हुआ हो तो।

समूचे प्रकाशना ग्रंथ में जो भविष्य-सूचक स्वप्न-दर्शन भरे पड़े हैं, वे अधिकांशतः ओल्ड टैस्टामेंट के क्लासिकीय पैग़म्बरों तथा उनके अनुवर्ती नक़्क़ालों की कृतियों (जिनकी शुरुआत डेनियल के ग्रंथ से होती है तथा हमारे युग से 190 वर्ष पूर्व जिसमें भविष्यवाणियाँ की गयी थीं, जो कि शताब्दियों पूर्व घटित हो चुकी थीं और अन्त होता है 'हेनोख़ के ग्रंथ' से जो कि हमारे युग के आरम्भ के आस-पास यूनानी में लिखा गया भविष्य सूचक कपट जाल है) से ज्यों-की-ज्यों उठा व उड़ा ली गयी हैं। मूल अनुसंधान—यानी कि चुराये गये स्वप्न-

दर्शनों का वर्गीकरण तक— बेहद लचर है। प्रोफ़ेसर फ़र्डिनांड बेनरी ने—1841 में बर्लिन विश्वविद्यालय में दिये गये व्याख्यानों का मैं ऋणी हूँ, आगे के निष्कर्षों की दृष्टि से एक-एक पंक्ति के आधार पर यह सिद्ध कर दिया है कि लेखक ने अपना बनाकर प्रस्तुत किये गये स्वप्न दर्शनों में से हरेक को कहाँ-कहाँ से उड़ाया है। इसलिए जॉन की उछल-कूद पर ध्यान देने का कोई लाभ नहीं होगा। बेहतर तो यह होगा कि सीधे उस मुद्दे पर आ जायें जो इस विचित्र ग्रंथ के रहस्य को उद्घाटित कर सके।

अपने सभी कट्टर टीकाकारों के विपरीत, जो सब यह मानते हैं कि उसकी भविष्यवाणियाँ अभी भी पूरी होनी हैं, यानी 1800 वर्ष बाद भी 'जॉन' यह कहते नहीं थकता कि :

''समय क़रीब आ गया है, यह सब जल्दी ही होगा।''

और यह स्थिति ख़ासतौर से उस संकट के सन्दर्भ में है जिसकी वह भविष्यवाणी करता है तथा ज़ाहिर है कि उसे देखने की आशा भी करता है।

यह संकट है परमेश्वर तथा ईसा के शत्रु ख्रीस्त-विरोधी (जैसा कुछ लोगों ने उसका नामकरण किया है) के बीच महान निर्णायक युद्ध। निर्णायक अध्याय 13 व 17 हैं। अनावश्यक अलंकरण को छोड़ दें तो, 'जॉन' को समुद्र में से ऊपर आता हुआ एक दैत्य दिखाई देता है जिसके सात सिर तथा दस सींग हैं (सींगों में हमारी कोई दिलचस्पी नहीं है) और मैंने देखा कि उसका एक सिर जैसे प्राणांतक रूप से घायल हो गया और उसका प्राणांतक घाव भर गया।'' इस दैत्य की सत्ता, परमेश्वर तथा उसके शिशु (मेमने) के ख़िलाफ़ पृथ्वी पर बयालीस महीनों तक (पवित्र सात वर्षों का आधा भाग) चलनी थी और इस दौरान उस दैत्य का चिह्न तथा उसके नाम की संख्या प्रत्येक मनुष्य को अपने दायें हाथ पर अथवा अपने माथे पर गुदवानी थी।

''ज्ञान की यही है। जिसमें भी समझ है उसे इस दैत्य की संख्या की गणना कर लेनी चाहिए, क्योंकि यह एक मनुष्य की संख्या है और यह संख्या है 666 :''

इरेनियस दूसरी शताब्दी में भी यह जानता था कि जो सिर ज़ख्मी हुआ था व फिर ठीक हो गया था, उसका आशय सम्राट नीरो से था। वह ईसाइयों का पहला बड़ा उत्पीड़क था। उसकी मृत्यु पर एक अफ़वाह यह फैली— ख़ासकर अकिया (यूनान का एक भाग) तथा एशिया में— कि वह मरा नहीं था बल्कि ज़ख्मी ही हुआ था तथा यह भी कि एक दिन फिर प्रकट होगा तथा सारी दुनिया में आतंक मचा देगा (टैसीटस, VI, 22)। साथ ही इरेनियस को एक बहुत पुराने पाठ की भी जानकारी थी, जिसके अनुसार नाम की संख्या 616 थी, न कि 666।

17वें अध्याय में सात सितारों वाला दैत्य फिर प्रकट होता पर इस बार उस पर एक

सुपरिचित पापमयी स्त्री (वेश्या) सवार है, जिसका रोचक वर्णन पाठक को ग्रंथ में ही मिल जायेगा। यहाँ एक देवदूत जॉन को समझाता है:

"तू जो दैत्य देख रहा है वह है नहीं, था .... सात सिर सात पर्वत हैं जिन पर वह स्त्री बैठी है और वहाँ सात राजा हैं : **पाँच तो मर गये, एक है और एक अभी आने वाला है** और जब वह आयेगा तो वह भी थोड़े समय के लिए जीवित रहेगा। जो दैत्य था और नहीं है **वह भी आठवाँ है, सातों से जुड़ा हुआ ....** और तुम जो स्त्री देखते हो वह महान शहर है जो पृथ्वी के राजाओं पर राज करता है।"

तो यहाँ हमारे सामने दो स्पष्ट प्रस्थापनाएँ हैं : (1) पापमय स्त्री है रोम—वह महान शहर जो पृथ्वी के राजाओं पर राज करता है; (2) ग्रंथ में लिखे जाने के समय छठे रोमन सम्राट का राज जारी है, उसके कुछ समय बाद सातवें का राज कुछ समय तक चलेगा और फिर वापसी होगी उसकी जो 'सातों से जुड़ा है', जो ज़ख़्मी हो गया था पर ठीक हो गया था, तथा जिसका नाम रहस्यमय संख्या में समेकित हैं और जिसे इटेनियस नीरो के रूप में जानता था।

आगस्टस से गिनती शुरू करें तो आगस्टस, टिबेरियस, कैलिगुला, क्लॉडियस और पाँचवाँ नीरो। छठा— जो कि इस समय है—गाल्बा, जिसका सिंहासन पर बैठना ही सैनिक विद्रोह के लिए हरी झंडी थी, ख़ासकर गॉल में तथा उसके उत्तराधिकारी ओथो के नेतृत्व में। इस प्रकार यह (प्रकाशना) ग्रंथ 9 जून, 68 और 15 जनवरी, 69 के बीच रचा गया होना चाहिए। उसमें नीरो की वापसी की भविष्यवाणी सन्निकट बतायी गयी है।

और अब अंतिम प्रमाण—यानी संख्या—के बारे में। यह खोज भी फ़र्डिनेंड बेनरी ने की है तथा विज्ञान-जगत् में तब से आज तक इसका खंडन नहीं किया गया है।

हमारे युग से क़रीब तीन सौ वर्ष पूर्व यहूदियों ने अपने अक्षरों को संख्याओं के प्रतीकों के रूप में लिखना शुरू किया था। मननशील रेबिस ने इसमें रहस्यवादी व्याख्या अथवा **गुप्त विद्या** की नयी विधि देखी। गुप्त शब्द (उनके अक्षरों के संख्यात्मक मूल्य का जोड़) अंक द्वारा अभिव्यक्त होते थे। इस नये विज्ञान को उन्होंने ज्यामिति नाम दिया। और अब 'जॉन' ने यहाँ इस विज्ञान को लागू किया है। हमें यह सिद्ध करना है कि (1) संख्या में एक आदमी का नाम समेकित है और वह आदमी है नीरो तथा (2) प्रस्तुत हल 666 के पठन तथा उतने ही पुराने 616 के पठन के लिए वैध है। हम इब्रानी अक्षरों तथा उनके मूल्यों को लें—

]	(नून)	न=50	ק	(केफ़)	क=100
ר	(रेश)	र=200	□	(समेख़)	स=60
)	(वाउ)	ओ=6	ר	(रेश)	र=200
ר	(नून)	न=50			

नीरो केसर, सम्राट नीरो, यूनानी नीरो कैसर। अब यदि हम यूनानी हिज्जे के स्थान पर लैटिन नीरो सीज़र को इब्रानी अक्षरों में लिख दें, तो नाम के अंत में जो नून (न) वह ग़ायब हो जाता है और इसके साथ ही उसका मूल्य (जो 50 है) भी कम हो जाता है। इस तरह हम पुराने पठन 616 तक पहुँच जाते हैं; यह प्रमाण उतना ही त्रुटिहीन है जितना कि वांछित हो सकता है।[1]

तो यह रहस्यमय ग्रंथ अब एकदम स्पष्ट है। 'जॉन' सन् 70 के आसपास नीरो की वापसी की तथा बयालीस महीनों अथवा 1260 दिनों तक उसके शासन में आतंक का राज चलने की भविष्यवाणी करता है। उसके बाद परमेश्वर प्रकट होगा, नीरो (ख्रीस्त-विरोधी) को परास्त कर देगा, महान शहर को आग में नष्ट कर देगा और शैतान को एक हज़ार वर्ष के लिए बाँधकर पटक देगा। सहस्राब्दी की शुरुआत हो जायेगी आदि। यह सब अब अपनी सारी रोचकता खो चुका है, सिवा उन अज्ञानियों के लिए जो अभी भी आख़िरी फ़ैसले के दिन की गणना करना चाह सकते हैं। किन्तु लगभग आदिम ईसाई धर्म के, उन्हीं में से एक द्वारा खींचे गये प्रामाणिक चित्र में यह ग्रंथ शेष समूचे न्यू टैस्टामेंट से अधिक मूल्यवान है।

---

1. इस नाम की उपरोक्त हिज्जे—दूसरे नून समेत तथा उसके बिना तालमुद (यहूदी विधि संग्रह) में भी मिलती है, अतः प्रामाणिक है।

(एंगेल्स की टिप्पणी)

लुडविग फ़ायरबाख़ और क्लासिकीय जर्मन दर्शन का अंत

भूमिका —

1859 में बर्लिन में प्रकाशित पुस्तक 'रानीतिक अर्थशास्त्र की समीक्षा का एक प्रयास' की भूमिका में कार्ल मार्क्स ने बताया है कि किस प्रकार 1845 में, जब हम ब्रसेल्स में थे, हम दोनों ने ''जर्मन दर्शन के विचाराधारात्मक दृष्टिकोण के विरोध में अपना साझा दृष्टिकोण'' यानी प्रमुख रूप से मार्क्स द्वारा निरूपित इतिहास की भौतिकवादी अवधारणा ''निरूपित करने का— दरअसल अपने पूर्वकालिक दार्शनिक अंतःकरण के साथ हिसाब चुकता करने का निश्चय किया। हम लोगों ने अपना यह संकल्प हेगेलोत्तर दर्शन की समालोचना करके पूरा किया। पांडुलिपि, जो अठपेजी आकार की दो बड़ी-बड़ी पोथियों के रूप में थी, वेस्टफ़ेलिया में अपने प्रकाशन-स्थल पर बहुत पहले ही पहुँच चुकी थी, जब हम लोगों को यह समाचार मिला कि बदली हुई परिस्थितियों ने उसे छापा जाना असंभव बना दिया है, तो हमने और भी अधिक ख़ुशी से पांडुलिपि को चूहों की कुतरन-रूपी आलोचना के लिए इसलिए छोड़ दिया कि हमारा प्रमुख उद्देश्य—यानी स्व-स्पष्टीकरण—पूरा हो चुका था।''[1]

तब से चालीस से अधिक वर्ष बीत चुके हैं और मार्क्स की मृत्यु भी हो चुकी है, पर इस बीच न तो उन्हें और न मुझे ही इस विषय को उठा पाने का अवसर मिल पाया। हम लोगों ने हेगेल के प्रति अपने रुख़ (या कहें उनके साथ अपने संबंध) को हमने यहाँ-वहाँ कितनी ही बार व्यक्त किया है, पर इसका व्यापक तथा सुसंबद्ध लेखा प्रस्तुत नहीं किया जा सका। फ़ायरबाख़, जो कई अर्थों में हेगेलवादी दर्शन तथा हमारी अवधारणा के बीच की कड़ी हैं, की ओर हमने कभी लौटकर नहीं देखा।

1. संदर्भ, कार्ल मार्क्स एवं फ्रेडरिक एंगेल्स, जर्मन विचारधारा, पृ. 187

इस बीच मार्क्सवादी विश्व दृष्टि को जर्मनी तथा यूरोप की सीमाओं से परे दूर-दूर तक दुनिया की समस्त साहित्यिक भाषाओं में अनुयायी मिल गये हैं। दूसरी ओर, क्लासिकीय जर्मन दर्शन का विदेशों में, ख़ासकर इंग्लैंड तथा स्कैंडिनेविया (स्वीडन, नार्वे, डेनमार्क, आदि—अनु.) में एक तरह से पुनर्जन्म हो रहा है। स्वयं जर्मनी तक में लोग सार संग्रहवाद की बेस्वाद खिचड़ी से— जो दर्शन के नाम पर विश्वविद्यालयों में बाँटी जाती है— ऊबते-से दिखाई देते हैं।

इन परिस्थितियों में हेगेलवादी दर्शन के साथ अपने संबंध का—यानी किस प्रकार हम उसे प्रस्थान बिंदु मानकर आगे बढ़े और किस प्रकार हम उससे अलग हुए? एक संक्षिप्त, सुसंगत वर्णन प्रस्तुत करने की मुझे अधिकाधिक आवश्यकता अनुभव हुई। इसी तरह मुझे यह भी लगा कि किसी भी अन्य हेगेलोत्तर दार्शनिक की अपेक्षा फ़ायरबाख़ ने हमारे उथल-पुथल[1] के दिनों में हमें जिस प्रकार प्रभावित किया था—और जिसे मैं एक ऐसे नैतिक ऋण के रूप में देखता हूँ जिसका उतारा जाना अभी बाक़ी है—उसकी सार्वजनिक स्वीकृति भी आवश्यक है। इसलिए जब **नया जमाना**[2] के संपादकों ने मुझे फ़ायरबाख़ पर स्टार्के की पुस्तक[3] की समीक्षा करने को कहा तो मैं इस अवसर का उपयोग करने को सहर्ष तैयार हो गया। मेरा लेख उक्त पत्रिका के 1886 के अंक 4 व 5 में प्रकाशित हुआ था, जिसे यहाँ संशोधित रूप में स्वतंत्र पुस्तिका के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

इन पंक्तियों को प्रेस में भेजने से पहले मैंने 1845-1846[4] की पुरानी पांडुलिपि को ढूंढ-ढाँढ़ कर एक बार फिर पढ़ डाला है। परिपूर्ण भाग में इतिहास की भौतिकवादी विवेचना समाहित है, जिससे केवल यही सिद्ध होता है कि आर्थिक इतिहास का हमारा ज्ञान काफ़ी अधूरा था। उसमें स्वयं फ़ायरबाख़ के सिद्धांत तक की समीक्षा नहीं है, अतः वर्तमान उद्देश्य के

---

1. यह इशारा 18वीं शताब्दी के आठवें तथा नौवें दशकों में जर्मन बर्गरों के साहित्यिक और सामाजिक आंदोलन 'तूफ़ान और जद्दोजेहद' की ओर है। यह आंदोलन जर्मनी के युवा लेखकों द्वारा सामंतशाही तथा नौकरशाही का विरोध सिद्ध हुआ था।
2. जर्मन समाजवादी जनवाद की सैद्धांतिक पत्रिका, जो स्टुटगार्ट से 1883 से 1923 तक प्रकाशित होती रही। 1885-1895 के बीच उसमें एंगेल्स के लेख (मरणोपरांत भी) प्रकाशित होते रहे।
3. सी. एन. स्टार्के, 'लुडविग फ़ायरबाख़', स्टुटगार्ट, 1885, पृ. 6
4. यहाँ संकेत कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स द्वारा 1845-46 में लिखित 'जर्मन विचारधारा' की ओर है।

लिए वह अनुपयोगी थी। दूसरी ओर, मार्क्स की एक पुरानी नोट-बुक में मुझे फ़ायरबाख़ पर ग्यारह प्रस्थापनाएँ [1] मिली हैं उन्हें यहाँ परिशिष्ट के रूप में छापा गया है। ये जल्दी में लिखी टिप्पणियाँ हैं, जिन्हें बाद में सविस्तार प्रतिपादित किया जाना था। इन्हें इस रूप में प्रकाशित कराया भी नहीं जाना था। पर उस प्रथम दस्तावेज़ के रूप में, नयी विश्व-दृष्टि के भव्य बीजाणु एकत्र हैं, ये अनमोल हैं।

— **फ्रेडरिक एंगेल्स**

लंदन,
21 फरवरी, 1888

1.. 'कार्ल मार्क्स, 'फ़ायरबाख़ पर निबंध'। देखें इस संकलन पर पृ. ...।— अनु.

लुडविग फ़ायरबाख़ और क्लासिकीय जर्मन दर्शन का अंत

एक

हमारे समक्ष जो पुस्तक[1] है, वह हमें एक ऐसे काल में वापस ले जाती है जो समय के लिहाज से, चाहे एक पीढ़ी से अधिक पीछे न हो फिर भी जर्मनी की मौजूदा पीढ़ी के लिए इतना पराया है कि जैसे वह सौ वर्ष पुराना हो। बहरहाल, यह काल 1848 की क्रांति के लिए जर्मनी की तैयारी का काल था। तब से हमारे में जो कुछ भी घटित हुआ है, वह 1848 का नैरंतर्य मात्र रहा है; क्रांति की वसीयत तथा उसके विधान (इच्छा पत्र) का निष्पादन मात्र रहा है।

जैसा कि फ्रांस में 18वीं शताब्दी में हुआ था, जैसे ही 19वीं शताब्दी में जर्मनी में एक दार्शनिक क्रांति ने राजनीतिक ध्वंस को उद्घाटित किया; पर दोनों में कितना अंतर था। फ्रांसीसी लोग समस्त शासकीय विज्ञान, चर्च तथा बहुधा राज्य से भी खुला मोर्चा ले रहे थे। उनकी रचनाएँ सीमा-पार हालैंड या इंग्लैंड में छपती थीं, जबकि उनके सिर पर बास्तील के कारागार का ख़तरा मंडराता रहता था। दूसरी ओर, ये जर्मन लोग प्रोफ़ेसर थे, राज्य द्वारा नियुक्त युवकों के दीक्षक; उनकी रचनाएँ स्वीकृत एवं मान्यता प्राप्त पाठ्य-पुस्तकें थीं और इस समूचे दार्शनिक विकास की चरम पद्धति—हेगेलवादी पद्धति—को प्रशा के शाही राज्य दर्शन का सम्मानजनक पद तक प्राप्त हो चुका था। क्या यह संभव था कि इन प्रोफ़ेसरों के पीछे, उनके दुर्बोध एवं पंडिताऊ वचनों के पीछे, उनकी भारी-भरकम तथा उकता देने वाली शब्दावली के पीछे क्रांति छुपी रहती ? और क्या ठीक वे ही लोग, जिन्हें उस समय क्रांति का प्रतिनिधि समझा जाता था, यानी उदारतवादी लोग इस दिमाग़ को उलझा देने वाले दर्शन के

1. 'लुडविंग फ़ायरबाख़', क. न. स्टार्के, पीएच. डी., स्टुटगार्ट, फ़र्द. एन्के, 1885।

कटुतम शत्रु न थे? लेकिन जिस चीज़ को न तो सरकार और न उदारतावादी ही देख पाये थे, उसे 1833 में ही कम-से-कम एक व्यक्ति ने तो देख ही लिया था और यह व्यक्ति था हेनरिक हाइने।[1]

एक उदाहरण सामने रखकर आगे बढ़ें। कोई भी अन्य दार्शनिक प्रस्थापना संकीर्णमना सरकारों की इतनी कृतज्ञता प्राप्त नहीं कर सकी तथा उतने ही संकीर्णमना उदारतावादियों के रोष का इतना पात्र नहीं बनी जितनी कि हेगेल की यह प्रसिद्ध उक्ति :

''सब कुछ तो यथार्थ है, बुद्धिसंगत है; सब कुछ जो बुद्धिसंगत है, यथार्थ है।''[2]

वह साफ़ तौर पर विद्यमान वस्तुओं का पवित्रीकरण था; निरंकुशवाद, पुलिस राज्य, राजकीय न्याय प्रणाली और सेंसर को दार्शनिक आशीर्वाद प्रदान करना था। फ्रेडरिक-विल्हेल्म तृतीय तथा उसकी प्रजा ने उसे इसी अर्थ में लिया भी था। परन्तु हेगेल के मतानुसार जो कुछ विद्यमान है वह, निश्चित रूप से, यथार्थ नहीं है। हेगेल के अनुसार यथार्थता की विशेषता उसे ही प्राप्त हो सकती है, जो साथ-ही-साथ आवश्यक भी होता है

''अपने विकास क्रम में यथार्थता आवश्यकता के रूप में सिद्ध हो जाती है।''

अतएव कोई ख़ास सरकारी उपाय—हेगेल स्वयं 'किसी ख़ासकर विनिमय' का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—उनकी निगाह में बिला शर्त यथार्थ[3] क़तई नहीं हो सकता। परन्तु जो आवश्यक है वह अंततः स्वयं को बुद्धिसंगत भी सिद्ध करता ही है और इस हेगेलवादी प्रस्थापना को तत्कालीन प्रशा राज्य पर लागू करने का अर्थ केवल यह होता है— यह राज्य, जितने भर में वह आवश्यक है— युक्ति मूलक तथा बुद्धिसंगत है यदि फिर भी वह हमें अनिष्टकारी मालूम होता है तथा अपने अनिष्टकारी चरित्र के बावजूद बना रहता है तो सरकार के अनिष्टकारी चरित्र की प्रजा के तदनुरूप अनिष्टकारी चरित्र के संदर्भ में व्याख्या की जा सकती है तथा उसका औचित्य बताया जा सकता है। उस काल के प्रशियाइयों को वैसी ही सरकार मिली थी, जिसके वे योग्य थे।

पर हेगेल के मतानुसार यथार्थता किसी भी तरह किसी अवस्था-विशेष—सामाजिक

---

1. एंगेल्स का आशय हाइने द्वारा जर्मन दार्शनिक क्रांति के सम्बनध में लिखी टीकाओं से है जो उनके स्केचों 'जर्मनी में धर्म और दर्शन के इतिहास पर' में हैं। इन टीकाओं में हाइने ने इस विचार का प्रतिपादन किया कि जर्मनी में हुई दार्शनिक क्रांति, जिसका चरम बिंदु हेगेल का दर्शन था, भावी जनवादी क्रांति की भूमिका है।
2. यहाँ एंगेल्स ने हेगेल की रचना ('सत्ता के दर्शन के मूल तत्त्व'। प्रस्तावना) का भावानुवाद किया है। इस रचना का प्रथम संस्करण बर्लिन में 1821 में प्रकाशित हुआ था।
3. देखिये ग.व. फ़. हेगेल, 'दर्शनाशास्त्र का विश्वकोश', भाग 1। तर्कशास्त्र, पैरा 147, 142 । यह कृति पहली बार 1821 में हैडेलबर्ग से प्रकाशित हुई थी।

तथा राजनीतिक— की हर समय व सभी परिस्थितियों में विशेषता नहीं हो सकती। दरअसल सच्चाई एकदम उलट है। रोमन जनतंत्र यथार्थ था, पर उसकी जगह लेने वाला रोमन साम्राज्य भी यथार्थ था। 1789 में फ्रांसीसी राजतंत्र इतना अयथार्थ बन गया था, यानी सारी आवश्यकता से इस क़दर वंचित हो सका था, इस क़दर अबुद्धिसंगत हो चुका था कि उसे महान् क्रांति द्वारा— जिसका हेगेल ने सदा गुणगान किया है— हटाया जाना ही पड़ा। अतः यहाँ राजतंत्र अयथार्थ था, क्रांति यथार्थ थी। इसी विकास क्रम के दौरान जो पहले यथार्थ था अब अयथार्थ बन जाता है तथा अपनी आवश्यकता से, अस्तित्व के अपने अधिकार से, अपनी बुद्धिसंगतता से हाथ धो बैठता है। मरणासन्न यथार्थता के स्थान पर एक नयी अंकुरण-क्षमता से युक्त यथार्थता आती है— वह शांतिपूर्ण ढंग से आती है। यदि पुरातन में संघर्ष किये बग़ैर ही मौत के घाट उतर जाने की समझ हो, और यदि उसका प्रतिरोध करे तो वह बलपूर्वक आती है। इस तरह हेगेलवादी प्रस्थापना स्वयं हेगेलवादी द्वंद्ववाद के ज़रिये एक आत्म-विरोध की स्थिति में पलट जाती है। मानव इतिहास के क्षेत्र में जो कुछ भी यथार्थ है, वह कालांतर में अबुद्धिसंगत हो जाता है, अतः अपनी नियति के कारण ही अबुद्धिसंगत है। पहले से ही अबुद्धि संगतता के दोष से युक्त होता है और हर वह चीज़ जो मानव-मस्तिष्क में बुद्धिसंगत होती है, उसका यथार्थ होना पूर्व-निर्दिष्ट होता है। चाहे वह विद्यमान— दृष्टिगोचर यथार्थ की कितनी ही विरोधी क्यों न हो। हेगेलवादी चिंतन पद्धति के समस्त नियमों के अनुरूप हर यथार्थ की बुद्धिसंगतता की प्रस्थापना एक अन्य प्रस्थापना में स्वयं को रूपातंरित कर लेती है : जो कुछ भी विद्यमान है वह नष्ट होने योग्य है।[1]

लेकिन हेगेलवादी दर्शन का वास्तविक महत्त्व तथा उसका क्रांतिकारी स्वरूप (यहाँ हमें बाद के समूचे गति-प्रवाह की इति के रूप में, इस दर्शन तक स्वयं को सीमित रखना चाहिए) इस बात में ही निहित है कि उसने मानवीय चिंतन तथा कृत्यों की समस्त उपज की अंतिमता पर सदा-सर्वदा के लिए प्राणघातक प्रहार किया। हेगेल के विवेचन में सत्य— जिसका संज्ञान ही दर्शन का प्रमुख विषय है— ऐसे बने-बनाये जड़सूत्रों का संकलन मात्र न था जिन्हें, एक बार उनकी खोज हो जाते ही रट-रटाकर याद कर लेना ही काफ़ी था। सत्य अब संज्ञान की ही प्रक्रिया में, विज्ञान के लंबे ऐतिहासिक विकास में ही निहित था, जो ज्ञान के निचले स्तरों से उठकर निरन्तर उच्चतर स्तरों की ओर बढ़ता जाता है और जो तथाकथित **परम सत्य** की खोज करके कभी ऐसे मुक़ाम पर नहीं पहुँचता जहाँ से आगे न बढ़ा जा सकता

---

1. यहाँ एंगेल्स गेटे के फ़ाउस्ट में मेफिस्टोफीलीस के शब्दों को आधार बनाकर अपनी बात कहते हैं।— संपा.

हो। जहाँ उसके लिए कुछ भी करना शेष न रह जाये सिवा इसके कि वह हाथ-पर-हाथ धरे बैठकर स्वयं द्वारा अर्जित परम सत्य की ओर टकटकी लगाकर आश्चर्य-विमुग्ध भाव से ताकता रहे। जो बात दार्शनिक ज्ञान के क्षेत्र पर लागू होती है, वही हर प्रकार के ज्ञान के क्षेत्र पर तथा व्यावहारिक कर्म पर भी लागू होती है। जिस प्रकार ज्ञान मानव-जाति की किसी उत्कृष्ट, आदर्श व्यवस्था में अपनी चरम स्थिति पर पहुँचने में असमर्थ है, उसी तरह इतिहास भी ऐसा कर पाने में असमर्थ होता है। दोषमुक्त समाज, दोषमुक्त राज्य ऐसी चीज़ें हैं जिनका अस्तित्व कल्पना जगत् में ही हो सकता है। इसके विपरीत, कालक्रम में एक के बाद एक करके उभरने वाली समस्त ऐतिहासिक व्यवस्थाएँ मानव समाज के निम्नावस्था से उच्चतर अवस्था की ओर जाने वाले अंतहीन विकासक्रम की मात्र अल्पकालिक अवस्थाएँ हैं। हर अवस्था आवश्यक होती है, अतः जिस काल और जिन परिस्थितियों के कारण उसका आविर्भाव होता है, उनके लिए वह उचित होती है। लेकिन नयी एवं उच्चतर परिस्थितियों के समक्ष, जो धीरे-धीरे उसके गर्भ में विकसित हो रही होती हैं, वह अपनी वैधता तथा औचित्य खो बैठती हैं। वह उस उच्चतर अवस्था के लिए स्थान छोड़ने को बाध्य होती हैं, जो स्वयं अपनी बारी में एक दिन क्षयग्रस्त होकर विलुप्त हो जायेगी। जिस तरह पूँजीपति वर्ग बड़े पैमाने के उद्योग, होड़ तथा विश्व-बाज़ार के ज़रिये सभी स्थायी व काल-सम्मानित (लंबे समय से स्वीकृत-प्रचलित) संस्थाओं को वास्तव में भंग कर देता है, उसी तरह यह द्वंद्वात्मक दर्शन अंतिम, परम सत्य तथा तदनुरूप मानव-जाति की समस्त चरम अवस्थाओं की अवधारणाओं को ध्वस्त कर देता है। द्वंद्वात्मक दर्शन के लिए कोई भी चीज़ अंतिम, परम (निरपेक्ष) व पुनीत नहीं होती। वह हर चीज़ में तथा हर चीज़ की क्षणभंगुरता को उद्घाटित-प्रदर्शित करता है। उनके समक्ष निम्नावस्था से उच्चतर अवस्था की ओर उत्थान के अंतहीन विकासक्रम, उत्पत्ति तथा विनाश (होने और समाप्त होने) की अविरत प्रक्रिया के अलावा और कोई चीज़ टिक ही नहीं सकती। द्वंद्वात्मक दर्शन स्वयं भी चिंतनशील मस्तिष्क में इस प्रक्रिया का प्रतिबिंब मात्र होने से अधिक कुछ नहीं है। बेशक उसका एक रूढ़िवादी पक्ष भी है : वह मानता है कि ज्ञान और समाज की निश्चित अवस्थाएँ अपने काल एवं परिस्थितियों के संदर्भ में न्यायसंगत होती हैं; लेकिन सिर्फ़ वहीं तक। इस दृष्टिकोण की रूढ़िवादिता सापेक्ष है, जबकि उसका क्रांतिकारी स्वरूप निरपेक्ष है— एकमात्र निरपेक्ष तत्त्व जिसे कि द्वंद्वात्मक दर्शन स्वीकृति देता है।

यहाँ हमारे लिए इस प्रश्न की विवेचना करना आवश्यक नहीं है कि यह दृष्टिकोण प्रकृति विज्ञान की मौजूदा स्थिति से पूरी तरह मेल खाता है या नहीं, जिसकी भविष्यवाणी के अनुसार (संभावित रूप से) पृथ्वी तक का और जो काफ़ी निश्चित है, पृथ्वी पर जीवन का

अंत हो जायेगा। इससे यह सिद्ध होता है कि मानव-जाति के इतिहास में भी आरोही ही नहीं बल्कि अवरोही शाखा भी मौजूद है। जो भी हो, हम अभी भी अपने आप को उस परिवर्तनकारी बिंदु से काफ़ी दूर पाते हैं, जहाँ से समाज का ऐतिहासिक क्रम नीचे की ओर पलटेगा और हम हेगेलवादी दर्शन से ऐसे विषय से उलझने की उपेक्षा भी नहीं कर सकते, जिसे तत्कालीन प्रकृति विज्ञान ने उस समय तक कार्यसूची (विचारणीय प्रश्नों की सूची) में शामिल तक नहीं किया था।

पर जो बात यहाँ कही ही जानी चाहिए, वह यह है— ऊपर जो बातें कहीं गयी हैं, वे हेगेल द्वारा इतनी स्पष्टता के साथ निरूपित नहीं की गयी हैं। ये बातें उनकी पद्धति से अनिवार्य रूप से निकलने वाला निष्कर्ष है, पर उन्होंने स्वयं इस स्पष्टता के साथ निष्कर्ष नहीं निकाला था। इसका सीधा-सा कारण है यह है कि वह एक पद्धति प्रस्तुत करने को विवश थे और पारंपरिक अपेक्षाओं के अनुरूप प्रत्येक दर्शन की परिणति किसी-न-किसी प्रकार के परम सत्य में होनी चाहिए। अतएव हेगेल ने ख़ासकर अपने 'तर्कशास्त्र'[1] में चाहे इस बात पर ख़ूब ज़ोर दिया था कि यह शाश्वत् सत्य तार्किक या ऐतिहासिक प्रक्रिया के सिवा और कुछ नहीं है, तो भी इस प्रक्रिया को किसी-न-किसी परिणाम तक पहुँचाने के लिए स्वयं को बाध्य पाते हैं। केवल इसलिए कि अपनी पद्धति का किसी-न-किसी बिंदु पर उन्हें समापन करना था। अपने 'तर्कशास्त्र' में वह इस इति को फिर आरम्भ बना सकते हैं, चूँकि यहाँ निष्कर्ष बिंदु, निरपेक्ष विचार (परम सत्य)— इसी अर्थ में निरपेक्ष है कि वह उसके बारे में निरपेक्ष रूप से मौन हैं— अपने को 'अन्य संक्रमित' यानी अपने को प्रकृति में रूपांतरित कर लेता है और बाद में मस्तिष्क में, अर्थात् चिंतन में तथा इतिहास में, प्रत्यावर्तित होकर अपने रूप में प्रकट हो जाता है। लेकिन सम्पूर्ण दर्शन के अंत में इस प्रकार पुनः प्रारंभ पर लौट आना केवल एक ही तरह से संभव है, यानी इतिहास की समाप्ति की इस प्रकार की कल्पना करके : मानव-जाति ठीक उसी निरपेक्ष विचार के संज्ञान पर पहुँच चुका है। परन्तु इस प्रकार तो हेगेलवादी पद्धति की समग्र जड़सूत्रवादी अंतर्वस्तु उनकी द्वंद्ववादी पद्धति, जो सभी प्रकार के जड़सूत्रवाद को खंडित करती है, के प्रतिकूल परम सत्य घोषित हो जायेगी। इस प्रकार क्रंतिकारी पक्ष रूढ़िवादी पक्ष के झाड़-झंखाड़ के नीचे दब जायेगा और जो चीज़ दार्शनिक संज्ञान पर लागू होती है, वह ऐतिहासिक व्यवहार पर भी लागू होती है। मानव जाति, जो हेगेल के माध्यम से, निरपेक्ष विचार के निरूपण तक पहुँच गयी है, व्यवहार में भी वहाँ तक तो अवश्य पहुँची होगी जहाँ इस निरपेक्ष विचार का यथार्थ में क्रियान्वित किया जाना सम्भव हो सके। अतः समकालीनों

1. हेगेल की इस पुस्तक के निम्न तीन भाग हैः 1. वस्तुगत तर्कशास्त्र, सत्ताज्ञान (1812 में प्रकाशित); 2. वस्तुगत तर्कशास्त्र, सारतत्व (1813); 3. आत्मगत तर्कशास्त्र अथवा अनुभूति विज्ञान (1816)।

से निरपेक्ष विचार के द्वारा किये जाने वाले व्यावहारिक राजनीतिक तकाज़ों को बहुत ज़्यादा नहीं खींचा जाना चाहिए। इसीलिए **विधिक दर्शन** के समापन पर हम पाते हैं कि निरपेक्ष विचार की सिद्धि उन सामाजिक श्रेणियों पर आधारित राजतंत्र में होगी, जिसके बारे में फ्रेडरिक-विल्हेल्म तृतीय ने अपनी प्रजा से बारंबार, किन्तु निष्फल वादे किये थे; यानी संपत्तिवान वर्गों के सीमित, संयत तथा अप्रत्यक्ष शासन द्वारा, जो तत्कालीन निम्न पूँजीवादी जर्मन परिस्थितियों के लिए उपयुक्त था। यही नहीं, अभिजात वर्ग की आवश्यकता भी हमारे सामने एक परिकल्पनात्मक रूप में प्रदर्शित की जाती है।

अतः इस पद्धति की आंतरिक आवश्यकताएँ ही यह स्पष्ट कर देने के लिए पर्याप्त हैं कि चिंतन की एक पूर्णतया क्रांतिकारी विधि से किस तरह ऐसा अत्यन्त निस्तेज राजनीतिक निष्कर्ष निकाला। असल में इस निष्कर्ष का विशिष्ट रूप इस बात से उत्पन्न होता है कि हेगेल जाति से जर्मन थे तथा उनके समकालीन गेटे की भाँति ही उनके पीछे भी कूपमंडूकता का थोड़ा-सा पुंछल्ला लटका हुआ था। दोनों ही अपने-अपने क्षेत्रों में ओलिंपियन ज़ीयस[1] थे, किन्तु जर्मन कूपमंडूकता के असर से दोनों में से कोई भी अपने आप को पूरी तरह मुक्त नहीं कर पाया।

पर यह सब हेगेलवादी पद्धति को न तो किसी भी पूर्ववर्ती पद्धति की तुलना में कहीं अधिक व्यापक व विस्तृत क्षेत्र को अपनी परिधि में लाने से और न इस विशाल क्षेत्र में विचारों का ऐसा भंडार प्रस्तुत करने से रोक पाया, जो आज भी विस्मयजनक है। मन का घटना क्रिया विज्ञान (जिसे हम मन का भ्रूण-विज्ञान तथा जीवाश्म-विज्ञान का समतुल्य— अपनी भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के दौरान वैयक्तिक चेतना का विकास— कह सकते हैं जो उन-उन अवस्थाओं की संक्षिप्तीकृत पुनरुत्पत्ति के रूप में दी गयी है जिनके बीच से मानवीय चेतना इतिहास के काल-प्रवाह से होकर गुज़रती है।), तर्कशास्त्र, प्राकृतिक-दर्शन, मन का दर्शन तथा उसके पृथक-पृथक ऐतिहासिक उप खंड— इतिहास-दर्शन, अधिकार-दर्शन, धर्म-दर्शन, दर्शन का इतिहास, सौंदर्य-शास्त्र आदि इन सभी भिन्न-भिन्न ऐतिहासिक क्षेत्रों में हेगेल ने विकास के प्रधान सूत्र ढूँढने और प्रकाश में लाने का काम किया। चूँकि वह सृजनात्मक प्रतिभा के ही नहीं, वरन् विश्वकोषीय ज्ञान के भी स्वामी थे, इसलिए इन सभी क्षेत्रों में उन्होंने युगांतरकारी भूमिका का निर्वाह किया। यह स्वतः स्पष्ट है कि 'पद्धति' की अपेक्षाओं के कारण उन्हें अक्सर ज़बर्दस्ती ऐसे रचना-विन्यास का भी सहारा लेना पड़ता था, जिन्हें लेकर उनके बौने विरोधी आज भी बेहद शोर मचाते हैं। पर ये रचना-विन्यास तो उनकी इमारत के ढाँचे तथा पाड़ मात्र हैं। अगर कोई यहाँ फ़िज़ूल मटरगश्ती न करके, आगे बढ़कर विशाल

1. यूनानी पुराण के अनुसार देवताओं का राजा।

इमारत के भीतर प्रवेश करे तो वहाँ उसे ऐसे अनगिनत ख़ज़ाने मिलते हैं, जिनका मूल्य आज भी अक्षुण्ण है। सभी दार्शनिकों के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि उनकी पद्धति ही नश्वर होती है और इसका सीधा-सादा कारण यह है कि उसकी उत्पत्ति मानव-मन की अनश्वर अभिाषा से — सभी अंतर्विरोधों पर काबू पाने की अभिलाषा से—होती है। पर यदि समस्त विरोधों का सदा-सर्वादा के लिए उन्मूलन हो जाये तो हम तथाकथित परम सत्य पर पहुँच जायेंगे जहाँ विश्व-इतिहास का अंत हो जायेगा। पर उसे तो जारी रहना ही है, चाहे उसके पास अब करने को बाक़ी कुछ नहीं बच सकता और इसीलिए एक नया, असाध्य विरोध उभर आता है। ज्यों ही हम एक बार यह महसूस करते हैं—और इसे महसूस कराने में स्वयं हेगेल से अधिक हमारी सहायता पूरे कालक्रम में किसी और ने नहीं की है—कि दर्शन के उक्त कार्यभार का एक मात्र अर्थ इसके अलावा और कुछ नहीं है कि एक अकेला दार्शनिक ऐसे कार्यभार को संपन्न कर डाले, जिसे संपूर्ण मानव-जाति द्वारा केवल अपने प्रगतिशील विकासक्रम में ही संपन्न किया जाता जा सकता है— ज्यों ही हम यह समझ लेते हैं त्यों ही आज तक के उसके मान्य अर्थ में, समस्त दर्शन का अंत हो जाता है। ऐसे में कोई भी 'परम सत्य' से पल्लू झाड़ लेगा क्योंकि वह इस मार्ग का अनुसरण करके तथा किसी भी अकेले व्यक्ति के लिए अप्राप्य है। इसके बजाय हम प्रत्यक्ष विज्ञान का मार्ग अपना कर प्राप्य सापेक्ष सत्यों की खोज करते हैं तथा द्वंद्वात्मक चिंतन द्वारा उनके परिणामों का सामान्यीकरण करते हैं। बहरहाल, हेगेल के साथ दर्शन का अंत हो जाता है— एक तो इसलिए कि अपनी पद्धति में उन्होंने उसके संपूर्ण विकास का बेहद शानदार तरीक़े से निचोड़ पेश कर दिया है और दूसरे इसलिए कि उन्होंने हमें पद्धतियों की भूल-भुलैया से बाहर निकालकर विश्व के वास्तविक प्रत्यक्ष ज्ञान का मार्ग दिखाया, चाहे उन्होंने यह अनजाने में ही किया हो।

यह कल्पना सहज ही की जा सकती है कि इस हेगेलवादी पद्धति का जर्मनी के दर्शन-रंगे वातावरण पर कैसा गहरा प्रभाव पड़ा होगा। यह प्रभाव तो एक विजय शोभायात्रा के समान था, जो दशकों तक चलता रहा और हेगेल की मृत्यु के बाद भी जो थमा नहीं। इसके विपरीत, यह 1830 और 1840 के बीच के काल ही की बात है कि हेगेलवाद का एकछत्र राज क़ायम हो गया था तथा उसका असर कमोबेश उसके विरोधियों तक पर भी पड़ा। ठीक इसी काल में हेगेलीय धारणाओं ने सचेत अथवा अचेत रूप में नाना प्रकार के विज्ञानों में अत्यंत विस्तृत पैमाने पर प्रवेश किया और लोकप्रिय (आम) साहित्य तथा समाचार पत्रों—जिनसे औसत 'शिक्षित चेतना' अपना मानसिक आहार प्राप्त करती है—तक में उफ़ान ला दिया। पर पूरे मोर्चे पर यह विजय एक आंतरिक संघर्ष की प्रस्तावना (प्राक्कथन) मात्र थी।

जैसा कि हम देख चुके हैं हेगेल का सिद्धांत अपनी समग्रता में ऐसा था कि उसमें सर्वथा विविधतापूर्ण व्यावहारिक दलीय (पार्टी) विचारों के लिए आश्रय पाने की बहुत गुंजाइश थी। तत्कालीन जर्मनी के सैद्धांतिक जीवन में दो चीज़ें सबसे अधिक व्यावहारिक थीं—धर्म एवं राजनीति। हेगेलवादी **पद्धति** पर विशेष ज़ोर देने वाला व्यक्ति इन दोनों ही क्षेत्रों में ख़ासा रूढ़िवादी हो सकता था; जो भी द्वंद्वात्मक **विधि** (प्रणाली) को मुख्य वस्तु मानता था, वह राजनीतिक तथा धर्म दोनों ही में उग्रतम विरोध पक्ष ग्रहण कर सकता था। स्वयं हेगेल का रुझान, बावजूद इसके कि उनकी कृतियों में क्रांतिकारी उद्वेग के स्फोटन मिलते हैं, कुल मिलाकर रूढ़िवाद की ओर दिखाई देता था। वास्तव में विधि की अपेक्षा अपनी पद्धति के सम्बन्ध में उन्हें कहीं ज़्यादा 'मग़ज़पच्ची' करनी पड़ी थी। चौथे दशक का अंत होते-होते दर्शन के हेगेलीय पंथ में फूट अधिकाधिक स्पष्ट होती गयी। वामपंथियों, तथाकथित तरुण हेगेलवादियों को पुराणपंथी धर्मानुरागियों[1] तथा सामंती प्रतिक्रियावादियों के ख़िलाफ़, अपने संघर्ष के दौरान उस काल के ज्वलंत प्रश्नों के सम्बन्ध में धीरे-धीरे अपनी भद्रजनोचित दार्शनिक तटस्थता और संकोच को त्याग देना पड़ा; जिसकी अभी तक उन्हें राजकीय सहिष्णुता ही नहीं, वरन् अपने प्रचार के लिए संरक्षण भी प्राप्त था। जब 1840 में फ्रेडरिक विल्हेल्म चतुर्थ के गद्दी पर बैठने के साथ पुराणपंथी धर्मानुराग तथा निरंकुश सामंती प्रतिक्रियावाद भी गद्दीनशीन हो गये, तो खुली पक्षधरता अनिवार्य हो गयी। लड़ाई चाहे अभी भी दार्शनिक हथियारों से लड़ी जा रही थी पर अब वह अमूर्त लक्ष्यों के लिए नहीं लड़ी जा रही थी। अब वह सीधे-सीधे परंपरागत धर्म और मौजूदा राज्य के विध्वंस के प्रश्न की ओर मुड़ गयी थी। जबकि 'विज्ञान तथा कला की जर्मन वार्षिकी'[2] में व्यावहारिक लक्ष्य अब भी प्रधानतः दर्शन का जामा पहनाकर पेश किये जा रहे थे। 1842 के 'राजनीति, व्यापार तथा उद्योग का राइनी समाचार-पत्र'[3] में तरुण हेगेलवाद खुले तौर पर महत्त्वकाँक्षी उग्र पूँजीपति वर्ग के दर्शन के रूप में प्रकट हुआ तथा उस पर दर्शन का झीना आवरण केवल सेंसर की आँखों में धूल झोंकने के लिए था।

---

1. पुराणपंथी धर्मानुराग (लैटिन में Pietas अर्थात् धर्मानुराग)—17वीं शताब्दी के अंत में पश्चिमी यूरोप के प्रोटेस्टेंटों (लूथर तथा काल्विन के मतानुयायियों) के बीच फैले धार्मिक-रहस्यवादी आंदोलन को दिया गया नाम।
2. तरुण हेगेलवादियों की साहित्यिक एवं दार्शनिक पत्रिका जो लाइप्जिग़ में जुलाई 1841 से जनवरी 1843 तक प्रकाशित होती रही।
3. दैनिक समाचार-पत्र जो कोलोन से 1 जनवरी, 1842 से 31 मार्च ,1843 तक निकलता रहा। अप्रैल 1842 के बाद से मार्क्स ने इस पत्र के लिए लेख लिखे और उसी वर्ष अक्टूबर में उसके एक संपादक बन गये।

तथापि राजनीतिक मार्ग उन दिनों काँटों से भर हुआ था, अतः मुख्य संघर्ष का निशाना धर्म को ही बनाया गया। परंतु ख़ासकर 1840 के बाद तो यह संघर्ष परोक्ष रूप से राजनीतिक संघर्ष भी बन गया। 1835 में प्रकाशित स्टॅास की पुस्तक 'ईसा की जीवनी' ने इसे प्रथम संवेग प्रदान किया था। इस पुस्तक में इंजील की दंतकथाओं के बारे में जो विचार प्रस्तुत किये गये थे, उनका बाद में ब्रूनो बावेर ने इस प्रमाण के साथ खंडन किया कि इंजील की कहानियों की एक पूरी की पूरी माला स्वयं लेखकों द्वारा ही घड़ ली गयी थी। उन दोनों के बीच यह विवाद **आत्मचेतना** तथा **द्रव्य** के संघर्ष के प्रच्छन्न दार्शनिक वेश में चलता रहा। यह प्रश्न कि आया इंजील की चमत्कार कथाएँ दंतकथाओं की सृजनात्मक परंपरा द्वारा अचेतन रूप से समुदाय में अपने आप उत्पन्न हो गयी थीं या उन्हें स्वयं इंजील -प्रचारकों ने घड लिया था; इस दूसरे प्रश्न में आवर्धित कर दिया गया कि विश्व इतिहास में 'द्रव्य' अथवा 'आत्मचेतना' में से कौन निर्णायक कार्यशील शक्ति है। अंत में आधुनिक अराजकतावाद के पैग़ंबर स्टर्नर सामने आये— बकूनिन ने उनसे बहुत कुछ ग्रहण किया है— और उन्होंने सर्वसत्ताधारी अहं[1] से मात दे दी।

हेगेलवादी पंथ की विघटन-प्रक्रिया के इस पहलू पर हम और अधिक विचार नहीं करेंगे। हमारे लिए इससे महत्त्वपूर्ण बात यह है : सर्वाधिक दृढ़संकल्प तरुण हेगेलवादियों का मुख्य भाग प्रतिष्ठापित धर्म के विरुद्ध अपने संघर्ष के व्यावहारिक तकाज़ों से प्रेरित होकर आंग्ल-फ्रांसीसी भौतिकवाद की ओर झुकने को विवश हुआ था। जिसके कारण अपने ही पंथ की पद्धति के साथ उनका विरोध उठ खड़ा हुआ। भौतिकवाद प्रकृति को एकमात्र यथार्थ मानता है जबकि हेगेलीय पद्धति में प्रकृति निरपेक्ष विचार का 'अन्य संक्रमण' मात्र है, अर्थात् वह विचार की पदावनति है। जो भी हो चिंतन तथा उसका फल (विचार) यहाँ पर प्राथमिक है और प्रकृति केवल व्युत्पत्तिक है, जिसका अस्तित्व ही विचार की अनुकंपा पर निर्भर करता है और इस अंतर्विरोध में फँसकर वे डूबते-उतराते रहे।

तब फ़ायरबाख़ की पुस्तक 'ईसाई धर्म का सार'[2] निकली। उसने बिना लाग-लपेट के भौतिक को फिर से राजपद पर आसीन कर दिया तथा एक ही प्रहार में इस अंतर्विरोध को चकनाचूर कर दिया। प्रकृति का अस्तित्व दर्शन से स्वतंत्र है। यह वह नींव है, जिसके ऊपर हम—मानव, जो स्वयं प्रकृति की उपज हैं, बड़े हुए हैं। प्रकृति और मानव से परे किसी चीज़ का अस्तित्व नहीं है तथा हमारी धार्मिक कल्पना की उड़ानों ने जिन उच्चतर प्राणियों की सृष्टि कर रखी है, वे हमारे ही सार-तत्त्व के कल्पनात्मक प्रतिबिंब मात्र हैं। जादू उतर गया,

---

1. यहाँ इशारा स्टर्नर की कृति 'अहं और स्वत्त्व' की ओर है, जो लाइप्ज़िग में 1845 में प्रकाशित हुई थी।
2. फ़ायरबाख़ की कृति 'ईसाई धर्म का सार' लाइप्ज़िग में 1841 में प्रकाशित हुई।

एक ही धड़ाके में 'पद्धति' की धज्जियाँ उड़ गयीं तथा अंतर्विरोध—जो क़ल्पना की वस्तु सिद्ध कर दिया गया—काफ़ूर हो गया। इसे समझने के लिए किसी के लिए भी यह ज़रूरी था कि इस पुस्तक के उन्मुक्तकारी प्रभाव के अनुभव से स्वयं गुज़रें। आम उत्साह का वातावरण बन गया, हम सभी फ़ौरन फ़ायरबाख़ के चेले बन गये। मार्क्स ने इस नयी अवधारणा का कितनी गर्मजोशी के साथ स्वागत किया तथा समस्त आलोचनात्मक टिप्पणियों के बावजूद, वह उससे कितने प्रभावित हुए थे, यह 'पवित्र परिवार'[1] पढ़कर जाना जा सकता है।

फ़ायरबाख़ की पुस्तक की कमियों तक ने उसके तात्कालिक प्रभाव को बढ़ाने में योगदान किया। उनकी साहित्यिक तथा यहाँ-वहाँ शब्दाडंबरपूर्ण शैली तक ने उनके लिए पाठकों की एक बड़ी संख्या जुटा दी तथा अगर और कुछ नहीं तो, वर्षों की अमूर्त एवं दुरूह हेगेलीय तर्कना से ऊबे हुए लोगों के लिए वह ताज़गी देने वाली तथा थकान हरने वाली तो सिद्ध हुई ही। प्रेम की अतिशय आराधना भी 'शुद्ध चिंतन' के अब असहय्य हो चुके राज के बाद अगर न्यायसंगत नहीं हो तो क्षम्य तो अवश्य ही थी। पर हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि फ़ायरबाख़ की ख़ासकर इन्हीं दो कमज़ोरियों को **सच्चे समाजवाद** ने अपना प्रस्थान-बिंदु बनाया, जो 1844 से 'शिक्षित' जर्मनी में महामारी की तरह फैल रहा था और वैज्ञानिक ज्ञान के बजाय साहित्यिक शब्दावली का प्रयोग कर रहा था तथा उत्पादन के आर्थिक रूपांतरण द्वारा सर्वहारा वर्ग की विमुक्ति के बजाय 'प्रेम' द्वारा मानव-जाति की मुक्ति की बात कर रहा था संक्षेप में जो अपने को कुत्सित ललित लेखन तथा प्रेम के हर्षोन्माद में (जिसकी ठेठ मिसाल श्री कार्ल ग्रून की रचनाओं में मिलती है) झुला रहा था।

एक और चीज़ है ज़िसे हमें भूलना नहीं चाहिए : हेगेलवादी पंथ विघटित हो चुका था, पर हेगेलीय दर्शन को आलोचना अभी तक प्रभावहीन नहीं बना पायी थी। स्ट्रॉस ने उसके एक पक्ष को लिया तथा बावेर ने दूसरे को और उन्होंने विवादात्मक रूप से उन्हें एक-दूसरे के ख़िलाफ़ खड़ा कर दिया। फ़ायरबाख़ ने पद्धति को तोड़कर दूर फेंक दिया। पर किसी दर्शन की केवल यह कह देने भर से कपाल-क्रिया संपन्न नहीं हो जाती है कि वह ग़लत है। राष्ट्र के बौद्धिक विकास पर इतना प्रचंड प्रभाव डालने वाली हेगेल के दर्शन जैसी महाकृति केवल नज़रंदाज कर देने से ही ख़त्म नहीं की जा सकती थी। उसे तो ठीक उसके ही अर्थ में ग़लत सिद्ध करने की ज़रूरत थी— इस अर्थ में कि उसके रूप को तो आलोचना के ज़रिये समाप्त कर दिया जाता— पर उसके द्वारा अर्जित व उपलब्ध नयी अंतर्वस्तु को बचा लिया जाता। यह कैसे किया गया? इसे हम आगे चलकर देखेंगे।

---

1. मार्क्स तथा एंगेल्स की इस पुस्तक का पूरा नाम है 'पवित्र परिवार अथवा आलोचनात्मक आलोचना : ब्रूनो बावेर तथा उनकी मंडली के विरुद्ध।—संपा.

इस बीच 1848 की क्रांति ने पूरे दर्शन को ही इस तरह बेरहमी तथा अभद्रता से एक ओर ढकेल दिया, जिस तरह फ़ायरबाख़ ने हेगेल को एक ओर ढकेल दिया था। इस प्रक्रिया में स्वयं फ़ायरबाख़ भी पृष्ठभूमि में धकिया दिये गये।

दो

समस्त दर्शन का और विशेषकर नूतन दर्शन का महान् आधारभूत प्रश्न चिंतन तथा अस्तित्व के सम्बन्ध से जुड़ा हुआ है। अति प्राचीनकाल से ही जब मनुष्य को स्वयं अपने शरीर की संरचना की कोई जानकारी नहीं थी, सपने में देखी प्रेत-छायाओं के प्रभाव से[1] वह यह विश्वास करने लगा था कि उसका चिंतन एवं उसका संवेदन उसके स्वयं के शरीर की क्रियाएँ नहीं, बल्कि उस विशिष्ट जीवात्मा की क्रियाएँ हैं जो, शरीर में निवास करती हैं तथा जो मृत्यु के समय शरीर का परित्याग कर देती हैं तभी से मनुष्य इस आत्मा तथा बाह्य जगत् के बीच के संबंध के बारे में विचार करने को विवश हुआ। मृत्यु के पश्चात् यदि आत्मा शरीर का परित्याग करके जीवित रहती है, तो उसके लिए एक और विशिष्ट मृत्यु का आविष्कार करने का तो सवाल ही नहीं उठता। इस प्रकार उसके अमरत्व की धारणा उत्पन्न हुई, जो विकास की उस अवस्था में सांत्वनाप्रद धारणा नहीं थी, बल्कि प्रारब्ध की बात मानी जाती थी; जिससे लड़ना व्यर्थ था और प्रायः जैसा कि यूनानियों का विश्वास था, यह अमरत्व दुर्भाग्य माना जाता था। सांत्वना प्राप्त करने की धार्मिक अभिलाषा से नहीं, बल्कि आम सार्विक अज्ञानता के कारण उठ खड़ी हुई इस उलझन ने कि एक बार आत्मा का अस्तित्व मान लिया जाने पर शारीरिक मृत्यु के बाद उस आत्मा का क्या किया जाये ? सामान्य रूप से वैयक्तिक अमरत्व की उबाऊ धारणा के लिए मार्ग प्रशस्त किया। ठीक इसी प्रकार प्राकृतिक शक्तियों के मानवीकरण द्वारा प्रथम देवताओं की उत्पत्ति हुई। धर्म के विकास क्रम में ये देवता अधिकाधिक पारलौकिक रूप ग्रहण करते गये, यहाँ तक कि अंततः मनुष्य के बौद्धिक विकास में स्वभावतः होने वाली पृथक्करण की प्रक्रिया में—मैं कहूँगा वस्तुतः आसवान द्वारा—अनेकानेक कमोबेश परिमित तथा एक-दूसरे को परिसीमित करने वाले देवताओं में से मानव मस्तिष्क में एकमात्र

1. जांगल युग तथा बर्बर युग की निम्न अवस्था के लोगों में यह धारणा अभी भी सर्वव्याप्त है कि सपनों में जो मानव आकृतियाँ दिखायी देती हैं, वे वास्तव में जीवात्माएँ हैं जो अपने शरीरों से कुछ समय के लिए निकलकर विचरण करती हैं। इसलिए स्वप्नदर्शी के ख़िलाफ़ स्वप्न पुरुष द्वारा किये गये कामों के लिए वह व्यक्ति ज़िम्मेदार ठहराया जाता है, जिसकी छाया सपने में दिखायी देती है। उदाहरण के लिए, 1844 में इमथर्न ने गाइना के इंडियनों में यह विचार प्रचलित पाया था *—(एंगेल्स की टिप्पणी—संपा.)

* यहाँ एंगेल्स प्रायः इमथर्न की पुस्तक 'इमथर्न की पुस्तक 'गाइना के आदिवासियों के बीच', लंदन, 1883, पृ. 345-346 का हवाला देते हैं।

परमात्मा— एकेश्वरवादी धर्मों के परमात्मा— का विचार उत्पन्न हुआ।

अतः समस्त धर्म की तरह ही चिंतन और अस्तित्व के सम्बन्ध में प्रश्न आत्मा और प्रकृति के सम्बन्ध के प्रश्न—जो समग्र दर्शन का सर्वोपरि प्रश्न है— की जड़ें जांगल अवस्था की संकीर्ण बुद्धि और अज्ञानतापूर्ण धारणाओं में हैं। पर यह प्रश्न पहली बार पूरे उत्कट एवं तीक्ष्ण रूप से तभी उठाया जा सका, वह अपनी पूर्ण अर्थवत्ता तभी प्राप्त कर सका; जब यूरोप में मानव-जाति ईसाई मध्यकाल की दीर्घ सुषुप्तावस्था से जाग गये। अस्तित्व के सम्बन्ध में चिंतन की स्थिति का प्रश्न एक ऐसा प्रश्न, जिसने प्रसंगवश मध्ययुगीन वितंडावाद में भी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की थी। यह प्रश्न कि— आत्मा तथा प्रकृति में कौन प्राथमिक है? चर्च के सम्बन्ध में इसे तीक्ष्ण रूप में प्रस्तुत किया गया : क्या ईश्वर ने संसार का सृजन किया है या संसार आदिकाल से अस्तित्वमान रहा है?

दार्शनिकों ने इस प्रश्न के जो उत्तर दिये उन्होंने उनको दो शिविरों में बाँट दिया। जिन्होंने प्रकृति के मुक़ाबले में आत्मा को प्राथमिकता दी और इस कारण आख़िर में एक न एक प्रकार के संसार का सृजन स्वीकार किया—और जिन दार्शनिकों की उदाहरणार्थ— हेगेल की पद्धति में यह सृजन ईसाई मत में निहित सृजन से भी अधिक जटिल तथा असंभव कार्य व्यापार बन गया—उनका अपना भाववादी शिविर बन गया। अन्य दार्शनिक, जो प्रकृति को प्राथमिक मानते थे, भौतिकवाद के विभिन्न पंथों से संबद्ध थे।

इन दो शब्दों— भाववाद तथा भौतिकवाद का मूलतः सार यही है और यहाँ भी ये इसी अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। उनमें कोई दूसरा अर्थ तथा सार भर देने से कितनी गड़बड़ी हो सकती है यह आप आगे देखेंगे।

पर चिंतन और अस्तित्व के प्रश्न का एक और भी पहलू है : परिवेशीय जगत् के विषय में हमारे विचारों का उस जगत् से क्या सम्बन्ध है? क्या हमारे चिंतन में वास्तविक जगत् के संज्ञान की क्षमता है? क्या हम वास्तविक जगत् के विषय में अपने विचारों और भावों द्वारा वास्तविकता को सही ढंग से प्रतिबिंबित करने में सक्षम है? दार्शनिकों की भाषा में इस प्रश्न को चिंतन और अस्तित्व के तादात्म्य का प्रश्न कहते हैं और दार्शनिकों का प्रबल बहुसंख्यक भाग इस प्रश्न का स्वीकारात्मक उत्तर देता है। उदाहरणार्थ— हेगेल की स्वीकारोक्ति स्वतः स्पष्ट है: वास्तविक जगत् में हम जिसका संज्ञान ग्रहण करते हैं, ठीक वही उसकी वैचारिक अंतर्वस्तु है—वही जो संसार को क्रमशः निरपेक्ष विचार का प्रत्यक्षीकरण बना देती है, जो अनादिकाल से जगत् से स्वतंत्र रूप में तथा उसके पहले से कहीं अस्तित्वमान था। स्वतः स्पष्ट है कि चिंतन द्वारा किसी ऐसी वस्तु का ही अवबोध किया जा सकता है, जो पहले से ही विचार की अंतर्वस्तु होती है। उसी तरह यह भी प्रत्यक्ष है कि जो जहाँ सिद्ध होना है, वह पहले

से ही पूर्वाधार में मौन रूप से अंतर्निहित है। लेकिन यह किसी प्रकार भी हेगेल को अपने चिंतन तथा अस्तित्व के प्रमाण द्वारा आगे वह निष्कर्ष निकालने से नहीं रोकता कि उनका दर्शन— चूँकि वह उनके चिंतन में सही है इसलिए वही एकमात्र सही दर्शन है और यह कि चिंतन तथा अस्तित्व के तादात्म्य के कारण मानव जाति द्वारा फ़ौरन इस दर्शन को व्यावहारिक रूप दिया जाना चाहिए और सारी दुनिया को हेगेल के सिद्धांत के अनुसार बदल दिया जाना चाहिए। इस भ्रम में प्रायः सभी दार्शनिकों की भाँति हेगेल भी सहभागी हैं।

इसके अतिरिक्त दार्शनिकों की एक और जमात भी है — उन लोगों की, जो जगत् के किसी भी संज्ञान की या कम-से-कम सांगोपांग संज्ञान की संभावना के आगे प्रश्नवाचक चिह्न लगाते हैं। नूतनतम दार्शनिकों में से इस जमात में ह्यूम तथा कांट के नाम आते हैं और इन लोगों ने दर्शन केविकास में अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्बाह किया है। इस विचार के खंडन में जो निर्णायक बात है वह हेगेल द्वारा—जितने भर में भाववादी दृष्टि से ऐसा कर पाना संभव था—कही जा चुकी है। उसमें फ़ायरबाख़ ने जो भौतिकवादी तत्त्व जोड़े हैं, उसमें गहराई की तुलना में चतुराई अधिक है। इसका—जैसे कि अन्य सभी प्रकार की दार्शनिक सनकों का— सबसे कारगर खंडन व्यवहार, यानी प्रयोग तथा उद्यम ही है। किसी प्राकृतिक प्रक्रिया को स्वयं उत्पन्न कर, उसकी अवस्थाओं से उसे अस्तित्व में लाकर और बदले में उसे अपने प्रयोजनों की सिद्धि कराकर उस प्राकृतिक प्रक्रिया के विषय में अपनी अवधारणा को सही सिद्ध कर सकें, तो कांट के अबोधगम्य 'वस्तुनिज रूप' का ख़ात्मा हो जाता है। पौधों तथा जानवरों के शरीर में उत्पन्न होने वाले रासायनिक पदार्थ उस समय तक ऐसे ही वस्तुनिज रूप बने रहे जब तक कि कार्बनिक रसायन ने एक-एक करके उनका उत्पादन प्रारंभ नहीं कर दिया और इसके परिणामस्वरूप यह 'वस्तुनिज़ रूप' हम सबकी वस्तु बन गया—उदाहरण के लिए एलज़रिन, जो मजीठ पौधे का रंजन द्रव्य होता है और जिसे अब हम खेतों में उगायी जाने वाली मजीठ की जड़ों से नहीं, बल्कि उससे कहीं ज़्यादा किफ़ायत व आसानी के साथ तारकोल से पैदा कर लेते हैं। तीन सौ वर्षों तक कोपेर्निकस का सौरमंडल प्राक्कल्पना बना रहा, संभाव्यता की उच्चतम मात्रा के बावजूद वह प्राक्कल्पना ही था। पर जब लेवेर्ये ने इस प्रणाली द्वारा उपलब्ध कराये गये तथ्यों और आँकड़ों के ज़रिये, एक अज्ञात ग्रह के अस्तित्व की अनिवार्यता ही सिद्ध नहीं कर दी, वरन् आकाश में उस स्थल का भी हिसाब लगा दिया जहाँ इस ग्रह को अनिवार्यत होना चाहिए था। जब गाल्ले ने वास्तव में इस ग्रह को ढूँढ निकाला1 तो कोपेर्निकस का सौरमंडल प्रमाणित हो गया। अगर इसके बावजूद नवकांटपंथी कांट की धारणा को जर्मनी में तथा अज्ञेयवादी ह्यूम की धारणा को इंग्लैंड में (जहाँ वस्तुतः उसका कभी लोप हुआ ही नहीं था) पुनरुज्जीवित करने की चेष्टा कर रहे हैं, तो इसका अर्थ

वैज्ञानिक दृष्टि से पीछे की ओर क़दम रखना है तथा व्यवहार में दुनिया के सामने उससे इन्कार करते हुए लुक-छिपकर भौतिकवाद को अंगीकार करना है।

पर देकार्त से हेगेल तक और हॉब्स से फ़ायरबाख़ तक के इस लंबे काल में दार्शनिक जैसा कि उनका ख़याल था— केवल विशुद्ध चिंतन से ही प्रेरित नहीं होते रहे थे। जो चीज़ उन्हें सचमुच आगे ढकेल रही थी, वह थी प्रकृति-विज्ञान एवं उद्योग की शक्तिशाली एवं निरंतर तेज़ होती हुई तूफ़ानी प्रगति। भौतिकवादियों में यह चीज़ ऊपर से ही स्पष्ट थी, पर भाववादी पद्धतियों में भी भौतिकवादी अंतर्वस्तु कां अधिकाधिक समावेश होता जा रहा था और वे मन तथा भूतद्रव्य के विरोध का सर्वेश्वरवादी ढंग से समाधान कराने की चेष्टा कर रही थीं। इस प्रकार हेगेलवादी पद्धति विधि तथा अंतर्वस्तु दोनों में जिस भौतिकवाद को प्रस्तुत करती है, वह भाववादी ढंग से सिर के बल उलटा खड़ा भौतिकवाद मात्र है।

अतः यह बात समझ में आती है कि स्टार्के फ़ायरबाख़ का चरित्र-चित्रण करते हुए चिंतन और अस्तित्व के सम्बन्ध के आधारभूत प्रश्न पर उनकी स्थिति की सबसे पहले छानबीन करते हैं। एक संक्षिप्त भूमिका के बाद, जिनमें पूर्ववर्ती—ख़ासकर कांट के बाद के— दार्शनिकों के विचारों की आवश्यक रूप से शब्दजाल पूर्ण दार्शनिक भाषा में विवेचना की गयी है और जिसमें हेगेल को—उनकी कृतियों के कुछ अंशों को मात्र रूपवादी मान्यता देकर—उससे कहीं कम सम्मान दिया गया है जिसके वह अधिकारी हैं फ़ायरबाख़ के 'अधिभूतवाद' के विकासक्रम का ब्यौरेवार वर्णन किया गया हैं; जैसा कि इस दार्शनिक की इस विषय से सम्बन्धित कृतियों में यह विकास क्रम सिलसिलेवार ढंग से प्रतिबिंबित होता है। कहना होगा कि यह वर्णन विशद तथा स्पष्ट रूप से बड़े अध्यवसाय के साथ किया गया है। हालाँकि पूरी पुस्तक की ही तरह यह हिस्सा भी भारी-भरकरम दार्शनिक शब्दावली से—जो हर जगह बिल्कुल अनिवार्य नहीं है—लदा पड़ा है और जितना कम उसका रचयिता किसी एक ही पद्धति की शैली का या स्वयं फ़ायरबाख़ की शैली का प्रयोग करता है तथा जितना अधिक वह उसमें एकदम भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों की शब्दावली भर देता है (विशेषतः उनकी जो अपने आपको दार्शनिक कहती हैं तथा महामारी की तरह फैल रही हैं), उसका प्रभाव उतना ही अधिक विघ्नकर हो जाता है।

फ़ायरबाख़ का विकास क्रम एवं हेगेलवादी का—यह सच है कि वह शुद्ध हेगेलवादी कभी नहीं थे भौतिकवादी दार्शनिक में विकसित-रूपांतरित होने का क्रम है; एक ऐसा क्रम है, जो विकास की एक ख़ास सीढ़ी पर पहुँचकर उनके पूर्ववर्ती दार्शनिक की भाववादी पद्धति से पूरी तरह सम्बन्ध विच्छेद को आवश्यक बना देता है। अदम्य शक्ति के साथ फ़ायरबाख़ इस समझ की ओर अग्रसर होते हैं कि हेगेल का पूर्वसांसारिक 'निरपेक्ष विचार' अर्थात् जगत के

अस्तित्व में आने के पहले से 'तार्किक प्रवर्गों के पूर्व-अस्तित्व' की धारणा किसी अलौकिक स्रष्टा के अस्तित्व में विश्वास के विचित्र अवशेष से अधिक कुछ भी नहीं है और यह भौतिक, इंद्रियगोचर जगत्, जिसके हम स्वयं अंग हैं— एकमात्र वास्तविकता है तथा हमारी चेतना एवं हमारा चिंतन—वे चाहे कितने भी अतींद्रिय क्यों न जान पड़ते हों— एक भौतिक, शारीरिक अवयव यानी मस्तिष्क की उपज हैं। भूतद्रव्य मस्तिष्क की उपज नहीं बल्कि मस्तिष्क एवं भूतद्रव्य की उच्चतम उपज मात्र है। यह निस्संदेह विशुद्ध भौतिकवाद है पर यहाँ पहुँचकर फ़ायरबाख़ रुक जाते हैं। वह परंपरागत दार्शनिक पूर्वाग्रह से — ऐसे पूर्वाग्रह से जो भौतिकवाद की अंतर्वस्तु के प्रति नहीं बल्कि उसके नाम मात्र के प्रति है— छुटकारा पाने में असफल हो जाते हैं। वह कहते हैं :

"मेरे लिए भौतिकवाद मानवीय सार-तत्व तथा ज्ञान की इमारत की नींव है, पर मेरे लिए यह वही चीज़ यानी ख़ुद इमारत नहीं है, जो वह संकीर्णतर अर्थ में, शरीर क्रिया-विज्ञानी तथा प्रकृति-विज्ञानी के लिए उदाहरणार्थ मोलेशात के लिए है तथा इनके दृष्टिकोण एवं व्यवसाय के अनुरूप अनिवार्य रूप से जो ख़ुद इमारत है। पीछे जाया जाये तो मैं भौतिकवाद से पूर्णतया सहमत हूँ पर आगे जाया जाये तो नहीं।"[1]

यहाँ पर फ़ायरबाख़ भूतद्रव्य तथा मन (मस्तिष्क) के सम्बन्ध की एक निश्चित अवधारणा पर आधारित एक आम विश्व दृष्टिकोण के रूप में भौतिकवाद को, उस ख़ास रूप के साथ गड्डमड्ड कर देते हैं, जिसमें यह विश्व दृष्टिकोण एक ख़ास ऐतिहासिक अवस्था में, यानी 18वीं शताब्दी में अभिव्यक्त हुआ था। इतना ही नहीं, वह इसे भौतिकवाद के उस पिछले अधकचरे रूप के साथ गड्डमड्ड कर देते हैं जिसमें 18वीं शताब्दी का भौतिकवाद प्रकृति विज्ञानियों व चिकित्सा शास्त्रियों के मस्तिष्क में आज भी चला आ रहा है तथा जिसका प्रचार छठे दशक के दौरान बुख़नर फ़ोग्ट तथा मोलेशात किया करते थे। परन्तु भाववाद की तरह ही भौतिकवाद भी विकास की कई अवस्थाओं से होकर गुज़रा है। प्रकृति विज्ञान के क्षेत्र तक की प्रत्येक युगांतरकारी खोज के साथ उसे अपना रूप बदलना पड़ा है। इतिहास के भी भौतिकवादी हो जाने पर यहाँ भी उसके विकास का नया मार्ग खुल गया है।

पिछली शताब्दी का भौतिकवाद प्रधानतः यांत्रिक था, क्योंकि उस समय सभी प्रकृति विज्ञानों में एक यांत्रिकी ही— और वह भी केवल ठोस (खगोलीय तथा पार्थिव) पिंडों की यांत्रिकी, संक्षेप में गुरुत्वाकर्षण की यांत्रिकी— ही निश्चित परिसमाप्ति तक पहुँची थी। रसायन विज्ञान उस समय अपनी शैशवास्था (फ़्लोजिस्टन सिद्धांत के रूप में) में ही था।

1. एंगेल्स फ़ायरबाख़ के सूत्रों को उद्धृत कर रहे हैं। उद्धरण स्टार्के की पुस्तक 'लुडविग फ़ायरबाख़' (स्टुटगर्ट, 1885, पृ. 166) से लिया गया है।

जीव- विज्ञान भी अभी तक पालने से बाहर नहीं निकला था। वनस्पति एवं पशु जीवों की अभी बिल्कुल मोटे तौर पर ही छानबीन हुई थी और केवल यांत्रिक कारणों का परिणाम कहकर उनकी व्याख्या की जाती थी। देकार्त की निगाह में जो पशु था, वही 18वीं शताब्दी के भौतिकवादियों की निगाह में मनुष्य था— यानी एक मशीन। एकमात्र यांत्रिकी की प्रक्रियाओं के मानदंड का रासायनिक एवं जैव प्रक्रियाओं पर प्रयोग— जिन प्रक्रियाओं में यांत्रिकी के नियम बेशक लागू रहते हुए भी उच्चतर नियमों द्वारा पृष्ठभूमि में ढकेल दिये जाते हैं— क्लासिकीय फ्रांसीसी भौतिकवाद की प्रथम विशिष्ट परन्तु, उस समय अनिवार्य परिसीमा को निर्मित करता है।

इस भौतिकवाद की दूसरी परिसीमा का कारण यह था कि वह जगत् को एक ऐसी प्रक्रिया के रूप में, ऐसे भूतद्रव्य के रूप में— जो ऐतिहासिक विकास के सतत् क्रम से गुज़र रहा है— समझने में असमर्थ था। यह उस समय के प्रकृति-विज्ञान के स्तर और इससे संबद्ध अधिभूतवादी अर्थात् द्वंद्वात्मकता-विरोधी तर्कना पद्धति के अनुरूप ही था। इतना विदित था कि प्रकृति शाश्वत् रूप से गतिमान है पर उस समय की धारणाओं के अनुसार यह गति शाश्वत् रूप से चक्राकार थी; इसलिए वह एक बिंदु से कभी भी डिगती ही नहीं थी। बार-बार उससे एक जैसे ही परिणामों का जन्म होता था। उस काल में यह अवधारणा अनिवार्य थी। सौरमंडल[1] के उद्‌भव के सम्बन्ध में कांट का सिद्धांत हाल ही में प्रतिपादित हुआ था और अभी तक वह कुतूहल का ही विषय बना हुआ था। पृथ्वी के विकास का इतिहास— भूविज्ञान— अभी तक सर्वथा अज्ञात था और यह अवधारणा कि प्रकृति जगत् के आज के प्राणी एक लंबे समय के अनुक्रम—जिसमें सरल से जटिल की ओर प्रगति हुई है— के परिणाम हैं, उस समय वैज्ञानिक रूप से प्रस्तुत ही नहीं की जा सकती थी। इसलिए प्रकृति के बारे में यह अनैतिहासिक दृष्टि अनिवार्य थी। जब हेगेल में भी यही दृष्टि मिलती है, तो 18वीं शताब्दी के दार्शनिकों को उलाहना देने का तो हमारे पास और भी कम आधार रह जाता है। हेगेल के कथनानुसार प्रकृति विचार का 'अन्य संक्रमण' मात्र होने के कारण काल में विकास करने में असमर्थ है— वह केवल दिक् में ही अपने नाना रूपों का विस्तार कर सकती है, जिस कारण वह अपने में समाहित विकास के सभी चरणों को एक ही समय में तथा एक-दूसरे के साथ-साथ प्रदर्शित करती है और इसीलिए वह एक जैसी प्रक्रियाओं की शाश्वत् पुनरावृत्ति के लिए अभिशप्त है। काल के बाहर दिक् में विकास— जबकि काल में विकास हर विकास की एक बुनियादी शर्त है को बेतुकेपन को हेगेल ने प्रकृति के ऊपर ऐन उस वक़्त थोपा जबकि भू-विज्ञान, भ्रूण-

1. यहाँ कांट द्वारा निहारिक की प्राक्कल्पना की चर्चा की गयी है, जिसके अनुसार सौरमंडल की उत्पत्ति प्रारम्भिक निहारिका से हुई थी।

विज्ञान, वनस्पति एवं पशुओं का शरीर विज्ञान तथा कार्बनिक रसायन का विकास हो रहा था और जबकि हर जगह इन नये विज्ञानों के आधार पर ऐसे सिद्धांत अस्तित्व में आ रहे थे (उदाहरणार्थ गेटे और लामार्क), जिनमें परवर्ती विकास का अद्भूत पूर्वाभास मिलता था। लेकिन चूँकि पद्धति का यही तक़ाजा था, इसलिए विधि को पद्धति के ख़ातिर ख़ुद के साथ ही धोखा करना पड़ा।

इतिहास के क्षेत्र में भी यही अनैतिहासिक अवधारणा प्रचलित थी। यहाँ मध्य काल के अवशेषों के विरुद्ध चल रहे संघर्ष ने दृष्टि को धुंधला बना दिया। मध्य युग के विषय में धारणा यह थी कि— वह एक हज़ार वर्ष की सार्विक बर्बरता का ऐसा काल था— जिसने इतिहासक्रम को भंग कर दिया था। मध्य युग में हुई महान् प्रगति को यूरोपीय संस्कृति के क्षेत्र के विस्तार को—वहाँ जीवित रहने की क्षमता से संपन्न महान् राष्ट्रों के एक-दूसरे के निकट आकार ग्रहण करने को तथा अंततः 14वीं व 15वीं शताब्दियों की विशाल तकनीकी प्रगति को देखा तक नहीं गया। इस प्रकार महान् ऐतिहासिक अंतःसंबंधों की बुद्धिसम्मत असंभव बना दी गयी। इतिहास अधिक-से-अधिक दार्शनिकों के काम आने वाले दृष्टांतों तथा उदाहरणों का संकलन मात्र बनकर रह गया।

बाज़ारू उपदेशक, जो जर्मनी में छठे दशक में भौतिकवाद की फेरी लगाते (प्रचार-कार्य करते) थे, अपने उस्तादों की इन हदबंदी को क़तई पार नहीं कर पाये। प्रकृति-विज्ञान की इस बीच की समस्त उपलब्धियाँ उनके लिए केवल जगत् के सृष्टिकर्त्ता के विरुद्ध नये प्रमाण प्रस्तुत करने के काम ही आती रहीं। दरअसल, भौतिकवाद के सिद्धांत को आगे विकसित करने में उन्होंने कोई रुचि दिखायी भी नहीं। यद्यपि भाववाद पतन की अंतिम सीमा पर पहुँच चुका था तथा 1848 की क्रांति उस पर प्राणांतक प्रहार कर चुकी थी, फिर भी उसे यह संतोष था कि भौतिकवाद उस समय उससे भी नीचे गिरा हुआ था। फ़ायरबाख़ ने जब इस भौतिकवाद की ज़िम्मदारी लेने से मना कर दिया तो उन्होंने कुछ ग़लत नहीं किया, पर फिर भी उन्हें इन घुमक्कड़ उपदेशकों के सिद्धांतों का सामान्य भौतिकवाद के साथ तालमेल नहीं करना चाहिए था।

यहाँ दो बातों का उल्लेख अवश्य किया जाना चाहिए। एक तो यह कि फ़ायरबाख़ के जीवन-काल में भी प्रकृति-विज्ञान में अभी उफ़ान की वह प्रचंड प्रक्रिया चल ही रही थी, जो पिछले पंद्रह वर्षों के दौरान सापेक्षिक स्पष्ट निष्कर्ष तक पहुँच गयी थी। इतने बड़े पैमाने पर नये-नये तथ्य प्राप्त हुए जिनका अब तक अनुमान भी संभव न था, परन्तु इन सब में अंतः सम्बन्ध क़ायम करना और ऐसा करके धड़ाधड़ हो रही खोजों की इस अस्त-व्यस्तता में व्यवस्था ला पाना अभी हाल ही में संभव हो चुका है। यह सही है कि फ़ायरबाख़ के जीवन-

काल में ही ये तीनों निर्णायक खोजें हो चुकी थीं; कोशिका, ऊर्जा का रूपांतरण तथा क्रमिक विकास का सिद्धांत—जिसे डार्विन के सिद्धांत का नाम दिया गया था। पर देहात में अकेला पड़ा दार्शनिक विज्ञान की इस उन्नति का भला किस प्रकार निरन्तर अध्ययन कर पाता, जिससे वह इन चीज़ों का सटीक मूल्यांकन कर सकता; जबकि स्वयं प्रकृति-विज्ञानी भी अभी इन खोजों के विषय में विवाद उठा रहे थे, या अभी तक वे यह नहीं जान पाये थे कि किस प्रकार उनका समुचित उपयोग किया जाये? इसके लिए जर्मनी की दुखद स्थिति ही हर प्रकार से दोषी है, जिसके फलस्वरूप पांडित्य प्रदर्शन करने वाले टुच्चे क़िस्म के सारसंग्रहवादी तो दर्शन-पीठों पर आसीन हो गए थे, जबकि उन सबसे कहीं ऊँचे (बल्लियों ऊँचे) क़द के फ़ायरबाख़ जैसे व्यक्ति को एक छोटे से गाँव में देहाती जीवन बिताकर अपनी प्रतिभा को नष्ट करना पड़ रहा था। अतः यदि प्रकृति की वह ऐतिहासिक अवधारणा, जो अब संभव हो गयी थी और जिसने फ्रांसीसी भौतिकवाद से एकांगीपन को एकदम ख़त्म कर दिया था, फ़ायरबाख़ की पहुँच के बाहर ही रही तो यह उनका दोष नहीं है।

दूसरे, फ़ायरबाख़ का यह कहना बिल्कुल सही है कि केवल प्राकृतिक-वैज्ञानिक भौतिकवाद सचमुच 'मानवीय ज्ञान की इमारत की नींव है, पर वह स्वयं इमारत नहीं है।' क्योंकि हम प्रकृति में ही नहीं, बल्कि मानव समाज में भी रहते हैं तथा उसका भी अपने विकास का इतिहास और विज्ञान है, जो प्रकृति के इतिहास व विज्ञान से किसी प्रकार कम महत्त्व का नहीं होता। अतः प्रश्न समाज के विज्ञान का अर्थात् ऐतिहासिक और दार्शनिक विज्ञान कहे जाने वाले विज्ञानों के कुल योग का, भौतिकवादी नींव के साथ तालमेल बिठाने का तथा उसके ऊपर उसे पुनःनिर्मित करने का था। पर यह कर पाना फ़ायरबाख़ के भाग्य में नहीं बदा था। 'नींव' के बावजूद वह यहाँ परंपरागत भाववादी बेड़ियों में बँधे-जकड़े रह गये। इस तथ्य को उन्होंने इन शब्दों में स्वीकार किया है "पीछे जाया जाये तो मैं भौतिकवादियों से पूर्णतया सहमत हूँ, पर आगे जाया जाये तो नहीं।" पर फ़ायरबाख़ स्वयं ही यहाँ सामाजिक क्षेत्र में आगे नहीं बढ़ पाये—1840 या 1844 के अपने दृष्टिकोण से आगे नहीं निकल पाये और इसका कारण पुनः, ख़ास तौर पर उनका एकांतवास था जिसने उन्हें इस बात के लिए बाध्य किया चाहे— अन्य दार्शनिकों के मुक़ाबले सामाजिक संसर्ग के प्रति उनका झुकाव प्रबल था—कि वह अपने बौद्धिक दृष्टि से समकक्ष लोगों के साथ सौहार्दपूर्ण अथवा विरोधपूर्ण वाद-विवाद का रास्ता छोड़कर, अपने एकाकी मस्तिष्क से ही विचारों को जन्म दें। आगे हम विस्तार से देखेंगे कि वह इस क्षेत्र में कितने भाववादी बने रहे।

यहाँ इतना और जोड़ दिया जाना चाहिए कि स्टार्के ने फ़ायरबाख़ के भाववाद को ग़लत स्थान पर खोजने की कोशिश की है।

"फ़ायरबाक़ भाववादी हैं, वह मानव जाति की प्रगति में विश्वास करते हैं" (पृ. 19)। "संपूर्ण की नींव, संपूर्ण की निचली संरचना भाववाद ही है। यथार्थवाद हमारे लिए अपनी भाववादी प्रवृत्तियों का अनुसरण करते हुए, चूकों से (तथा विपथगमन से भी) अपने बचाव का साधन मात्र है। क्या करुणा, प्रेम और सत्य एवं न्याय का आग्रह आदर्श शक्तियाँ नहीं हैं?" (पृ. 111)

पहली बात तो यह कि भाववाद का अर्थ यहाँ आदर्श लक्ष्यों के अनुसरण के अलावा और कुछ नहीं है। किन्तु निश्चय ही इनका वास्ता अधिक-से-अधिक कांट के भाववाद तथा उनके 'निरपेक्ष आदेश' से था। कांट स्वयं अपने दर्शन को 'अनुभवातीत भाववाद' की संज्ञा देते थे, इसलिए नहीं कि उन्होंने उसमें नैतिक आदर्श की भी विवेचना की है, बल्कि एकदम भिन्न कारणों से, जिनका स्मरण स्टार्के को अवश्य होगा। यह अंधविश्वास कि भाववादी दर्शन नैतिक अर्थात् सामाजिक आदर्शों में आस्था पर आधारित है, दर्शन के क्षेत्र के बाहर जर्मन कूपमंडूकों के बीच उत्पन्न हुआ है, जिन्होंने शिलर की कविताओं में से दार्शनिक संस्कृति के चन्द टुकड़े अपनी आवश्यकतानुसार रट-रटाकर याद कर लिये थे। कांट के सर्वथा अशक्त 'निरपेक्ष आदेश' (अशक्त इसलिए कि वह असंभव की माँग करता है और इस कारण कभी कोई यथार्थता ग्रहण नहीं कर पाता) की इतनी सख़्त आलोचना और किसी ने नहीं की, थिलर द्वारा प्रचारित अप्राप्य आदर्शों के प्रति कूपमंडूकता-मय भावुकतापूर्ण भक्ति का ऐसा निर्ममतापूर्ण उपहार और किसी ने नहीं किया, जितना ख़ास तौर से— संपूर्णतया भाववादी हेगेल ने किया (उदाहरणार्थ, देखिये उनकी कृति 'घटनाक्रिया विज्ञान')[1]।

दूसरे, इस तथ्य की ओर हम क़तई आँखें बन्द नहीं कर सकते कि हर चीज़ जो मनुष्य को कुछ करने के लिए प्रेरित करती है, अनिवार्यतः उनके मस्तिष्क से होकर गुज़रती है—यहाँ तक कि खाना-पीना भी मस्तिष्क के माध्यम से प्रेषित भूख-प्यास की संवेदना के परिणामस्वरूप आरम्भ किया जाता है और फिर उसी प्रकार मस्तिष्क के माध्यम से संप्रेषित संतुष्टि की संवेदना के परिणामस्वरूप समाप्त किया जाता है। मनुष्य पर बाह्य जगत् के प्रभाव स्वयं को उसके मस्तिष्क में अभिव्यक्त करते हैं, वे उसमें भावनाओं, विचारों, आवेगों या संकल्पों के रूपों, संक्षेप में 'भाववादी प्रवृत्तियों' के रूप में प्रतिबिंबित करते हैं और इस रूप में वे 'आदर्श शक्ति' बन जाते हैं। तब यदि मनुष्य को इसलिए भाववादी मान लिया जाये कि वह 'भाववादी प्रवृत्तियों' का अनुसरण करता है और स्वीकार करता है कि 'आदर्श शक्तियों' का उसके ऊपर प्रभाव है, तो ऐसी स्थिति में ऐसा प्रत्येक मनुष्य जो प्रकृत रूप से विकसित है, जन्मजात भाववादी भी है, फिर भी क्या कोई व्यक्ति भौतिकवादी बन सकता है?

1. यह कृति 'Phenomenology' पहली बार बंबर्ग और वर्त्सबर्ग में 1807 में प्रकाशित हुई थी।

तीसरे, इस विश्वास का कि मानव जाति कम-से-कम इस समय कुल मिलाकर एक प्रगतिशील दिशा में आगे बढ़ रही है, भाववाद और भौतिकवाद के बीच विरोध से कोई सरोकार नहीं है। फ्रांसीसी भौतिकवादी, तटस्थेश्वरवादी[1] वाल्तेयर और रूसो की तरह इस बात में एक प्रकार का मतांधतापूर्ण विश्वास करते थे और प्रायः इसके लिए उन्होंने ज़बर्दस्त वैयक्तिक क़ुर्बानियाँ भी दी थीं। यदि किसी ने 'सत्य एवं न्याय के आग्रह' (इन शब्दों को इनके अच्छे अर्थ में लेते हुए) के लिए अपना पूरा जीवन अर्पित कर दिया था तो वह उदाहरणार्थ— दिदेरो था। इसलिए स्टार्के जब इस सबको भाववाद घोषित करते हैं, तो इससे केवल यही सिद्ध होता है कि भौतिकवाद शब्द तथा दोनों प्रवृत्तियों के बीच संपूर्ण विरोध, उनके तईं समस्त अर्थ खोकर अर्थशून्य हो गया है।

असलियत यह है कि इस विषय में स्टार्के— चाहे अचेतन रूप से ही— भौतिकवाद शब्द के ख़िलाफ़ पादरियों द्वारा किये गये दीर्घकालीन कुत्सा-प्रचार के कारण कूपमंडूकों के प्रचलित, परंपरागत पूर्वाग्रह के सामने अक्षम्य रूप से झुक गये हैं। कूपमंडूक के लिए भौतिकवाद शब्द का अर्थ है— पेटूपन, पियक्कड़पन, नेत्रों की वासना, शरीर की वासना, दंभ, धन-लिप्सा, तृष्णा, लोलुपता, मुनाफ़ाखोरी और स्टाक एक्सचेंजों की ठगबाज़ी—संक्षेप में वे सब कुत्सित दुर्गुण, जिनमें वह पर्दे की आड़ में स्वयं लिप्त रहता है और भाववाद शब्द का अर्थ वह सदाचार, लोकोपकार और साधारणतः 'एक बेहतर दुनिया' में विश्वास समझता है, जिसकी वह औरों के सामने डींगें हाँकता है, पर जिसमें ज़्यादा-से-ज़्यादा वह तभी विश्वास करता है, जब वह ख़स्ताहाल होता है या जब अपनी 'भौतिकवादी' ज़्यादतियों के परिणामस्वरूप दिवालिया हो जाता है। उसी समय वह अपना यह प्रिय राग अलापता है : मनुष्य क्या है? आधा जानवर और आधा फ़रिश्ता।

इसे छोड़ दें, तो स्टार्के के कोलाहलकारी सहायक प्रोफ़ेसरों—के जिन्हें आज कल जर्मनी में दार्शनिकों की संज्ञा दी जाती है—हमलों के विरुद्ध फ़ायरबाख़ की रक्षा करने में बड़ा कष्टसाध्य परिश्रम किया है। जो लोग क्लासिकीय जर्मन दर्शन की इस पश्चोत्पत्ति में रुचि रखते हैं, उनके लिए बेशक यह महत्त्व की चीज़ है: स्वयं स्टार्के को यह आवश्यक प्रतीत हुआ होगा, पर पाठकों को हम इस सब में नहीं घसीटेंगे।

1. एक धार्मिक-दार्शनिक मत के अनुयायी, जो ईश्वर को निर्वैयक्तिक सत्ता, संसार का आदि कारण मानते हैं परन्तु प्रकृति तथा मानव जीवन में ईश्वरीय हस्तक्षेप को नहीं मानते। सामंतवादी तथा धार्मिक मत के बोलबाले की परिस्थितियों में तटस्थेश्वरवाद कभी-कभार तर्कना-दृष्टिकोण प्रदर्शित करते हुए मध्ययुगीन धर्ममत की आलोचना तथा पुरोहितों की परजीविता और घोर अज्ञानता की भी भर्त्सना करता था। किन्तु साथ ही वे चर्च के साथ समझौते की नीति अपनाते और जनसाधारण के लिए उसकी उपयोगिता बताते थे।

तीन

फ़ायरबाख़ का असली भाववाद, उनके धर्म तथा आचार-नीति संबंधी दर्शन तक आते-आते मुखर हो जाता है; वह धर्म का उन्मूलन करना क़तई नहीं चाहते, वह तो उसे परिपूर्णता प्रदान करना चाहते हैं। वह तो धर्म में दर्शन तक को समाविष्ट करा देना चाहते हैं।

"मानव जाति के विभिन्न युगों की विशिष्टता (पृथकत्व) केवल धार्मिक परिवर्तनों के माध्यम से ही व्यंजित होती है। कोई भी ऐतिहासिक तभी आधारभूत बनता है जब उसकी जड़ें मनुष्यों के हृदयों में उतर जाती हैं। हृदय धर्म का रूप नहीं है, जो कि धर्म को हृदय में भी विद्यमान रहना ही चाहिए; हृदय तो धर्म का सार-तत्त्व होता है।"[1] (स्टार्के द्वारा उद्धृत, पृ. 168)।

फ़ायरबाख़ के मतानुसार धर्म मानव-मानव के बीच रागानुराग पर आधारित, हृदय पर आधारित संबंध है; ऐसा संबंध जिसने अभी तक अपने सत्य की तलाश वास्तविकता की एक भव्य (पर कल्पना पर आधारित) दर्पण-छवि में की है। एक या अनेक देवों के माध्यम से, मानवीय गुणों की काल्पनिक छायामूर्तियों के माध्यम से किन्तु अब वह बिना किसी मध्यस्थता के, उसे सीधे 'मैं' और 'तू' के प्रेम में पा रहा है। अतः फ़ायरबाख़ के लिए यौन प्रेम उनके नये धर्म के व्यवहार का सर्वोच्च रूप नहीं भी हो तो उसके सर्वोच्च रूपों में से एक तो अवश्य ही बन जाता है।

प्रेम पर आधारित, मानव-मानव के— तथा ख़ासकर स्त्री-पुरुष के— संबंधों का अस्तित्व उतना ही पुराना है जितना कि मानव जाति का अस्तित्व। यौन प्रेम ने ख़ासतौर से पिछले आठ सौ वर्षों के दौरान विकास करके एक ऐसा महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है, जिसने उसे इस काल की समूची कविता का अनिवार्य केन्द्र-बिन्दु बना दिया है। विद्यमान प्रतिष्ठापित फ़र्मों ने राज्य द्वारा विनियमित यौन प्रेम को यानी विवाह क़ानूनों को उच्चतर धार्मिक प्रतिष्ठा प्रदान करने तक स्वयं को सीमित रखा है। यदि ये सारे धर्म कल मिट जायें, तो भी प्रेम तथा मैत्री के व्यवहार में रत्ती भर फ़र्क़ नहीं पड़ेगा। जैसा 1793-1798 के बीच फ्रांस में हुआ था, जब वहाँ ईसाई धर्म वस्तुतः इस तरह विलुप्त हो गया था कि नेपोलियन तक उसे बिना विरोध एवं कठिनाइयों के पुनर्स्थापित कर पाने में असमर्थ रहे और इस बीच की काल-अवधि में किसी नये स्थानापन्न धर्म (फ़ायरबाख़ द्वारा सुझाये गये धर्म के अर्थ में) की आवश्यकता तक महसूस नहीं की गयी।

---

1. यह वाक्य फ़ायरबाख़ की कृति 'दर्शन की मूल प्रस्थापनाएँ : परिवर्तन की परमावश्यकता' से उद्धृत किया गया है, जो लाइप्जिग में 1874 में प्रकाशित हुई थी।

इस संदर्भ में फ़ायरबाख़ के भाववाद का अर्थ यह है : वह मानव-मानव के बीच पारस्परिक रुझानों पर आधारित संबंधों को— जैसे यौन प्रेम, मित्रता, करुणा, आत्मोत्सर्ग आदि को उनके प्रकृत रूप में यानी उन्हें किसी ख़ास धर्म से जोड़े बगैर— स्वीकार नहीं करते बल्कि उन्हें अतीत की वस्तु मानते हैं। इसके बजाय ज़ोर देकर वह कहते हैं कि ये चीज़ें अपना पूरा मूल्य तथा अर्थवत्ता तभी अर्जित कर पायेंगी जब वे धर्म के नाम पर प्रतिष्ठा पा जायेंगी। उनके लिए मुख्य बात यह नहीं है कि ये विशुद्ध मानवीय संबंध अस्तित्वमान हैं, बल्कि यह है कि इनकी एक नये, सच्चे धर्म के रूप में संकल्पना की जानी चाहिए। धर्म का ठप्पा लगने के बाद ही ये संपूर्ण अर्थवत्ता अर्जित कर पायेंगे 'रिलिजन' (धर्म) शब्द की व्युत्पत्ति religare[1] से हुई है, जिसका मूल अर्थ 'बंधन' था। इसलिए दो व्यक्तियों के बीच का हर 'बंधन' भी धर्म है; इस प्रकार के शब्द-व्युत्पत्ति संबंधी हथकंडे भाववादी दर्शन के अंतिम आश्रय हुआ करते हैं। उनके लिए असल चीज़ यह नहीं होती कि किस शब्द का उसके प्रयोग के व्यावहारिक ऐतिहासिक विकास के अनुरूप क्या अर्थ बनता है? बल्कि यह कि व्युत्पत्ति के आधार पर क्या अर्थ बनना चाहिए। अतः यौन प्रेम तथा यौन संसर्ग को दिव्य आदर्श बनाकर उच्च स्थान दे दिया जाता है। सिर्फ़ इसलिए कि कहीं 'धर्म' शब्द (जो भाववादियों की स्मृति के लिए अत्यन्त प्रिय है) भाषा से लुप्त न हो जाये। पाँचवें दशक में लुई ब्लांपंथी विचारधारा के पेरिसवासी सुधारक ठीक इसी ढंग की बातें करते थे। उनके लिए धर्मविहीन व्यक्ति दानव के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता था। वे कहा करते थे : **अच्छा, तो आपका धर्म निरीश्वरवाद है !** यदि फ़ायरबाख़ प्रकृति की मूलतः भौतिकवादी अवधारणा के आधार पर एक सच्चा धर्म खड़ा करना चाहते हैं, तो यह वैसा ही है जैसे कि आधुनिक रसायनशास्त्र को सच्ची कीमियागिरी मान लिया जाये। यदि धर्म अपने ईश्वर के बग़ैर रह सकता है, तो कीमियागिरी भी अपने पारस-पत्थर के बग़ैर रह सकती है। प्रसंगवश यह कह देना उपयुक्त ही होगा कि धर्म और कीमियागिरी के बीच घनिष्ठ संबंध है। पारस-पत्थर अनेकानेक दिव्य गुणों से युक्त होता है और ईस्वी सन् की प्रथम दो शताब्दियों में मिस्री-यूनानी कीमियागिरों ने— जैसा कि कौप्प तथा बेर्टलो द्वारा प्रस्तुत तथ्यों से सिद्ध हो चुका है— ईसाई मत के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी।

फ़ायरबाख़ का यह दावा कि "मानव जाति के विभिन्न युगों की विशिष्टतता (पृथकत्व) केवल धार्मिक परिवर्तनों के माध्यम से ही व्यंजित होती है" सरासर असत्य है। इतिहास में अभी तक महान् मोड़ केवल उन धार्मिक परिवर्तनों के साथ-साथ आये हैं, जो वर्तमान काल तक अस्तित्वमान तीन विश्व धर्मों— बौद्ध, ईसाई तथा इस्लाम— से संबंधित रहे हैं। स्वतः

---

1. बाँधना।—संपा.

स्फूर्त ढंग से उदित होने वाले पुराने क़बायली और जातीय धर्मों का स्वरूप प्रचारात्मक नहीं हुआ करता था तथा क़बीले तथा जाति की स्वतंत्रता का अंत होते ही वे अपनी प्रतिरोध शक्ति खो बैठते थे। जर्मनों के लिए पतनशील रोमन विश्व साम्राज्य तथा उसके द्वारा सद्य अंगीकृत ईसाई विश्व धर्म (जो उसकी आर्थिक, राजनीतिक और बौद्धिक अवस्थाओं से मेल खाता था) के साथ मामूली संपर्क ही पर्याप्त था। केवल इन्हीं विश्व धर्मों के संबंध में, जो कमोबेश कृत्रिम रूप से पैदा हुए थे, ख़ासकर ईसाई धर्म और इस्लाम के संदर्भ में हम देखते हैं कि अधिक आम ऐतिहासिक आंदोलनों पर धर्म की छाप पड़ी हुई है। सही मायने में सार्विक महत्त्व की क्रांतियों पर ईसाई मत का धार्मिक ठप्पा केवल पूँजीपति वर्ग की आज़ादी के संघर्ष के प्रथम चरण— तक तेरहवीं से सत्रहवीं शताब्दियों तक— सीमित रहा है, जिसे जैसा कि फ़ायरबाख़ सोचते हैं, मनुष्य के हृदय तथा मनुष्य की धार्मिक आवश्यकताओं द्वारा नहीं समझाया जा सकता, बल्कि मध्य युग के संपूर्ण विगत इतिहास द्वारा समझाया जा सकता है, जो धर्म तथा धर्मशास्त्र के अलावा अन्य किसी प्रकार की विचारधारा से अवगत न था। पर जब 18वीं शताब्दी का पूँजीपति वर्ग अपने वर्गीय दृष्टिकोण के अनुरूप उसकी अपनी पृथक विचारधारा रखने लायक़ सबल हो गया, तब उसने अपनी महान् एवं निर्णायक क्रांति— फ्रांसीसी क्रांति— सम्पन्न कर दी, जिसमें उसने मात्र क़ानूनी तथा राजनीतिक विचारों की दुहाई दी तथा धर्म के प्रश्न पर उसने वहीं तक ध्यान दिया, जहाँ तक कि वह उसके मार्ग में बाधक बना हुआ था। पर यह बात उसके दिमाग़ में आयी ही नहीं कि उसे पुराने धर्म के स्थान पर किसी नये धर्म को स्थापित करना है। सभी जानते हैं कि रोबेस्पियर अपनी कोशिश में किस तरह नाक़ामयाब रहे।[1]

अन्य लोगों के साथ हमारे संसर्ग में अब शुद्ध मानकीय भावनाओं की गुंजाइश आजकल के समाज के कारण (जिसमें हम अनिवार्यतः रहते हैं तथा जो वर्ग विरोधों तथा वर्गीय शासन पर आधरित है) काफ़ी घट चुकी है। अतः कोई कारण नहीं कि हम इन भावनाओं को धर्म के रूप में गरिमामंडित करके उसे और कम कर दें। इसी प्रकार प्रचलित इतिहास-लेखन द्वारा महान ऐतिहासिक वर्ग-संघर्षों की समझ पर, ख़ासकर जर्मनी में अब तक काफ़ी पर्दा डाला जा चुका है। अतः हमारे लिए यह क़तई आवश्यकता नहीं है कि हम इन संघर्षों के इतिहास को चर्च के इतिहास के परिशिष्ट में रूपांतरित करके उस समझ को एकदम असंभव बना दें। यहाँ यह एकदम स्पष्ट हो जाता है कि हम फ़ायरबाख़ से कितना आगे बढ़ आये हैं। प्रेम के

1. यहाँ अभिप्राय रोबेस्पियर द्वारा 'परम सृष्टि' धर्म स्थापित करने के प्रयास से है। रोबेस्पियर फ्रांसीसी पूँजीवादी क्रांति के प्रमुख नेता, ज़ैकोबिन पार्टी के नेता, क्रांतिकारी सरकार के अध्यक्ष (1793-1794) थे।

अपने नये धर्म के गुणागान को समर्पित उनकी रचना के 'सर्वश्रेष्ठ अंश' आज सर्वथा अपठनीय हो गये हैं।

फ़ायरबाख़ एक ही धर्म पर गम्भीरतापूर्वक विचार करते हैं; वह है— पश्चिम का ईसाई धर्म, जो एकेश्वरवाद पर आधारित है। वह सिद्ध करते हैं कि ईसाई धर्म का परमेश्वर मनुष्य का एक काल्पनिक प्रतिबिंब दर्पण-छवि मात्र है तथा यह परमेश्वर स्वयं ही अमूर्तकरण की लंबी प्रक्रिया की उपज है। पूर्ववर्ती अनगिनत क़बायली तथा जातीय देवताओं का सघन (सांद्रित) सार-तत्व है। इसलिए मनुष्य भी, जिसका प्रतिबिंब यह परमेश्वर है, वास्तविक मनुष्य नहीं है किन्तु उसी तरह अनेकानेक मनुष्यों का सार-तत्व है— यानी अमूर्त मनुष्य है और इसीलिए वह स्वयं एक मानस-छवि है। दरअसल, जैसे ही फ़ायरबाख़— जो हर पृष्ठ पर ऐंद्रीयता का, यथार्थता में लीन होने का उपदेश देते है— मनुष्यों के बीच यौन-संबंध के सिवा किसी अन्य संबंध का ज़िक्र शुरू करते हैं, वैसे ही उनकी बात एकदम अमूर्त हो जाती है।

इन संबंधों का केवल एक पक्ष उन्हें आकर्षित करता है, वह है— 'नैतिकता। इस जगह हेगेल की तुलना में फ़ायरबाख़ की विस्मयकारी दरिद्रता देखकर हम फिर दंग रह जाते हैं। हेगेल का नीतिशास्त्र अथवा नैतिक सिद्धांत न्याय का दर्शन है तथा उसके अंतर्गत ये विषय आते हैंः (1) अमूर्त न्याय; (2) नैतिकता; (3) सामाजिक नीतिशास्त्र और इसके अंतर्गत परिवार, नागरिक, समाज तथा राज्य आते हैं। यहाँ अंतर्वस्तु उतना ही यथार्थवादी है जितना कि रूप की दृष्टि से वह यथार्थवादी हैं, क्योंकि उनका प्रस्थान बिंदु मनुष्य है; पर वह दुनिया— जिसमें यह मनुष्य रहता है— की बिल्कुल चर्चा नहीं करते; अतः उनका मनुष्य— धर्म के दर्शन के क्षेत्र में प्रतिष्ठित प्राणि बना रहता है। इस मनुष्य का जन्म नारी से नहीं हुआ, कोश से कोश-कीट की तरह वह एकेश्वरवादी धर्मों के परमेश्वर से उत्पन्न होता है। अतः वह इतिहास-क्रम में आविर्भूत तथा उसके द्वारा निर्धारित वास्तविक जगत् में नहीं रहता। यह सही है कि अन्य मनुष्यों से उसका संसर्ग होता है, पर प्रत्येक अन्य मनुष्य भी उसी की तरह अमूर्त हैं। उनके धर्म-दर्शन तक में हमें नर और नारियाँ तो मिलती हैं, पर उनके नीतिशास्त्र में यह अंतिम भेद तक लुप्त हो जाता है। यह सच है कि फ़ायरबाख़ कभी-कभी बीच-बीच में इस तरह की बातें भी कह जाते हैं—

''महल में रहने वाला आदमी कुछ सोचता है तथा झोंपड़े में रहने वाला कुछ और।''[1]

अगर भूख या ग़रीबी के कारण आपके शरीर में कुछ माल-मसाला नहीं है, तो आपके

1. यह उद्धरण फ़ायरबाख़ की रचना 'देह तथा अंतःकरण, शरीर तथा आत्मा के द्वैतवाद के विरुद्ध' से लिया गया है।

मस्तिष्क में, मन में और हृदय में नैतिकता के लिए भी कुछ माल–मसाला नहीं रहेगा।[1]''
''राजनीति को ही हमारा धर्म होना चाहिए।''[2]

पर इन नीतिवाक्यों से कुछ भी हासिल करने की क्षमता फ़ायरबाख़ में एकदम नहीं है। ये केवल जुमले बने रहते हैं तथा स्टार्के तक को स्वीकार करना पड़ता है कि राजनीति फ़ायरबाख़ के लिए एक अलघ्य सीमा थी और उनके लिए ''समाज का विज्ञान, समाजशास्त्र एक **अज्ञात प्रदेश** था।''[3]

बुराई तथा अच्छाई के वैपरीत्य की अपनी विवेचना में भी वह हेगेल की तुलना में इतने ही छिछले प्रकट होते हैं।

हेगेल कहते हैं : ''जब हम कहते हैं कि मनुष्य स्वभावतः अच्छा है, हम सोचते हैं कि हमने कोई बड़ी बात कह दी, पर हम भूल जाते हैं कि जब हम कहते हैं कि मनुष्य स्वभावतः बुरा है, तब हम कहीं ज़्यादा बड़ी बात कहते हैं।[4]

हेगेल मानते हैं कि ऐतिहासिक विकास की प्रेरक शक्ति बुराई के रूप में प्रकट होती है। इसका दोहरा अर्थ है— पहला यह कि प्रत्येक नयी प्रगति अनिवार्यतः पुनीत मानी गयी वस्तुओं के ख़िलाफ़ दूषण के रूप में दिखाई देती है, अब व्यवस्थाओं के ख़िलाफ़ विद्रोह के रूप में जो चाहे पुरानी और मृतप्राय हो चुकी हैं, पर परम्परा द्वारा अभी तक पवित्र मानी जाती हैं। दूसरा यह— कि मनुष्य की कुवृत्तियाँ लोभ तथा सत्तालोलुपता ही वर्ग–विरोध का आविर्भाव होने पर ऐतिहासिक विकास के उत्तोलक (लीवर) का काम करती हैं। यह एक ऐसा तथ्य है जिसका प्रमाण सामंतवाद तथा पूँजीवाद का इतिहास बराबर अविच्छिन्न रूप में देता जा रहा है। पर नैतिक बुराई की ऐतिहासिक भूमिका की छानबीन करने की बात फ़ायरबाख़ के दिमाग़ में भी नहीं आती। उनके लिए इतिहास एक घोर रहस्यमय प्रदेश है, जहाँ उन्हें बेचैनी का अनुभव होता है। उनकी स्वयं की यह उक्ति :

''जब मनुष्य प्रारम्भ में प्रकृति से उद्‌भूत हुआ, तब वह मात्र उसका जीव था न कि मनुष्य। मनुष्य मनुष्य की संस्कृति तथा इतिहास की उपज है।''[5]

उनके लिए यह उक्ति भी निस्सार रह जाती है।

---

1. यह उक्ति उनकी रचना 'आवश्यकता सब क़ानूनों को पार तथा मुल्तवी करती है' से ली गयी है।
2. यह वाक्य उनकी रचना 'दर्शन की मूल प्रस्थापनाएँ'। परिवर्तन की परमावश्यकता' से लिया गया है।
3. स्टार्के की पूर्वोक्त पुस्तक से।
4. यहाँ एंगेल्स हेगेल के विचारों का सार प्रस्तुत करते हैं जो मूलतः उनकी कृतियों— न्यायदर्शन तथा धर्मदर्शन में प्रतिपादन किये गये थे।
5. देखिये लुडविग फ़ायरबाख़ की रचना 'मेरी दार्शनिक आत्मकथा के कुछ चारित्रिक पहलू' जो उनकी रचनाओं के दूसरे खंड में 1846 में प्रकाशित हुई।

अतः नैतिकता के संबंध में फ़ायरबाख़ हमें जो बताना चाहते हैं वह एकदम मुख़्तसर है। सुख-प्राप्ति की उत्कंठा मनुष्य में सहजात है, अतः उसे ही समग्र नैतिकता का आधार होना चाहिए। परन्तु सुख-प्राप्ति की इच्छा पर दोहरा अंकुश होता है। पहला, हमारे कार्यों के स्वाभाविक परिणाम :- विषय भोग के बाद शैथिल्य आता है, ज़्यादतियों की लत के बाद रोग। दूसरा, उसका सामाजिक परिणाम है— यदि हम औरों की इसी प्रकार की सुख-प्राप्ति की इच्छा का सम्मान नहीं करते, तो वे अवश्य ही अपनी रक्षा करेंगे तथा फलस्वरूप हमारी स्वयं की सुख-प्राप्ति की आकांक्षाओं में विघ्न डालेंगे। इसलिए अपनी इच्छी की पूर्ति के लिए हममें अपने आचरण के परिणामों का ठीक-ठीक मूल्यांकन करने की क्षमता होनी चाहिए। पर अपनी ही तरह हमें औरों को सुख-प्राप्ति का समान अधिकार देना चाहिए। बार-बार वही प्रेम ! यही फ़ायरबाख़ की नैतिकता के आधारभूत नियम हैं; इन्हीं से अन्य सभी नियम निकलते हैं। न तो फ़ायरबाख़ के ओजस्वी उद्गार और न स्टार्के की दमदार तारीफ़ें— इन कुछ उक्तियों के पतलेपन को व घिसे-पिटेपन को छिपा सकती हैं।

मनुष्य स्वयं में निमग्न रहकर सुख-प्राप्ति की अपनी आकांक्षा की अत्यंत अपवादस्वरूप— अपने तथा दूसरे लोगों के हितार्थ तो कदापि नहीं—ही पूर्ति कर सकता है। अधिक सच बात तो यह है कि इसके लिए उसे बाह्य जगत् में निमग्न रहना चाहिए, उसके पास अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन होने चाहिए; जैसे भोजन, यौन संबंध, पुस्तकें, वार्तालाप, वाद-विवाद, कार्यकलाप, उपभोग एवं श्रम की वस्तुएँ। फ़ायरबाख़ की नैतिकता या तो यह मानकर चलती है कि संतुष्टि के ये साधन और ये वस्तुएँ प्रत्येक व्यक्ति को सहज एवं सामान्य रूप से उपलब्ध हो जाती हैं, या वह केवल अव्यावहारिक नेक सलाह प्रदान करती है, इसलिए इन साधनों से विहीन व्यक्तियों के लिए उनका मूल्य दो कौड़ी बराबर है। इस बात को फ़ायरबाख़ स्वयं स्पष्ट कर देते हैं, जब वह लिखते हैं :

''महल में रहने वाला आदमी कुछ सोचता है तथा झोंपड़े में रहने वाला कुछ और।'' अगर भूख और ग़रीबी के कारण आपके शरीर में कुछ माल-मसाला नहीं है, तो आपके मस्तिष्क में, मन में तथा हृदय में नैतिकता के लिए भी कुछ माल-मसाला नहीं रहेगा।

सुख-प्राप्ति की इच्छापूर्ति के लिए दूसरों के समान अधिकार के सम्बन्ध में हालात क्या बेहतर हैं? फ़ायरबाख़ इस अधिकार को परम अधिकार के रूप में—एक ऐसे अधिकार के रूप में जो प्रत्येक काल एवं प्रत्येक परिस्थिति में लागू होता हो—पेश किया। पर इसे वैध कब से माना जाता रहा है? क्या प्राचीन काल में दासों और स्वामियों के बीच, या मध्य युग में भू-दासों और भू-स्वामियों के बीच सुख-प्राप्ति के लिए समान अधिकार की कभी कोई बात हुई थी? क्या उत्पीड़ित वर्ग की सुख-प्राप्ति की इच्छा शासक वर्ग की सुख-प्राप्ति की इच्छा की

वेदी पर निर्ममतापूर्वक तथा 'क़ानून की ताक़त से' बलि नहीं चढ़ा दी जाती थी?. हाँ, यह चीज़ निस्सन्देह अनैतिक थी; परन्तु आजकल अधिकारों की समानता स्वीकार की जाती है। वह केवल शब्दों में स्वीकार की जाती रही है— जब से और जितने भर में पूँजीपति वर्ग सामन्तशाही के ख़िलाफ अपने संघर्ष में तथा पूँजीवादी उत्पादन के विकास के लिए सामाजिक श्रेणीगत विशेषाधिकारों को ख़त्म करने के लिए और क़ानून के समक्ष (पहले वैयक्तिक क़ानून के क्षेत्र में और फिर धीरे-धीरे सार्वजनिक क़ानून में भी) व्यक्ति की समानता को स्वीकृति देने के लिए बाध्य हुआ है। पर सुख-प्राप्ति की इच्छा भाववादी अधिकारों को पाकर रंचमात्र ही फल-फूल पाती है। सबसे अधिक वह फलती-फूलती है भौतिक साधनों को पाकर। पूँजीवादी उत्पादन इस बात का पूरा ध्यान रखता है कि समान अधिकार वालों की बहुसंख्या केवल उतना ही प्राप्त कर पाये, जितना मात्र जीवन-यापन के लिए आवश्यक हो। अतः पूँजीवादी उत्पादन अधिकांश जनता के सुख-प्राप्ति के समान अधिकार की यदि दासता और भू-दासता की तुलना में कुछ अधिक क़द्र करता है, तो वह रंचमात्र ही अधिक है। क्या हम सुख के मानसिक साधनों, शैक्षिक साधनों के संबंध में पहले की तुलना में अच्छी स्थिति में है? क्या 'सादोवा का स्कूल मास्टर'[1] भी एक विशुद्ध काल्पनिक व्यक्ति नहीं है?

इसके अतिरिक्त, फ़ायरबाख़ के नैतिकता के सिद्धांत के अनुसार शेयर बाज़ार नैतिक आचरण का सर्वोच्च देवालय है, बशर्ते कि सट्टा होशियारी से ही लगाया जाये। यदि सुख-प्राप्ति की मेरी इच्छा मुझे शेयर बाज़ार ले जाती है और वहाँ मैं अपने कार्यों के परिणामों का ठीक-ठीक अंदाज़ लगा लेता हूँ, जिसकी वजह से सुखद परिणाम ही उपलब्ध होते हैं और कोई अहित नहीं होतो— यानी मैं सट्टे में हर बार जीत जाता हूँ, तो इसका मतलब है कि मैं फ़ायरबाख़ की सीख पर चल रहा हूँ। यही नहीं, ऐसा करके मैं अन्य व्यक्ति के सुख-प्राप्ति के समान अधिकार में हस्तक्षेप भी नहीं करता क्योंकि दूसरा आदमी मेरी ही तरह स्वेच्छा से शेयर बाज़ार गया था और मेरे साथ सट्टे का कारोबार करने में उसने सुख-प्राप्ति की अपनी इच्छा का उसी तरह अनुसरण किया था, जिस तरह मैंने किया था। अब यदि वह धन हार जाता है तो उसका कार्य स्वतः अनैतिक सिद्ध हो जाता है, क्योंकि उसने ग़लत अनुमान लगाया था और चूंकि मैंने उसे वह दण्ड दिया है जिसका वह अधिकारी है, मैं आधुनिक राडामांथुस[2] की तरह गर्व से अपनी पीठ थपथपा सकता हूँ। प्रेम की भी, जहाँ तक कि वह एक भावुकतापूर्ण

---

1. आस्ट्रिया तथा प्रशा के बीच 1866 के युद्ध में सादोवा में प्रशा की विजय के बाद जर्मन पूँजीवादी लेखकों द्वारा प्रयुक्त मुहावरा, जिसका सार यह था कि प्रशा की विजय उसकी सार्वजनिक शिक्षा प्रणाली की श्रेष्ठता के कारण संभव हुई थी।
2. प्राचीन यूनानी पुराणों में वर्णित एक बुद्धिमान तथा न्यायप्रिय न्यायाधीश।

आलंकारिक शब्द मात्र नहीं है। शेयर बाज़ार में छत्रछाया रहती है, क्योंकि वहाँ प्रत्येक व्यक्ति औरों से सुख-प्राप्ति की इच्छा की सन्तुष्टि प्राप्त करता है, जो प्रेम का भी लक्ष्य है और प्रेम इसी रूप में व्यवहार में क्रियाशील भी होता है। अब यदि मैं अपने कार्यों के परिणामों का सही पूर्वानुमान करके और इसीलिए सफलतापूर्वक जुएं में दाँव लगाता हूँ, तो मैं फ़ायरबाख़ के नैतिकता के कठोरतम आदेशों की पूर्ति कर रहा हूँ। ऐसा करके लगे हाथ धनी भी बन जाता हूँ। दूसरे शब्दों में, फ़ायरबाख़ की नैतिकता आधुनिक पूँजीवादी समाज के ढाँचे के सर्वथा अनुरूप गढ़ी हुई है, भले ही फ़ायरबाख़ ऐसा न चाहते या सोचते रहे हों।

किंतु प्रेम ! हाँ, प्रेम! फ़ायरबाख़ के लिए सर्वत्र एवं सर्वदा वह चमत्कारी आराध्य देव है, जो व्यावहारिक जीवन की हर विघ्न-बाधा पर विजय पाने में सहायता करता है और वह भी एक ऐसे समाज में, जो सर्वथा विपरीत हित वाले वर्गों में विभक्त है। यहाँ पर फ़ायरबाख़ के दर्शन से उसके क्रांतिकारी चरित्र का अन्तिम अवशेष भी लुप्त हो जाता है तथा सिर्फ़ पुराना पाखण्ड व शब्दाडम्बर बचा रह जाता है : एक-दूसरे से प्यार करो— स्त्री-पुरुष, अमीर-ग़रीब का भेदभाव भुलाकर एक-दूसरे के गले लग जाओ, मेल-मिलाप का सार्वजनिक मदोन्मत्तकारी उत्सव मनाओ !

संक्षेप में, फ़ायरबाख़ के नैतिकता के सिद्धांत का भी वही हश्र हुआ, जो उनके पूर्ववर्ती सिद्धांतों का हुआ था। यह सिद्धान्त सभी कालों, सभी जनगणों तथा सभी परिस्थितियों की उपयुक्तता के लिहाज़ से बनाया गया है और ठीक इसी कारण वह कहीं भी, कभी भी लागू नहीं हो सकता। वास्तविक जगत् के सम्बन्ध में वह उतना ही शक्तिहीन है जितना की कांट का निरपेक्ष आदेश। दरअसल, हर वर्ग की, हर पेशे तक की अपनी अलग-अलग नैतिकता होती है और इसे भी वे जब सम्भव पाते हैं, बेख़ौफ़ भंग कर देते हैं। प्रेम— जिसे सबको एक सूत्र में पिरोना चाहिए, युद्धों, झगड़ों (तक़रारों), मुक़दमेबाज़ियों, घरेलू फ़सादों, तलाक़ों में तथा हरसम्भव उपाय से एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति के शोषण में अभिव्यक्त होता है।

प्रश्न यह है कि फ़ायरबाख़ ने जो सशक्त आवेग दिया, वह स्वयं उनके लिए क्यों इतना फलहीन सिद्ध हुआ? इसका सीधा-सा कारण यह है कि फ़ायरबाख़ स्वयं को अमूर्तता के जिससे उन्हें बेहद चिढ़ थी— क्षेत्र में निकालकर जीवन्त वास्तविकता के क्षेत्र में नहीं ला पाये। प्रकृति और मानव के साथ वह बड़े ज़ोर से चिपकते हैं, पर प्रकृति और मानव उनके लिए मात्र शब्द बने रहते हैं। वह वास्तविक प्रकृति तथा वास्तविक मानव के बारे में हमें निश्चित तौर पर कुछ भी बता पाने में अक्षम-असमर्थ हैं। पर फ़ायरबाख़ के अमूर्त मानव से वास्तविक मानव तक हम तभी पहुँचते हैं। जब हम उसे इतिहास में भाग लेते हुए देखते हैं। किंतु फ़ायरबाख़ ने इसका प्रतिरोध किया और इसीलिए जब 1848 का वर्ष— जिसे वह

समझ नहीं पाये— आया तो उनके लिए उनका अर्थ मात्र यह हुआ कि वास्तविक जगत् से उनका अन्तिम रूप से सम्बन्ध-विच्छेद हो गया और उन्होंने संसार त्याग कर एकान्तवास ग्रहण कर लिया। इसका भी दोष मुख्यतः जर्मनी की उन तत्कालीन परिस्थितियों के सिर है, जिन्होंने उन्हें दयनीय ढंग से जिन्दगी बिताने को अभिशप्त कर दिया।

किन्तु जो क़दम फ़ायरबाख़ ने सही उठाया, वह फिर भी उठाया तो जाना ही था। फ़ायरबाख़ के नये धर्म के केन्द्रीय तत्त्व अमूर्त मानव की उपासना के स्थान पर वास्तविक मानवों तथा उनके ऐतिहासिक विकास के विज्ञान की स्थापना तो होनी ही थी। फ़ायरबाख़ से आगे निकलकर उनके दृष्टिकोण का विकास करने के इस कार्य का श्रीगणेश 1845 में मार्क्स ने अपनी कृति '**पवित्र परिवार**' में किया।

चार

स्टॉस, बावेर, स्टर्नर, फ़ायरबाख़— जहाँ तक वे दर्शन के क्षेत्र से अलग नहीं हुए थे, हेगेलवादी दर्शन की शाखाएँ ही थे। 'ईसा की जीवनी' तथा 'मताग्रहिता' लिखने के बाद स्ट्रॉस ने रेनान की शैली में केवल दर्शन तथा धर्म के इतिहास के बारे में कुछ साहित्यिक निबन्ध लिखे। बावेर ने केवल ईसाई धर्म के इतिहास के क्षेत्र में कुछ उपलब्धियाँ हासिल कीं। स्टर्नर को प्रूदों ने बकूनिन के साथ सम्मिश्रित किया तथा इस सम्मिश्रण का नाम 'अराजकतावाद' रखा, पर इसके बावजूद स्टर्नर कुतूहल की वस्तु ही बने रहे। दार्शनिक के रूप में सिर्फ़ फ़ायरबाख़ का महत्त्व था। किन्तु उनके लिए दर्शन— जिसके बारे में यह दावा किया जाता है कि वह सभी विशेष विज्ञानों के ऊपर है तथा विज्ञानों में अन्तःसम्बन्ध स्थापित करने वाला विज्ञानों का विज्ञान है— केवल एक अलंघ्य अवरोधक एक परमपूज्य वस्तु बनकर ही नहीं रह गया, बल्कि एक दार्शनिक की हैसियत से भी वह आधा रास्ता चलकर रुक गये और नीचे भौतिकवादी तथा ऊपर भाववादी बन रहे। समालोचना के माध्यम से हेगेल की छुट्टी कर देने की क्षमता उनमें न थी। उन्होंने हेगेल को एक ओर धकेल दिया— जैसे कि वह बेकार हों, पर हेगेलवादी पद्धति के ज्ञान सागर के मुक़ाबाले में प्रेम का एक आडम्बरपूर्ण धर्म तथा एक अकिंचन एवं अशक्त नैतिकता प्रस्तुत करने के अलावा स्वयं उनकी कोई ठोस उपलब्धि नहीं है।

परन्तु हेगेलीय पंथ के विघटन के साथ एक अन्य धारा का विकास हुआ और केवल इसी धारा ने वास्तविक फल प्रदान किये हैं। यह धारा मूलभूत रूप से मार्क्स के नाम के साथ

जुड़ी हुई है।[1]

हेगेलवादी दर्शन से अलगाव यहाँ भी भौतिकवादी दृष्टि की ओर वापसी का परिणाम था। इसका अर्थ यह है कि वास्तविक जगत्—प्रकृति एवं इतिहास—को उसी रूप में समझने का संकल्प किया गया, जिस रूप में वह उन सभी लोगों को दिखाई दे, जो पूर्व कल्पित भाववादी विचार-तरंग के बग़ैर उसे देखना चाहते हैं। यह भी निश्चित कर लिया गया कि प्रत्येक भाववादी विचार-तरंग का— जिसका काल्पनिक अन्तःसम्बन्ध में नहीं, अपितु स्वयं अपने अन्तःसम्बन्ध में देखे गये तथ्यों के साथ तालमेल नहीं बैठता— निर्ममतापूर्वक परित्याग कर दिया जाये। भौतिकवाद का उससे अधिक कोई अर्थ नहीं है। इस नयी धारा की विशेषता यह थी कि यहाँ पहली बार भौतिकवादी विश्व दृष्टिकोण को सचमुच गम्भीरता के साथ लिया गया तथा ज्ञान के समस्त सम्बद्ध क्षेत्रों में सुसंगत रूप से कम-से-कम अपनी मूलभूत विशेषताओं के सम्बन्ध में जो ज़रूर ही सुसंगत रूप से अपनाया गया।

हेगेल को एक तरफ़ धकेल दिया गया, बल्कि उनके क्रांतिकारी पहलू (जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है) यानी द्वंद्वात्मक विधि को प्रस्थान बिन्दु बना दिया गया। पर हेगेलवादी रूप में यह विधि काम में लाने योग्य नहीं थी। हेगेल के मतानुसार द्वंद्ववाद विचार का स्वतः विकास है। निरपेक्ष विचार न केवल चिरकाल से विद्यमान— न जाने कहाँ— रहा है, अपितु वह सम्पूर्ण विद्यमान जगत् की असली जीवित आत्मा है। वह उन सभी प्रारम्भिक अवस्थाओं से गुज़रकर अपने रूप में विकसित होता है, जिनकी विशद् विवेचना हेगेल के 'तर्कशास्त्र' में की गयी है और जो सभी उसमें सम्मिलित हैं। तब वह प्रकृति में परिवर्तित होकर अपना अन्य संक्रमण करता है, जहाँ वह स्व-चेतना के बिना प्राकृतिक आवश्यकता के भेष में नये विकास के बीच से गुज़रता है तथा अन्ततः मनुष्य में पुनः आत्म-चेतना की ओर लौटता है। यह

---

1. यहाँ मैं कुछ व्यक्तिगत स्पष्टीकरण प्रस्तुत करने की अनुमति चाहता हूँ। इधर इस सिद्धांत में मेरे योगदान की बार-बार चर्चा हुई है, अतः इस प्रश्न के समाधान के लिए कुछ कहना मेरे लिए ज़रूरी हो गया है। मैं इससे इन्कार नहीं करता कि मार्क्स के साथ चालीस वर्षों के सहयोग के काल के दौरान तथा इससे पहले भी इस सिद्धांत की नींव रखने और विशेषकर इसे विकसित करने में मेरा एक हद तक स्वतंत्र योगदान रहा है। पर इसके अग्रणी, मूलभूत सिद्धांतों का अधिकतर भाग— ख़ासकर इतिहास और अर्थशास्त्र के क्षेत्र में— तथा सर्वोपरि इन सिद्धांतों का सटीक निरूपण मार्क्स की देन है। मेरा जो योगदान है— बहरहाल, कुछ विशेष क्षेत्रों को छोड़कर— उसकी पूर्ति मार्क्स मेरे बिना भी आसानी से कर लेते। पर मार्क्स की उपलब्धि मेरी उपलब्धि नहीं हो सकती थी। मार्क्स बाक़ी हम सभी लोगों से ऊँचे थे, अधिक दूर तक देखते थे, उनकी दृष्टि अधिक व्यापक थी और अधिक द्रुत भी। **मार्क्स महामनीषी थे, बाक़ी हम लोगों को— अधिक-से-अधिक साधारण प्रतिभासम्पन्न कहा जा सकता है।** उनके बिना यह सिद्धांत कभी वह न होता, जो वह आज है। इसलिए उस पर मार्क्स का नाम होना एकदम ठीक है— (एंगेल्स की टिप्पणी)

आत्म-चेतना फिर इतिहास में तब तक अपरिष्कृत रूप से अपना विशदीकरण शुरू करती है जब तक कि निरपेक्ष विचार अन्ततोगत्वा हेगेलवादी दर्शन में स्वयं को पुनः प्रतिष्ठित नहीं कर देता। अतः हेगेल के मतानुसार प्रकति एवं इतिहास में प्रकट होने वाला द्वन्द्वात्मक विकास — अर्थात् निम्नतर से उच्चतर की ओर—तमाम टेढ़ी-मेढ़ी गलियों तथा क्षणिक प्रतिगमनों के बीच से अपने लिए रास्ता निकाल लेने वाली स्थानांतरी गति का अन्तःकरण सम्बन्ध, अनादि काल से चले आते और न जाने किधर की ओर जाते हुए, पर हर हालत में चिन्तनशील मानव मास्तिष्क से स्वतंत्र विचार की स्व-गति की नक़ल मात्र है। इस विचारधारात्मक विकृति को दूर करना ज़रूरी था। हमने अपने मस्तिष्क में विचारों को फिर एक बार भौतिकवादी दृष्टि से देखा— उन्हें वास्तविक वस्तुओं का बिम्ब मानकर, न कि वास्तुविक वस्तुओं को इस या उस अवस्था का बिम्ब समझकर। इस प्रकार द्वन्द्ववाद बाह्य जगत् एवं मानव चिन्तन दोनों की गति के आम नियमों का विज्ञान बन गया—इन नियमों के दो समूहों का सार तत्त्व एक है, पर इस अर्थ में उनकी अभिव्यक्तियाँ भिन्न हैं कि मानव मस्तिष्क इनका सचेतन रूप से उपयोग कर सकता है, जबकि प्रकृति में—और अभी तक अधिकांशतः मानव इतिहास में भी— ये नियम अचेतन रूप से बाह्य आवश्यकता के रूप में, आकस्मिक प्रतीत होने वाली घटना क्रियाओं के एक अनन्त क्रम के मध्य स्वयं को व्यक्त करते हैं। इस तरह से विचारों की द्वंद्वात्मकता स्वयं वास्तविक जगत् की द्वंद्वात्मक गति का सचेतन प्रतिक्षेप (प्रतिवर्त्त) मात्र बन गयी और हेगेल का द्वन्द्ववाद जो सिर के बल खड़ा था उसे उलट दिया गया— या यूँ कहिये कि उसे सीधा करके पैरों के बल खड़ा कर दिया गया। विशेष रूप से उल्लेखनीय बात यह है कि इस भौतिकवादी द्वन्द्ववाद की— जो वर्षों से हमारा सर्वोत्तम औज़ार, सबसे तेज़ हथियार बना हुआ है— हम लोगों ने ही नहीं, बल्कि इससे, यहाँ तक कि हेगेल से भी स्वतंत्र रूप में— एक जर्मन मज़दूर जोजेफ़ **डीयेट्ज़गेन**[1] ने खोज की थी।

इस तरह हेगेलीय दर्शन का क्रांतिकारी पक्ष फिर ग्रहण कर लिया गया और साथ-ही-साथ भाववादी साज-सज्जा से मुक्त कर दिया गया, जिसने हेगेल को उसका सुसंगत क्रियान्वयन करने से रोका था। यह महान् मूलभूत विचार कि जगत् को पूर्व निष्पन्न (बनी बनायी) **वस्तुओं** के समुच्चय के रूप में नहीं, बल्कि **प्रतिक्रियाओं** के समुच्चय के रूप में ग्रहण किया

1. देखें 'एक शारीरिक श्रम करने वाले मज़दूर द्वारा वर्णित मानव-मस्तिष्क के कार्य का सार'। हैंबर्ग, माइस्सनर।—(एंगेल्स की टिप्पणी)

जाना (समझा जाना) चाहिए— जिसमें स्थायी वस्तुएँ ही नहीं, बल्कि उसी तरह मानव-मस्तिष्क में उनकी मानस-छवियाँ भी, यानी धारणाएँ भी सतत आविर्भाव तथा अवसान के अविरत परिवर्तन क्रम से गुज़रती हैं, जिसमें ऊपर दिखाई देने वाली सारी आकस्मिकता के और सारी अस्थायी विपरीत गतियों के बावजूद, अन्ततोगत्वा एक अग्रगति अपने लिए रास्ता बना लेती है— यह मूलभूत विचार ख़ासकर हेगेल के काल से सामान्य चेतना में इतना अधिक व्याप्त हो गया है कि इस रूप में अब उसका प्रतिवाद शायद ही कोई करेगा। पर इस मूलभूत विचार को शब्दों में स्वीकार करना एक बात है और प्रत्येक अन्वेषण क्षेत्र में वास्तव में उसका विशद प्रयोग करना एकदम दूसरी बात है। पर यदि अन्वेषण हमेशा इसी दृष्टि-बिन्दु से किया जाने लगे, तो अन्तिम समाधान एवं शाश्वत सत्य के तक़ाजे सदा के लिए ख़त्म हो जाते हैं, तब हमें समस्त अर्जित ज्ञान की अनिवार्य सीमितता का—इस बात का कि यह ज्ञान उन परिस्थितियों से परिसीमित है, जिनमें यह अर्जित किया गया था—निरन्तर बोध बना रहता है। दूसरी ओर अब पुराने, पर फिर भी अभी काफ़ी प्रचलित अभिभूतवाद के लिए अलंघ्य बनी हुई सत्य एवं असत्य, भला एवं बुरा, सदृश एवं असदृश, अनिवार्य एवं आकस्मिक के बीच की प्रतिपक्षताओं की वैधता केवल सापेक्ष है, क्योंकि आज जिसे सत्य स्वीकृत किया जाता है, उसका एक अप्रकट मिथ्या पक्ष भी है जो आगे चलकर अपने आपको उजागर करेगा; उसी प्रकार कि जैसे आज जिसे मिथ्या माना जाता है, उसका एक सत्य पक्ष भी है; जिसके कारण उसे पहले सत्य माना जा सका था। हम जानते हैं कि जिसे अनिवार्य माना जाता है कि वह सरासर आकस्मिकताओं से निर्मित है तथा जिसे आकस्मिक कहा जाता है वह अनिवार्यता का प्रच्छन्न रूप है, इत्यादि।

छानबीन एवं चिन्तन की पुरानी विधि— जिसे हेगेल 'अधिभूतवादी' कहते हैं और जो वस्तुओं को प्रदत्त, स्थिर एवं स्थायी मानकर उसकी छानबीन करती थी— एक ऐसी विधि है; जिसके अवशेष आज भी लोगों के दिमाग़ पर प्रबल रूप से छाये हुए हैं और जिसे अपने समय में अतिशय ऐतिहासिक औचित्य प्राप्त था। प्रक्रियाओं की छानबीन करने से पहले वस्तुओं की छानबीन करना आवश्यक था। यह जानने के बाद ही कि अमुक वस्तु क्या है? हम उसमें घटित होने वाले परिवर्तनों का अवलोकन कर सकते हैं। यही बात प्रकृति-विज्ञान के संबंध में थी। पुराना अधिभूतवाद जो वस्तुओं को निष्पन्न पदार्थ मानता था, एक ऐसे प्रकृति विज्ञान से उत्पन्न हुआ था, जो जीवित एवं मृत वस्तुओं को निष्पन्न पदार्थ मानकर

उसकी छानबीन किया करता था। पर जब यह छानबीन इस हद तक आगे बढ़ गयी कि अगला निर्णायक क़दम उठाना यानी स्वयं प्रकृति के अन्दर होने वाले परिवर्तनों की क्रमबद्ध छानबीन करने की अवस्था में पहुँच जाना— सम्भव हो गया, तब दार्शनिक क्षेत्र में भी अधिभूतवाद के चला-चली के दिन आ गये। वास्तव में प्रकृति-विज्ञान, जो पिछले शताब्दी के अन्त तक मुख्यतः **संग्राही** विज्ञान—बनी-बनायी वस्तुओं का विज्ञान— था, हमारी शताब्दी में सारतः **क्रम विधायक** विज्ञान—प्रक्रियाओं का तथा इन वस्तुओं के उद्भव एवं विकास का और इन समस्त प्राकृतिक प्रक्रियाओं का तथा इन वस्तुओं के उद्भव एवं विकास का और इन समस्त प्राकृतिक प्रक्रियाओं को एकसूत्र में बाँधकर उन्हें एक समष्टि का रूप देने वाले अन्तःसम्बन्ध का विज्ञान—बन गया। शरीर क्रियाविज्ञान, जो वनस्पति एवं जीव शरीर में होने वाली प्रक्रियाओं की छानबीन करता है; भ्रूण-विज्ञान, जो अलग-अलग जीवियों में जीवाणु से प्रौढ़ता तक के विकास की विवेचना करता है; भू-विज्ञान, जो पृथ्वी की सतह के क्रमिक गठन की छानबीन करता है— ये समस्त विज्ञान हमारी शताब्दी की ही उपज हैं।

परन्तु, सर्वोपरि तीन महान खोजों ने प्राकृतिक प्रक्रियाओं के अन्तःसम्बन्ध के हमारे ज्ञान को अत्यन्त वेग से आगे बढ़ाया है। पहली है उस इकाई के रूप में कोशिका की खोज जिसके गुणन एवं विभेदन से पूरा वनस्पति और जीव शरीर विकसित होता है। इस प्रकार सारे उच्चतर जीवधारियों का विकास एक ही सामान्य नियम के अधीन होना ही स्वीकार नहीं किया गया है, बल्कि कोशिका की परिवर्तन क्षमता के द्वारा यह भी ज़ाहिर हो जाता है कि जीवधारी किस प्रकार अपनी जातियाँ (स्पीशीज़) बदल सकते हैं और ऐसी अवस्था में वे किस प्रकार विकास से गुज़रते हैं, जो वैयक्तिक से अधिक होता है। दूसरी खोज है—ऊर्जा का रूपांतरण, जिसने हमें दिखा दिया है कि सभी तथाकथित शक्तियाँ जो प्रथमतः अजैव प्रकृति में क्रियाशील हैं— यांत्रिक शक्ति और उसकी पूरक तथाकथित स्थितिज ऊर्जा, ऊष्मा, विकिरण (प्रकाश या विकीर्ण ऊष्मा), विद्युत, चुंबकत्व और रासायनिक ऊर्जा— सार्वत्रिक गति की अभिव्यक्ति के विभिन्न रूप हैं, जो निश्चित अनुपातों में एक-दूसरे में परिवर्तित होते रहते हैं, जिससे जब किसी की एक मात्रा लुप्त हो जाती है, तो उसकी जगह दूसरे की एक ख़ास मात्रा अवतरित हो जाती है और इस तरह प्रकृति की सम्पूर्ण गति एक रूप से दूसरे में रूपांतरण की अनवरत प्रक्रिया में आबद्ध हो जाती है। अन्त में, डार्विन ने सम्बद्ध रूप में सर्वप्रथम यह सिद्ध किया कि प्रकृति के जैव पदार्थ, जो हमारे चारों ओर मौजूद हैं और

जिनमें मनुष्य भी शामिल हैं, थोड़े-से मूलतः एककोशिक जीवाणुओं के उद्विकास की एक लम्बी प्रक्रिया के परिणाम है। ये जीवाणु स्वयं जीव द्रव्य (प्रोटोप्लाज़्म) तथा श्वेतक (एल्बूमीन) से, रासायनिक विधि से अस्तित्व में आये।

इन तीन महान् खोजों तथा प्रकृति-विज्ञान में अन्य बहुत बड़े क़दम उठाये जाने की बदौलत हम अब प्रकृति की प्रक्रियाओं के अन्तःसम्बन्ध केवल क्षेत्र-विशेष में ही नहीं, बल्कि इन विशेष क्षेत्रों के भी अन्तःसम्बन्ध समग्रतः प्रदर्शित कर सकते हैं और इस प्रकार आनुभविक प्रकृति विज्ञान द्वारा प्रस्तुत तथ्यों के माध्यम से हम काफ़ी क्रमबद्ध रूप में प्रकृति के अन्तःसम्बन्ध का व्यापक चित्र प्रस्तुत कर सकते हैं। इस व्यापक चित्र को प्रस्तुत करने का कार्य-भार पहले तथाकथित प्राकृतिक दर्शन का हुआ करता था। इस कार्य-भार को वह इस रूप में ही पूरा कर सकता था कि असली, लेकिन अभी तक अज्ञात, अन्तःसम्बन्धों के स्थान पर काल्पनिक अन्तःसम्बन्ध प्रस्तुत करे, अप्रकट तथ्यों की कमी मनगढ़न्त बातों से पूरी करे और वास्तविक खाइयों पर ख़याली पुल बाँधे। इस प्रक्रिया-विधि के दौरान उसने अनेक बेहद शानदार विचारों की परिकल्पना की और अनेक परवर्ती खोजों का पूर्वाभास दिया; लेकिन उसने बहुत-सी ऐसी सृष्टि भी की, जो निरर्थक थी; जो अन्यथा (इससे भिन्न) हो भी नहीं सकता था। आज, जब हमें अपने समय के लिए समुचित 'प्रकृति की प्रणाली' विकसित करने के लिए प्रकृति-विज्ञान की छानबीन के निष्कर्षों को केवल द्वन्द्वात्मक रूप में अर्थात् उन्हीं के अन्तःसम्बन्ध के अर्थ में समझने की ज़रूरत है और जब इस अन्तःसम्बन्ध का द्वन्द्वात्मक स्वरूप प्रकृति विज्ञानियों के (अधिभूतवाद में दीक्षित) दिमाग़ों के भीतर चाहे उनकी इच्छा के विरुद्ध भी प्रवेश कर रहा है; तब हमें यह समझ लेना चाहिए कि प्राकृतिक दर्शन की कपालक्रिया हो चुकी है। उसे पुनरुज्जीवित करने का हर प्रयास व्यर्थ ही नहीं, बल्कि **पीछे की ओर ले जाने वाला क़दम होगा।**

पर जो बात प्रकृति के लिए सही है (जिसे विकास की ऐतिहासिक प्रक्रिया के रूप में मान्यता दी गयी है), वह उसी तरह समाज के इतिहास तथा उसकी समस्त शाखाओं पर तथा उन समस्त विज्ञानों के साकल्य पर भी लागू होती है, जो अपने आपको मानवीय (तथा दैवी) चीज़ों के अध्ययन से सम्बद्ध मानते हैं। यहाँ भी इतिहास, अधिकार, धर्म आदि के दर्शन का भी अर्थ यही था कि वास्तविक अन्तःसम्बन्ध (जो घटनाओं द्वारा प्रदर्शित होना चाहिए) की जगह दार्शनिक के दिमाग़ में गढ़ा हुआ अन्तःसम्बन्ध स्थापित किया जाये; उसका अर्थ यह था

कि इतिहास को समग्रतः तथा उसके पृथक अंशों में विचारों की (स्वभावतः सदा दार्शनिक के मनचाहे विचारों की) क्रमिक निष्पत्ति के रूप में ग्रहण किया जाये। इसके अनुसार इतिहास अचेतन, किन्तु अनिवार्य रूप से पूर्व-निर्धारित आदर्श लक्ष्य की ओर प्रगति करता था— उदाहरणार्थ हेगेल के सम्बन्ध में यह लक्ष्य उनके परम विचार की निष्पत्ति है—और इस परम विचार की ओर उसका अपरिवर्तनीय झुकाव ही इतिहास की घटनाओं का अन्तःसम्बन्ध प्रस्तुत करता था। इस प्रकार असली, चाहे अभी तक अज्ञात, अन्तःसम्बन्ध के स्थान पर एक नये, रहस्यमय विधाता को—अचेतन अथवा धीरे-धीरे चेतना ग्रहण कर रहे विधाता को— लाकर बिठा दिया गया। यहाँ भी वैसे ही, जैसे कि प्रकृति के क्षेत्र में, आवश्यकता इस बात की थी कि असली अन्तःसम्बन्धों की खोज करके इन मनगढ़न्त कृत्रिम अन्तःसम्बन्धों को कूड़े में फेंक दिया जाये— अन्ततः इस कार्य-भार का अर्थ है गति के सामान्य नियमों की खोज, जो मानव समाज के इतिहास में अपने प्रभुत्वशाली नियमों के रूप में रेखांकित करते हैं।

परन्तु एक बात में समाज के विकास का इतिहास प्रकृति के विकास के इतिहास से मूलभूत रूप में भिन्न सिद्ध होता है। प्रकृति में — जहाँ तक प्रकृति पर मनुष्य की प्रतिक्रिया की उपेक्षा करते हैं— हमें केवल अंधी, अचेतन, एक-दूसरे से टकराती हुई क्रिया-शक्तियाँ मिलती हैं, जिनकी परस्पर क्रिया के द्वारा सामान्य नियम परिचालित होते हैं। वहाँ जितने भी घटना व्यापार होते हैं— चाहे वे सतह पर दिखाई देने वाली अनगिनत प्रकटतः आकस्मिक घटनाएँ हों, या वे चरम परिणतियाँ हों, जो इन आकस्मिक घटनाओं में अन्तर्निहित नियमबद्धता की पुष्टि करती हैं— उनमें से कोई भी सचेतन रूप से इच्छित लक्ष्य की पूर्ति के रूप में नहीं होता है। इसके विपरीत, समाज के इतिहास में कार्य करने वाले लोग चेतना सम्पन्न होते हैं; वे सोच-विचार कर या आवेग से कोई काम करते हैं, उनके कार्य का एक निश्चित लक्ष्य होता है; कोई भी चीज़ बग़ैर सचेतन ध्येय के, बग़ैर किसी अभिप्रेत एवं अभीष्ट लक्ष्य के नहीं होती। लेकिन यह भेद छानबीन के लिए— विशेषकर अमुक विशेष युगों तथा घटनाओं की छानबीन के लिए— महत्वपूर्ण होते हुए भी इस तथ्य को नहीं बदल सकता कि इतिहास का क्रम सामान्य आंतरिक नियमों द्वारा अधिशासित होता है। वास्तव में यहाँ भी सभी शक्तियों के सचेतन रूप से इच्छित लक्ष्यों के बावजूद सतह पर आकस्मिकताओं का ही राज दिखायी देता है। जिसकी इच्छा की ज़ाती है, वह बिरले ही कभी होता है; अधिकांशतः अनगिनत इच्छित ध्येय आपस में टकराते हैं और एक-दूसरे के मार्ग में बाधक होते हैं; या ये लक्ष्य ऐसे होते हैं जो

आरम्भ से ही असाध्य होते हैं अथवा उनकी पूर्ति के साधन ही पर्याप्त होते हैं। इस तरह इतिहास के क्षेत्र में अनगिनत व्यक्तिगत इच्छाओं और व्यक्तिगत क्रियाओं के टकराव द्वारा एक ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जो जड़ प्रकृति के क्षेत्र में प्रचलित स्थिति के काफ़ी समान होती है। कार्यों के लक्ष्य उद्दिष्ट होते हैं, पर इन कार्यों द्वारा वास्तव में जो परिणाम निकलते हैं, वे उद्दिष्ट नहीं होते अथवा जब वे उद्दिष्ट लक्ष्य के अनुरूप जान भी पड़ते हैं, तो उनके अन्तिम फल अन्ततः उद्दिष्ट से बिल्कुल भिन्न होते हैं। ऐतिहसिक घटनाएँ भी इस प्रकार समग्रतः संयोग के अधीन ज्ञात होती हैं। पर जहाँ बाहर से सतह पर आकस्मिकता का बोलबाला दिखायी देता है, वहाँ वस्तुतः आंतरिक, अप्रकट नियमों का शासन चलता है। सवाल केवल इन नियमों का पता लगाने का है।

मनुष्य इस अर्थ में अपना इतिहास स्वयं बनाते हैं (चाहे उनका परिणाम कुछ भी हो) कि प्रत्येक व्यक्ति अपने सचेतन, इच्छित लक्ष्य अनुसरण करता है और भिन्न दिशाओं में क्रियाशील इन अनेक इच्छाओं तथा बाह्य जगत् पर उनके बहुविध प्रभावों का परिणाम ही तो इतिहास है। अतः सवाल इस बात का है कि ये बहुत से व्यक्ति चाहते क्या है? इच्छा आवेग या सोच-विचार द्वारा निर्धारित होती है। पर आवेग या सोच-विचार को निर्धारित करने वाले उत्तोलक बिल्कुल भिन्न प्रकार के होते हैं। अंशतः ये बाह्य वस्तुएँ हो सकती हैं और अंशतः भावमूलक प्रत्येक— महत्त्वाकांक्षा, 'सत्य एवं न्याय का आग्रह', व्यक्तिगत घृणा अथवा महज़ किसी क़िस्म की व्यक्तिगत सनक। पर एक ओर हम देख चुके हैं कि इतिहास में क्रियाशील अनेक व्यक्तिगत इच्छाएँ अधिकांशतः वाँछित से बिल्कुल भिन्न, प्रायः उलटे ही परिणाम उपस्थित करती हैं; अतः समग्र परिणाम के सम्बन्ध में उनका प्रेरक हेतु भी गौण हो जाता है। दूसरी ओर यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि इन प्रेरणाओं के पीछे कौन-सी उत्प्रेरक शक्तियाँ खड़ी हैं? वे ऐतिहासिक कारण क्या हैं जो कार्यरत लोगों के मस्तिष्क में इन प्रेरणाओं का रूप धारण कर लेते हैं?

पुराने भौतिकवाद ने अपने आप से यह प्रश्न कभी नहीं पूछा। उनकी इतिहास की धारणा— यदि ऐसी कोई धारणा है भी— वास्तव में परिणामवादी है; वह हर चीज़ को कार्य के प्रेरक हेतु की दृष्टि से परखता है; वह इतिहास के पात्रों को उदात्त और नीच में बाँट देता है और अक्सर इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि उदात्त लोग धोखा खाते हैं और नीचों के सिर पर विजय का सेहरा बँधता है। अतः पुराने भौतिकवाद के लिए जो निष्कर्ष उजागर होता है वह

यह कि इतिहास के अध्ययन से कोई महत्वपूर्ण सीख हासिल नहीं हो सकती, जबकि हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पुराना भौतिकवाद इतिहास के क्षेत्र में स्वयं अपने प्रति आस्थावान नहीं रह जाता क्योंकि वह इस क्षेत्र में क्रियाशील भाववादी प्रेरक शक्तियों को घटनाओं के चरम कारण मान बैठता है। वह यह छानबीन नहीं करता कि इनके पीछे क्या है? इन प्रेरक शक्तियों की प्रेरक शक्तियाँ क्या हैं? असंगति इस बात में निहित नहीं है कि **भाववादी** प्रेरक शक्तियों को मान्यता दी जाती है बल्कि इसमें कि यह छानबीन नहीं की जाती कि उनके पीछे क्या है, उनके प्रेरक कारण क्या हैं? इसके विपरीत इतिहास-दर्शन, ख़ासकर हेगेल द्वारा प्रस्तुत इतिहास-दर्शन यह मानता है कि इतिहास के मंच पर पात्रों की प्रत्यक्ष तथा वास्तविक चालक शक्तियाँ ऐतिहासिक घटनाओं के चरम कारण क़तई नहीं है, बल्कि इन शक्तियों के पीछे अन्य प्रेरक शक्तियाँ हैं जिनकी ख़ोज की जानी चाहिए। पर वह इन शक्तियों की तलाश इतिहास के भीतर नहीं करता, बल्कि उन्हें बाहर से— दार्शनिक विचारधारा से आयातित करके इतिहास के अंदर लाने की कोशिश करता है। उदाहरण के लिए— हेगेल प्राचीन यूनान के इतिहास की उसके आंतरिक अंतःसम्बन्धों के आधार पर व्याख्या करने के बजाय केवल यह कहते हैं कि वह 'सुन्दर व्यक्तित्व के रूपों' की निष्पत्ति या 'कलाकृति' की कार्यान्विति के अलावा और कुछ नहीं है।[1] इस सिलसिले में वह प्राचीन यूनानियों के बारे में अनेक सुन्दर एवं पांडित्यपूर्ण बातें कहते हैं, लेकिन सिर्फ़ इसी आधार पर हम ऐसी व्याख्या को संतोषजनक मानकर चुप नहीं बैठ सकते। इस तरह की बातें वाक्‌चातुर्य के सिवा कुछ नहीं है।

इसलिए जब प्रश्न उन प्रेरक शक्तियों की छानबीन का होता है जो सचेतन अथवा अचेतन रूप में— और ज़्यादातर अचेतन रूप में ही— इतिहास के पात्रों की प्रेरणा में पीछे छिपी रहती हैं और जो इतिहास की वास्तविक प्रेरक शक्तियाँ हैं, तब प्रश्न अलग-अलग व्यक्तियों की प्रेरणाओं का उतना नहीं होता—चाहे ये व्यक्ति कितने ही महान् क्यों न हों— जितना कि उन प्रेरक शक्तियों का बन जाता है, जो विशाल जनसमूहों को, पूरे-के-पूरे राष्ट्रों को तथा प्रत्येक राष्ट्र के पूरे-के-पूरे वर्गों को— केवल क्षणिक काल के लिए नहीं, भभककर बुझ जाने वाली पयाल की आग की तरह किसी उत्तेजक कार्रवाई के लिए नहीं, बल्कि इतिहास में महान् रूपांतरण करने वाले स्थायी कार्य के लिए गतिशील करती हैं। उन प्रेरक कारणों का पता लगाना, जो क्रियाशील जनगण और उनके नेताओं—तथाकथित महापुरुषों— के दिमाग़ में सचेतन प्रेरणा बनकर स्पष्ट या अस्पष्ट, प्रत्यक्ष या विचारधारात्मक या गरिमामंडित

---

1. देखिये- हेगेल की कृति 'दर्शन के इतिहास पर व्याख्यान', परिच्छेद-2 ।

रूप तक में प्रतिबिंबित होते हैं— यही वह अकेला रास्ता है जो हमें उन नियमों की ओर अग्रसर कर सकता है जो समग्र इतिहास में, विशेष युगों में तथा विशेष देशों में भी प्रभावशाली रहते हैं। मानव को गतिमान करने वाली हर चीज़ का उसके मस्तिष्क से होकर गुज़रना अनिवार्य है; किन्तु वह चीज़ मानव-मस्तिष्क में कौन-सी शक्ल अख़्तियार करेगी यह बहुत कुछ परिस्थितियों पर निर्भर करता है। मज़दूर अभी तक भी पूँजीवादी मशीन उद्योग से संतुष्ट नहीं है, यद्यपि वे अब मशीनों को तोड़ते नहीं, जैसा कि 1848 तक में राइन तटवर्ती प्रदेश में उन्होंने किया।

पर जहाँ पहले के युगों में इतिहास की इन प्रेरक शक्तियों की छानबीन करना—उनके तथा उनके परिणामों के अंत:संबंध जटिल एवं छिपे हुए होने के कारण—प्रायः असंभव कार्य था, वहाँ हमारे वर्तमान युग ने इन अंत : सम्बन्धों को इतना सरल बना दिया है कि पहेली बूझी जा सकती है। बड़े पैमाने के उद्योग की स्थापना के बाद से, यानी कम-से-कम 1815 की यूरोपीय शांति के बाद से यह बात इंग्लैंड में किसी के लिए रहस्य नहीं रह गयी है कि वहाँ का समूचा राजनीतिक संघर्ष दो वर्गों—अभिजातवर्गीय भू-स्वामियों तथा पूँजीपतियों—के आधिपत्य की होड़ को लेकर चल रहा है। फ्रांस में बूर्बों वंश की वापसी से वही बात देखी गयी; त्येरीं से लेकर गीज़ो, मिन्ये और थियेर तक पुनः स्थापना काल के सभी इतिहासकार सर्वत्र यही बताते हैं कि मध्य युग के बाद के फ्रांस के इतिहास को समझने की कुंजी यही तथ्य है। 1830 के बाद से दोनों ही देशों में मज़दूर वर्ग (सर्वहारा वर्ग) सत्ता के लिए होड़ में तीसरा प्रतिद्वंद्वी माना जाने लगा है। स्थितियाँ इतनी सरलीकृत हो चुकी थीं कि जानबूझकर अपनी आंखें बन्द करके ही कोई व्यक्ति इन तीन महान् वर्गों के संघर्ष तथा उनके हितों के टकराव में—कम-से-कम इन दो सबसे आगे बढ़े हुए देशों में—आधुनिक इतिहास की प्रेरक शक्ति को देखे बिना रह सकता है।

परन्तु ये वर्ग उत्पन्न कैसे हुए? यदि पहली नज़र में पहले के सामंती बड़े भू-स्वामी वर्ग की उत्पत्ति का कारण—कम-से-कम प्रारंभिक कारण— राजनीतिक ठहराना, यानी उसे ज़बर्दस्ती कब्ज़ा कर लेना कहना संभव भी था, तो पूँजीपति वर्ग तथा सर्वहारा वर्ग के सम्बन्ध में ऐसा नहीं किया जा सकता। इन दो महान् वर्गों की उत्पत्ति और उनका विकास साफ़-साफ़ एवं स्थूल रूप में विशुद्ध आर्थिक कारणों में निहित देखा व माना गया। उतना ही यह भी स्पष्ट था कि भू-स्वामियों तथा पूँजीपति वर्ग के संघर्ष में—वैसे ही, जैसे पूँजीपति वर्ग तथा सर्वहारा

वर्ग के संघर्ष में—सर्वप्रथम तथा सर्वोपरि प्रश्न आर्थिक हितों का था, जिनकी पूर्ति के लिए राजनीतिक सत्ता का उपयोग केवल साधन के रूप में किया जाना अभीष्ट था। पूँजीपति वर्ग तथा सर्वहारा वर्ग, दोनों ही आर्थिक परिस्थितियों के रूपांतरण के परिणामस्वरूप या और भी सटीकता से कहा जाये तो उत्पादन पद्धति के रूपांतरण के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुए। शिल्पसंघीय दस्तकारी से मैन्युफ़ैक्चर उत्पादन और मैन्युफ़ैक्चर उत्पादन से भाप तथा यांत्रिक शक्ति से लैस बड़े पैमाने के उद्योग में संक्रमण ने इन दो वर्गों को विकसित किया। एक ख़ास पड़ाव पर आकर पूँजीपति वर्ग द्वारा गतिमान की गयी नयी उत्पादक शक्तियाँ—प्रथमतः श्रम विभाजन तथा एक ही कारख़ाने में भिन्न-भिन्न काम करने वाले मज़दूरों का एकत्रण—तथा इन उत्पादक शक्तियों द्वारा विकसित विनिमय की परिस्थितियाँ एवं आवश्यकताएँ इतिहास द्वारा सौंपी गयीं तथा क़ानून द्वारा प्रतिष्ठित तत्कालीन उत्पादन व्यवस्था के साथ, यानी शिल्पसंघीय विशेषाधिकारों तथा सामंती समाज व्यवस्था के अन्य बहुत से व्यक्तिगत एवं स्थानीय विशेषाधिकारों (जो विशेषाधिकारों से वंचित लोगों के लिए तो वस्तुतः बेड़ियों के समान ही थे) के साथ संगत नहीं रहीं। जिन उत्पादक शक्तियों का प्रतिनिधि पूँजीपति वर्ग था, उन्होंने उत्पादन व्यवस्था—जिसके प्रतिनिधि सामंती भू-स्वामी तथा शिल्प संघों के उस्ताद-कारीगर थे—के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। परिणाम सबको पता है। इंग्लैंड में धीरे-धीरे तथा फ्रांस में एक ही प्रहार में सामंती बेड़ियाँ ध्वस्त हो गयीं। जर्मनी में यह प्रक्रिया अभी तक पूरी नहीं हुई है। परन्तु जिस प्रकार विकास के एक ख़ास पड़ाव पर पहुँचकर मैन्युफ़ैक्चर उत्पादन सामंती उत्पादन व्यवस्था के साथ टकराया था, उसी प्रकार अब बड़े पैमाने का उद्योग सामंती उत्पादन व्यवस्था के स्थान पर स्थापित पूँजीवादी उत्पादन व्यवस्था के साथ टकराया है। इस व्यवस्था तथा पूँजीवादी उत्पादन पद्धति की संकीर्ण सीमाओं से आबद्ध यह उद्योग एक ओर तो आम जनता के विशाल समूहों का उत्तरोत्तर अधिक सर्वहाराकरण कर रहा है और दूसरी ओर वस्तुओं का (जिनकी खपत नहीं होती) निरन्तर बढ़ता हुआ अंबार पैदा करता जा रहा है। अति-उत्पादन और आम ग़रीबी दोनों एक-दूसरे के कारण हैं, यह बेतुका अंतर्विरोध उसी का फल है तथा जो अनिवार्यतः इस बात का तक़ाजा करता है कि उत्पादन पद्धति में परिवर्तन लाकर उत्पादक शक्तियों को वर्तमान बेड़ियों से मुक्त किया जाये।

कम-से-कम आधुनिक इतिहास में यह तय हो चुका है कि सभी राजनीतिक संघर्ष-संघर्ष हैं और मुक्ति के सभी वर्ग-संघर्ष, अपने अनिवार्य राजनीतिक रूप के बावजूद—

क्योंकि प्रत्येक वर्ग-संघर्ष राजनीतिक संघर्ष होता है—अंततः आर्थिक मुक्ति के प्रश्न पर ध्यान केन्द्रित करते हैं। इसलिए कम-से-कम आधुनिक इतिहास में राज्य (राजनीतिक व्यवस्था) गौण है तथा नागरिक समाज (आर्थिक सम्बन्धों का क्षेत्र) निर्णायक तत्त्व है। पारंपरिक धारणा, जिसका हेगेल ने भी सम्मान किया था, के अनुसार राज्य निर्धारक तथा नागरिक समाज उसके द्वारा निर्धारित तत्त्व के रूप में देखा जाता था। प्रकटतः तो इसी आभास की पुष्टि होती है। जिस प्रकार किसी व्यक्ति के कार्यों को प्रेरित करने वाली शक्तियाँ अनिवार्यतः उसके मस्तिष्क से गुज़रती हैं और उसे क्रियाशील करने के लिए उसकी इच्छा की प्रेरणा में रूपांतरित हो जाती हैं, उसी तरह नागरिक समाज की सभी आवश्यकताओं को क़ानून के रूप में आम वैधता प्राप्त करने के लिए राज्य की इच्छा के प्रक्रम से होकर गुज़रना आवश्यक होता है, शासन चाहे किसी भी वर्ग का हो। यह विषय का रूप सम्बन्धी पहलू है जो कि स्वतः स्पष्ट है। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि—व्यक्ति की तथा राज्य की भी—इस मात्र रूपवादी इच्छा की अंतर्वस्तु क्या है और इस अंतर्वस्तु का स्रोत क्या है? क्या कारण है कि यही इच्छा की गयी और कुछ नहीं? उसकी जाँच करें तो पता चलेगा कि आधुनिक इतिहास में राज्य की इच्छा, समग्रतः नागरिक समाज की बदलती हुई आवश्यकताओं से, इस या उस वर्ग के प्रभुत्व से तथा अंततोगत्वा उत्पादक शक्तियों और विनिमय सम्बन्धों के विकास से निर्धारित होती है।

पर यदि हमारे आधुनिक काल में भी— जबकि उत्पादन तथा संचार के साधन इतने विराट रूप में विद्यमान हैं— राज्य स्वतंत्र विकास का स्वतंत्र क्षेत्र नहीं है, बल्कि एक ऐसा क्षेत्र है जिसका अस्तित्व एवं विकास अंततोगत्वा समाज के जीवन की आर्थिक अवस्थाओं पर निर्भर है, तो ज़ाहिर है कि पहले के युगों में तो यह बात और भी सही रही होगी जब मानव के भौतिक जीवन के उत्पादन साधन इतने प्रचुर नहीं थे और जब इस प्रकार के उत्पादन की आवश्यकता मनुष्य पर और भी अधिक हावी रही होगी। यदि बड़े उद्योग और रेल के इस युग में राज्य आज भी उत्पादन पर नियंत्रण रखने वाले वर्ग की आर्थिक आवश्यकताओं की संकेंद्रित रूप में अभिव्यक्ति मात्र है, तो ऐसे युग में तो यह बात और भी ऐसी रही होगी जब मनुष्य की प्रत्येक पीढ़ी को अपने कुल जीवन काल के एक और भी बड़े भाग को अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति में लगा देने के लिए विवश होना पड़ता होगा। इसलिए उसे उन पर कहीं ज़्यादा निर्भर करना पड़ता था, जितना कि हम आज रहते हैं। पहले के युगों के

इतिहास की इस दृष्टिकोण से गंभीरतापूर्वक छानबीन आरंभ करते ही इस चीज़ की पूरी पुष्टि हो जाती है, पर इसकी विवेचना यहाँ संभव नहीं है।

यदि राज्य और क़ानून आर्थिक सम्बन्धों द्वारा निर्धारित होते हैं, तो ज़ाहिर है कि नागरिक क़ानून भी उन्हीं के द्वारा निर्धारित होता है, जो व्यक्तियों के बीच मूल रूप में उनके वर्तमान आर्थिक सम्बन्धों को (जो परिस्थिति विशेष में सामान्य होते हैं) अनुमोदित करता है। पर जिस रूप में यह होता है, उसमें काफ़ी वैविध्य हो सकता है। संभव है, जैसा कि इंग्लैंड में हुआ कि उसके संपूर्ण राष्ट्रीय विकास के साथ सामंजस्य रखते हुए पुराने सामंती क़ानूनों की अंतर्वस्तु को पूँजीवादी बनाकर उनके पुराने रूपों को मुख्यतः क़ायम रखा जाये, अर्थात् सामंती नाम को सीधे पूँजीवादी अर्थ में लिया जाये। लेकिन ऐसा भी हो सकता है जैसा कि यूरोपीय महाद्वीप के पश्चिमी देशों में हुआ कि रोमन क़ानून को ही बुनियाद के रूप में अपना लिया जाय। यह क़ानून माल उत्पादन करने वाले समाज का सर्वप्रथम विश्व क़ानून है जिसमें साधारण माल–मालिकों के (ख़रीदने और बेचने वालों के, क़र्ज़दारों और महाजनों के ठेका तथा दायित्व आदि के) सभी मूलभूत क़ानूनों की बेजोड़ सूक्ष्म तथा ब्यौरेवार विवेचना की गयी है। ऐसी हालत में मौजूदा समाज, जो अभी भी निम्न–पूँजीवादी तथा अर्द्ध–सामंती समाज है, के हित में या तो यह क़ानून क़ानूनी व्यवहार (आम क़ानून) द्वारा वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के स्तर पर लाया जा सकता है, या तथाकथित प्रबुद्ध उपदेशक न्यायशास्त्रियों की सहायता से उसे मौजूदा सामाजिक स्तर के अनुरूप एक ख़ास विधि–संहिता में बदला जा सकता है— चाहे यह संहिता इन परिस्थितियों में क़ानूनी दृष्टि–बिंदु (उदाहरणार्थ प्रशा के क़ानून के संदर्भ में) से भी बुरी होगी। इस स्थिति में, हालाँकि एक महान पूँजीवादी क्रांति के बाद, उसी रोमन क़ानून की बुनियाद पर फ्रांसीसी नागरिक क़ानून जैसी पूँजीवादी समाज की क्लासिकीय विधि–संहिता को भी तैयार किया जा सकता है। अतः यदि नागरिक क़ानून के नियम समाज के आर्थिक जीवन की परिस्थितियों को केवल क़ानूनी रूप में व्यक्त करते हैं, तो वे यह काम परिस्थिति के अनुसार कभी बढ़िया और कभी घटिया ढंग से भी कर सकते हैं।

राज्य हमारे सामने मनुष्य पर हावी प्रथम विचारधारात्मक शक्ति के रूप में उपस्थित होता है। समाज भीतरी तथा बाहरी हमलों से अपने साझे हितों को सुरक्षित रखने के लिए एक निकाय निर्मित कर लेता है यह निकाय राज्य सत्ता है। अस्तित्व में आते ही यह निकाय स्वयं को समाज से स्वतंत्र कर लेता है और जितना अधिक वह किसी वर्ग–विशेष का निकाय बन जाता है तथा जितने खुले रूप में वह उस वर्ग के प्रभुत्व को लागू करता है, उतना ही वह समाज

से और भी स्वतंत्र होता जाता है। शासक वर्ग के ख़िलाफ़ उत्पीड़ित वर्ग का संघर्ष अनिवार्यतः एक राजनीतिक संघर्ष का रूप—सर्वप्रथम उस वर्ग के राजनीतिक प्रभुत्व के ख़िलाफ़ संघर्ष का रूप—धारण कर लेता है। इस राजनीतिक संघर्ष और उसके आर्थिक आधार के बीच अंतःसम्बन्ध की चेतना कुंद हो जाती है तथा कभी-कभी बिल्कुल लुप्त भी हो सकती है। यद्यपि संघर्ष में भाग लेने वालो में ऐसा पूर्णतः नहीं होता, पर इतिहासकार उसे प्रायः हमेशा ही भूल जाते हैं। रोमन जनतंत्र के भीतरी संघर्षों के प्राचीन इतिहासकारों में अकेले एप्पियन ही हमें स्पष्ट रूप में बताते हैं कि मूलतः संघर्ष का मुद्दा क्या था? वह था— भू-संपत्ति।

पर जैसे ही राज्य समाज से पृथक एक स्वतंत्र शक्ति बन जाता है, वह तुरन्त एक नयी विचारधारा को जन्म देता है। पेशेवर राजनीतिज्ञों, सार्वजनिक क़ानून के सिद्धांतकारों तथा नागरिक क़ानून के विधिवेत्ताओं का आर्थिक तथ्यों के साथ सम्बन्ध सर्वथा लुप्त हो जाता है। चूँकि हर मामले में क़ानून द्वारा प्रतिष्ठित होने के लिए आर्थिक तथ्यों को न्यायिक उद्देश्य का रूप ग्रहण करना होता है और चूँकि ऐसा करने में पहले से लागू संपूर्ण क़ानूनी व्यवस्था का ध्यान रखना ज़रूरी होता है, इसलिए परिणामस्वरूप न्यायिक रूप ही सब कुछ बना दिया जाता है तथा आर्थिक अंतर्वस्तु को नगण्य बना दिया जाता है। सार्वजनिक क़ानून और नागरिक क़ानून दो स्वतंत्र क्षेत्रों के रूप में देखे जाते हैं, जिनमें प्रत्येक का अपना अलग-अलग विकासक्रम है, प्रत्येक समस्त अंतर्विरोधों के सुसंगत निराकरण द्वारा उस क्रमबद्ध प्रस्तुतीकरण के लिए सक्षम होता है, जिसकी उसे आवश्यकता भी होती है।

इससे भी ऊँची विचारधाराएँ—अर्थात् भौतिक, आर्थिक आधार से और भी अधिक दूर विचारधाराएँ—दर्शन तथा धर्म का रूप धारण कर लेती हैं। यहाँ धारणाओं तथा उनके भौतिक अस्तित्व की अवस्थाओं का अंतःसम्बन्ध मध्यवर्ती कड़ियों के कारण अधिकाधिक पेचीदा तथा अधिकाधिक गूढ़ होता जाता है। पर अंतःसम्बन्ध विद्यमान रहता ही है। 15वीं शताब्दी के मध्य से शुरू होने वाला पूरा पुनर्जागरण क़ाल जिस तरह मूलभूत रूप में नगरों की और इसलिए बर्गरों की देन है, उसी तरह बाद का नवजाग्रत दर्शनशास्त्र भी उनकी ही देन है। उसकी अंतर्वस्तु सारतः उन विचारों की दार्शनिक अभिव्यक्ति मात्र थी जो छोटे और मँझोले बर्गरों के बड़े पूँजीपतियों में विकसित होने के साथ मेल खाते थे। विगत शताब्दी के अंग्रेजों तथा फ्रांसीसियों में—जिनमें अक्सर लोग अर्थशास्त्री होने के साथ-साथ दार्शनिक भी होते थे —यह विचारधारा साफ़तौर पर दिखाई पड़ती है। हेगेलीय दर्शन के सम्बन्ध में हम इसे पहले ही सिद्ध कर चुके हैं।

उपरोक्त बातों के अतिरिक्त अब हम संक्षेप में धर्म की विवेचना करेंगे क्योंकि वह भौतिक जीवन से सबसे दूर तथा उससे बिल्कुल स्वतंत्र दिखाई देता है। आदिम काल में मानवों की स्वयं अपनी प्रकृति तथा बाह्य प्रकृति के सम्बन्ध में भ्रांतिपूर्ण आदिम धारणाओं से धर्म की उत्पत्ति हुई। पर हर विचारधारा जन्म लेने के बाद उपलब्ध विचार-सामग्री के साथ संबद्ध रूप में विकसित होती है और इन सामग्री का और भी विकास करती है। यदि वह ऐसा नहीं करती तो वह विचारधारा—अर्थात् स्वतंत्र रूप से विकसित होते हुए और अपने ही नियमों के अधीन, स्वतंत्र सत्ताओं तथा विचारों का अनुध्यान—ही नहीं रह जाती। यह बात कि अंततः ऐसे लोगों के जीवन की भौतिक अवस्थाएँ, जिनके मस्तिष्क में यह चिन्तन प्रक्रिया चलती रहती है, इस प्रक्रिया का क्रम निर्धारित करती हैं, अनिवार्यतः इन लोगों के लिए अज्ञात बनी रहती हैं, अन्यथा सारी विचारधारा का अंत ही हो जाता। अतः ये मूल धार्मिक धारणाएँ, जो सजातीय जनगण के प्रत्येक समूह में मुख्यतया समान होती हैं, समूह के पृथक हो जाने के बाद, प्रत्येक जाति में जीवन की उन परिस्थितियों के अनुरूप जो उसके पल्ले पड़ती हैं—विशिष्ट रूप से विकसित होती हैं। अनेक जाति-समूहों के और ख़ासकर आर्यों (तथाकथित हिंद-यूरोपीय) के सम्बन्ध में यह प्रक्रिया तुलनात्मक पुराण अध्ययन द्वारा विस्तार से दर्शायी जा चुकी है। इस तरह हर जाति के भीतर गढ़ लिये गये देवता जातीय देवता थे, जिनका आधिपत्य उन प्रदेशों तक ही सीमित था, जिनके वे रक्षक थे। इस सरहद के परे अन्य देवताओं का निर्विवाद प्रभुत्व था। उनका काल्पनिक अस्तित्व तभी तक क़ायम रहा जब तक कि जाति अस्तित्वमान रही। जाति का पतन हो जाने के साथ ही उनका भी पतन हो जाता था। रोमन विश्व साम्राज्य ने, जिसके उदय की आर्थिक परिस्थितियों की जाँच करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है, पुरानी जातियों को पतन के गर्त्त में पहुँचा दिया था। पुराने जातीय देवता ही नहीं, रोम की संकीर्ण सीमाओं के अनुरूप गढ़े गये रोमन देवता भी नष्ट हो गये। विश्व साम्राज्य के पूरक के रूप में विश्व धर्म की स्थापना की आवश्यकता इस बात से स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है कि रोम में स्वदेशी देवताओं के साथ उन सभी विदेशी देवताओं को भी मान्यता देने तथा उनके लिये वेदियाँ स्थापित करने का प्रयास किया गया जो तनिक भी प्रतिष्ठित थे। पर कोई नया धर्म इस तरह से शाही फ़रमानों के ज़रिये स्थापित हो जाता। नया विश्व धर्म (ईसाई धर्म) सामान्यीकृत प्राच्य धर्मशास्त्र, ख़ासकर यहूदी धर्मशास्त्र तथा विकृत यूनानी दर्शन (उल्लेखनीय रूप से स्टोइक दर्शन) के सम्मिश्रण से चुपके-चुपके जन्म ले ही चुका था। यह धर्म मूल रूप

में कैसा था, इसे समझने के लिए परिश्रमपूर्वक खोज करने की आवश्यकता है, क्योंकि उसका अधिकृत रूप— जो हमें विरासत में मिला है— उसके राजकीय धर्म बन जाने तथा इस हेतु निकीया परिषद[1] द्वारा उसे रूपांतरित (अनुकूलित) किये जाने के बाद का है। यह तथ्य कि 250 वर्षों के बाद ही ईसाई धर्म राजकीय धर्म बन गया, पर्याप्त रूप में सिद्ध करता है कि वह युग की परिस्थितियों से कितना मेल खाता था। मध्य युग में जैसे-जैसे सामंतवाद का विकास हुआ, वैसे-वैसे धर्म उसका धार्मिक प्रतिरूप बनता गया; उसमें भी वैसा ही पद-सोपान विकसित होता गया। जब बर्गरों का उत्थान हुआ, तो सामंती कैथोलिकवाद के विरुद्ध प्रोटेस्टेंट धर्म-मतांतर का उदय हुआ। यह सबसे पहले दक्षिण फ्रांस में आल्बीजांसो[2] के बीच उस समय उत्पन्न हुआ, जब वहाँ के नगर समृद्धि की चरम सीमा पर पहुँच गये थे। मध्य युग ने धर्मशास्त्र के साथ विचारधारा के अन्य सभी रूपों—दर्शन, राजनीति, न्यायशास्त्र—को जोड़ दिया था और इन्हें धर्मशास्त्र की उपशाखाएँ बना दिया था। इस तरह उसने हर सामाजिक एवं राजनीतिक आंदोलन को धार्मिक जामा पहनने के लिए विवश कर दिया था। आम जनता की भावनाओं को एकमात्र धर्म की ख़ुराक दी गयी। इसलिए कोई भी प्रभावशाली आंदोलन करने के लिए उसके अपने हितों को धार्मिक जामे में पेश करना आवश्यक हो गया। जिस तरह बर्गरों के साथ आरंभ से ही संपत्तिहीन शहरी जन साधारण, रोज़ंदारों तथा अनेक प्रकार के नौकर-चाकरों की (उन लोगों की जो समाज की किसी मान्यताप्राप्त श्रेणी के सदस्य न थे) जमात नत्थी हो चुकी थी— जो बाद में प्रकट होने वाले सर्वहारा वर्ग की पूर्वगामी थी— उसी प्रकार यह धर्म-मतांतर भी दो हिस्सों में बँट गया (बर्गरों का नर्म धर्म-मतांतर तथा जनसाधारण का क्रांतिकारी मतांतर) जिसे बर्गर मतांतरावलंबी अंत में घृणा की दृष्टि से देखने लगे।

प्रोटेस्टेंट मतांतर की अनुन्मूलनीयता उदीयमान बर्गरों की अजेयता के अनुरूप थी। जब बर्गर काफ़ी मज़बूत हो गये, तो सामंती अभिजात वर्ग के विरुद्ध उनका संघर्ष— जो अभी

---

1. **निकीया की चर्च परिषद**— रोमन साम्राज्य के ईसाई बिशपों की पहली सार्वदेशिक परिषद, जो 325 ई. में सम्राट कांस्टेंटाइन प्रथम द्वारा एशिया माइनर के निकीया नामक नगर में बुलायी गयी थी। परिषद ने तथाकथित 'धर्मसूत्र' स्वीकृत किया, जिसे ग्रहण करना सभी ईसाइयों के लिए अनिवार्य बना दिया गया।
2. **आल्बीजांस** (आल्बी नामक नगर के नाम पर)— 12वीं और 13वीं शताब्दियों में दक्षिण फ्रांस तथा उत्तर इटली में प्रचलित धार्मिक संप्रदाय। आल्बीजांसों ने ठाठदार कैथोलिक कर्मकांड तथा पादरी पद-सोपान के विरुद्ध आंदोलन चलाया था और साथ-ही-साथ नगरों की व्यापारी तथा दस्तकार जनता की सामंतवाद से असंतुष्टि को धार्मिक रूप से व्यक्त किया गया था।

तक मुख्यतः स्थानीय पैमाने पर चलता था— जातीय आकार ग्रहण करने लगा। पहली बड़ी लड़ाई जर्मनी में हुई जो धर्म-सुधार के नाम से जानी जाती है। बर्गरों में न तो इतनी ताक़त थी और न वे इतना विकास कर पाये थे कि अपने झंडे के नीचे अन्य विद्रोही सामाजिक श्रेणियों— शहरों के जनसाधारण तथा देहात के छोटे सरदारों व किसानों— को एकजुट कर पाते। पहले तो सामंती सरदार पराजित हुए; किसानों ने विद्रोह का झंडा बुलंद किया और यह विद्रोह समूचे क्रांतिकारी संघर्ष का उच्चतम शिखर बन गया। परन्तु शहरों ने किसानों से पल्ला झाड़ लिया और इस प्रकार क्रांति सामंती नरेशों द्वारा कुचल दी गयी और उन्हें इसका पूरा लाभ मिला। इसके बाद जर्मनी इतिहास में स्वतंत्र, सक्रिय भूमिका अदा करने वाले देशों की पंक्ति से तीन शताब्दियों के लिए ग़ायब हो गया। पर जर्मनी के लूथर के साथ फ्रांसीसी काल्विन का अवतरण हुआ। एक सच्चे फ्रांसीसी की पैनी बुद्धि से काम लेते हुए काल्विन ने धर्म-सुधार आंदोलन के पूँजीवादी स्वरूप को सम्मुख रखकर चर्च का जनतंत्रीकरण तथा जनवादीकरण किया। जबकि जर्मनी में लूथरवादी धर्म-सुधार आंदोलन ने पतनशील अवस्था में पहुँचकर देश को तबाही और बरबादी की हालत में ढकेल दिया था, काल्विनपंथी आंदोलन जेनेवा में, हालैंड तथा स्काटलैंड में जनतंत्रवादियों का गौरव चिह्न (पताका) बन गया; उसने हालैंड को स्पेन तथा जर्मन साम्राज्य से मुक्त कराया तथा इंगलैंड के रंगमंच पर हो रही पूँजीवादी क्रांति के दूसरे दृश्य के लिए विचारधारात्मक परिधान प्रस्तुत किया गया। यहाँ पर काल्विनपंथ ने उस समय के पूँजीपति वर्ग के तत्कालीन हितों के सच्चे धार्मिक छद्मवेश के रूप मेंअपनी सार्थकता सिद्ध की और इसी कारण, जब 1689 में क्रांति की परिणति सामंतों के एक हिस्से तथा पूँजीपतियों के बीच समझौते में हुई[1], तो उसे पूरी मान्यता नहीं मिल सकी। इंग्लैंड का राजकीय चर्च पुनः स्थापित किया गया— लेकिन कैथोलिकवाद के अपने पुराने रूप में नहीं, जिसमें राजा पोप का स्थान भी ग्रहण कर सकता था बल्कि सुदृढ़ रूप में काल्विनपंथी बनकर उभरा। पुराना राजकीय चर्च कैथोलिकों का उल्लासमय रविवार मनाया करता था तथा काल्विन के नीरस रविवार के ख़िलाफ़ संघर्ष कर चुका था। नये पूँजीवादी द्वारा बनाये गये चर्च ने काल्विनपंथी रविवार लागू किया जो आज भी इंग्लैंड में प्रतिष्ठित है।

---

1. इंग्लैंड की 1688 की क्रांति : ब्रिटिश पूँजीवादी इतिहास-लेखन के अनुसार **गौरवपूर्ण क्रांति**। 1688 में राज्य-पर्युत्क्षेपण के फलस्वरूप स्टुअर्ट राजवंश को राजगद्दी से उतार दिया गया और औरंजवंशी विलियम को सिंहासन पर बैठाकर (1689 में) वैधानिक राजतंत्र स्थापित किया गया।

फ्रांस में अल्पसंख्यक काल्विनपंथियों का 1685 में दमन किया गया; उन्हें या तो कैथोलिक बना दिया गया या देश से खदेड़ दिया गया।[1] लेकिन इससे क्या लाभ हुआ? मुक्त चिंतक पियेर बेल की सरगर्मियाँ उस समय पूरी ओजस्विता के साथ चल रही थीं तथा 1694 में वाल्तेयर का जन्म हुआ। लुई चौदहवें की दमनकारी कार्यवाइयों ने फ्रांसीसी पूँजीपति वर्ग के लिए इस बात की आसानी ही पैदा की कि वह अपनी क्रांति धर्मरहित तथा सोलह आना राजनीतिक रूप में संपन्न कर ले। विकसित पूँजीपति वर्ग के लिए यह एकमात्र अनुकूल रूप था। राष्ट्रीय विधान सभाओं में प्रोटेस्टेंटों की जगह मुक्त चिंतक जा पहुँचे। इस तरह ईसाई धर्म ने अंतिम चरण में प्रवेश किया। वह आगे किसी भी प्रगतिशील वर्ग की आकांक्षाओं के विचारधारात्मक आवरण का काम देने के लिए अयोग्य बन चुका था। वह उत्तरोत्तर एकमात्र शासक वर्गों की संपत्ति बनता चला गया, जो कि उसका इस्तेमाल केवल शासन के साधन के रूप में, नीचे के वर्गों पर अंकुश रखने के लिए ही करते थे। इसके अतिरिक्त प्रत्येक शासक वर्ग अपने-अपने उपयुक्त धर्म का इस्तेमाल करता है—सामंती अभिजात वर्ग कैथोलिक जेसुइटवाद या प्रोटेस्टेंट कट्टरपंथ का इस्तेमाल करता है, तो उदारपंथी और उग्रपंथी पूँजीपति वर्ग तर्क-बुद्धिवाद का इस्तेमाल करता है। इससे कुछ फ़र्क़ नहीं पड़ता कि ये सज्जन अपने-अपने धर्म में आस्था रखते हैं या नहीं।

अतः हम देखते हैं : जिस तरह सभी विचारधारात्मक क्षेत्रों में परंपरा एक बड़ी रूढ़िवादी शक्ति हुआ करती है, उसी तरह धर्म में भी उसकी स्थापना होने के साथ ही परंपरागत सामग्री निरंतर विद्यमान रहती है। पर इस सामग्री में जो परिवर्तन होते हैं, वे वर्ग-संबंधों से, अर्थात् इन परिवर्तनों को संपन्न करने वाले लोगों के आर्थिक संबंधों से उद्भूत होते हैं। बस यहाँ पर इतना ही कहना पर्याप्त है।

ऊपर जो कुछ लिखा गया है, उसमें हम इतिहास की मार्क्सवादी धारणा का अधिक-से-अधिक कुछ दृष्टांतों का समावेश करते हुए एक आम ख़ाका ही पेश कर सकते थे। इसका प्रमाण स्वयं इतिहास से प्राप्त किया जा सकता है और इस संबंध में मैं इतना कहने की अनुमति चाहता हूँ कि अन्य कृतियों में यह प्रमाण पर्याप्त मात्रा में प्रस्तुत किया जा चुका है। पर जिस

---

1. 1685 में प्रोटेस्टेंटो-काल्विनपंथियों (ह्यू गनाटों) के राजनीतिक और धार्मिक उत्पीड़न (जो 17वीं शताब्दी के तीसरे दशक में प्रारम्भ हो गया था) के उग्र से उग्रतर होने के साथ, लुई चौदहवें ने 1598 में लागू किये गये नांट आदेश को (जो ह्यू गनाटों को धार्मिक विश्वास तथा कर्मकांड की स्वतंत्रता प्रदान करता था) को रद्द कर दिया। इसके कारण कई लाख ह्यू गनाट फ्रांस छोड़कर चले गये।

तरह प्रकृति की द्वंद्वात्मक धारणा समूचे प्रकृति दर्शन को अनावश्यक और असंभव बना देती है, उसी तरह उपरोक्त धारणा इतिहास के क्षेत्र में दर्शन का ख़ात्मा कर देती है। अब प्रश्न यह नहीं कि हम अंतःसंबंधों का अपने मस्तिष्क से आविष्कार करें, प्रश्न अब यह है कि उन्हें स्वयं तथ्यों के अन्दर खोजा जाये। दर्शन के लिए, जो प्रकृति एवं इतिहास से निर्वासित हो चुका है, केवल एक ही विशुद्ध चिंतन का क्षेत्र बचा रहता है— स्वयं चिन्तन प्रक्रिया के नियमों का सिद्धांत, तर्कशास्त्र और द्वंद्ववाद।

1848 की क्रांति के बाद 'शिक्षित' जर्मनी ने सिद्धांत को अलविदा कहकर व्यवहार का क्षेत्र अपनाया। शारीरिक श्रम पर आधारित छोटे पैमाने के उत्पादन तथा मैन्युफ़ैक्चर उत्पादन का स्थान वास्तविक बड़े पैमाने के उद्योग ने ले लिया। जर्मनी फिर विश्व बाज़ार में आ उपस्थित हुआ। नये लघु जर्मन साम्राज्य[1] ने कम-से-कम उन कुख्यात कुप्रथाओं का अन्त तो कर ही दिया जो इस विकास के मार्ग में रोड़े अटकाती थीं— जैसे छोटे-छोटे राज्यों की व्यवस्था सामंतवादी अवशेष तथा नौकरशाही प्रबंधन। लेकिन जिस हद तक परिकल्पी चिंतन ने अपना देवालय स्टॉक एक्सचेंज में क़ायम करने के लिए दार्शनिक अध्ययन कक्ष को छोड़ दिया, उसी हद तक 'शिक्षित' जर्मनी ने सैद्धातिक चिंतन का अपना ज़बर्दस्त—रुझान जो घोरतम राजनीतिक अपमान के दिनों में भी जर्मनी के लिए गौरव की वस्तु था—खो दिया; विशुद्ध वैज्ञानिक खोज का वह रुझान खो दिया, जो इस बात की परवाह नहीं करता था कि प्राप्त फल व्यवहार्य होगा या नहीं, कि वह पुलिस के अधिकारियों को रुष्ट तो नहीं कर देगा। यह सही है कि अधिकृत जर्मन प्रकृति-विज्ञान ने ख़ासकर विशेषीकृत अनुसंधान के क्षेत्र में अपनी स्थिति अग्रिम पंक्ति में बनाये रखी है। लेकिन अमरीका की पत्रिका 'विज्ञान' तक ठीक ही आलोचना करती है कि अलग-अलग तथ्यों के व्यापक सहसंबंध तथा नियमों के रूप में उसके सामान्यीकरण के क्षेत्र में निर्णायक उन्नति अब पहले की तरह जर्मनी में न होकर उसके बजाय, कहीं ज़्यादा इंग्लैंड में हो रही है और दर्शन समेत ऐतिहासिक विज्ञानों के क्षेत्र में सिद्धांत के प्रति पुराना निर्भीकतापूर्ण उत्साह क्लासिकीय दर्शन के साथ-साथ पूर्णतया लुप्त हो चुका है। अब उसका स्थान निस्सार सारसंग्रहवाद तथा आजीविका एवं धनोपार्जन की व्यग्र चिंता ने ले लिया है, जो कुत्सित पदलोलुपता के निम्न स्तर पर उतर आयी है। इन

1. इस पद का प्रयोग जर्मन साम्राज्य (आस्ट्रिया के बग़ैर) के लिए किया जाता है, जो 1870-1871 में फ्रांस-प्रशा युद्ध में फ्रांस पर प्रशा की विजय के फलस्वरूप स्थापित हुआ था ('लघु जर्मन साम्राज्य')।

विज्ञानों के अधिकृत प्रतिनिधि पूँजीपति वर्ग तथा मौजूदा राज्य के खुले सिद्धांतकार बन गये हैं —ऐसे समय में जब दोनों ही अपने को मज़दूर वर्ग के ख़िलाफ़ खुले विरोध में पाते हैं।

केवल मज़दूर वर्ग में सिद्धांत के प्रति जर्मन रुझान अक्षुण्ण बना हुआ है। यहाँ उसका उन्मूलन नहीं हो सकता। यहाँ बढ़िया नौकरियों की, नफ़ा कमाने की या ऊपर के लोगों का उदारता संरक्षण पाने की कोई फ़िक्र नहीं है। इसके विपरीत, जितना साहसपूर्वक तथा संकल्पपूर्वक विज्ञान आगे बढ़ता है, उतना ही वह अपने को मज़दूर वर्ग के हितों एवं उसकी आकांक्षाओं के साथ सामंजस्य की स्थिति में पाता है। वह नयी धारा, जिसने यह माना कि समाज के पूरे इतिहास को समझने की कुंजी श्रम का विकास है, आरम्भ से ही मज़दूर वर्ग की ओर उन्मुख हुई और यहाँ उसे ऐसी सहानुभूति मिली जिसे उसने मान्यता प्राप्त, अधिकृत विज्ञान से प्राप्त करने की न तो कभी चेष्टा की थी और न आशा। जर्मन मज़दूर आंदोलन ही जर्मन क्लासिकीय दर्शन का उत्तराधिकारी है।

✤ ✤

फ्रेडरिक एंगेल्स

न्यायिक समाजवाद

(अंश)

मध्य युग का विश्व दृष्टिकोण सारतः धर्मशास्त्रीय था। ईसाई धर्म ने यूरोपीय विश्व की एकता—वास्तव में अंदरूनी तौर पर अस्तित्वमान थी ही नहीं— को बाह्य तौर पर साझे सरासेन[1] शत्रु के ख़िलाफ़ को क़ायम किया। पश्चिम यूरोपीय विश्व जो सतत संसर्ग के दौरान विकासमान कुछेक राष्ट्रों के समूह से निर्मित हुआ था— की एकता कैथोलिक मत से जोड़ दिये जाने के परिणाम स्वरूप संभव हुई। यह धर्मशास्त्रीय जुड़ाव विचारों के स्तर पर ही नहीं था बल्कि वह यथार्थता में अस्तित्वमान था— न केवल पोप में, जो कि उसका राजतंत्रवादी केन्द्र था बल्कि उस चर्च में भी अस्तित्वमान था जो कि सामन्ती ढंग से तथा पद-सोपान के आधार पर संघटित किया गया था तथा जो प्रत्येक देश में लगभग एक-तिहाई भूमि का स्वामी होने के कारण सामन्ती संघटन में ज़बर्दस्त शक्ति का उपभोग कर पाने की स्थिति में था। सामन्ती भू-स्वामी होने के कारण चर्च अलग-अलग देशों के बीच की वास्तविक कड़ी बना हुआ था। चर्च के सामन्ती संघटन ने लौकिक सामन्ती राज्य प्रणाली को धार्मिक प्रतिष्ठा प्रदान की। इसके अलावा, एकमात्र शिक्षित वर्ग पादरियों का ही था। इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि चर्च मतवाद समस्त चिन्तन का आरंभ-बिन्दु तथा बुनियाद बन गया। न्यायशास्त्र, प्रकृति विज्ञान, दर्शनशास्त्र का ही नहीं, बल्कि सब कुछ का विवेचन इस बात को आधार बनाकर किया जाता था कि उसकी अन्तर्वस्तु चर्च के सिद्धांतों का समर्थन करती थी अथवा विरोध।

पर सामंतवाद के गर्भ में पूँजीपति वर्ग की शक्ति विकसित हो रही थी। बड़े भू-स्वामियों के विरोध में एक नया वर्ग प्रकट हुआ। शहरी बर्गर मुख्यतः माल के उत्पादक व

---

1. रोमन साम्राज्य की सीरियाई सीमाओं पर रहने वाला घूमंतु क़बीला जिसका उल्लेख धर्मयुद्धों से संलग्नता के कारण भी मिलता है। यहाँ उसे यूरोपीय देशों के साझे शत्रु के रूप में चित्रित किया गया है।— (अनु.)

व्यापारी मात्र थे, जब सामंती उत्पादन पद्धति काफ़ी हद तक इस विशिष्टता पर आधारित थी कि एक सीमित क्षेत्र के भीतर पैदा किये गये उत्पाद का—आंशिक रूप से उत्पादकों द्वारा तथा आंशिक रूप से सामंती सरदार द्वारा— स्व-उपभोग कर लिया जाता था। सामंतवादी ढाँचे के आधार पर गठित व निर्मित कैथोलिक विश्व दृष्टिकोण इस नये वर्ग के लिए तथा उसके उत्पादन एवं विनिमय की शर्तों के लिए अब उपयुक्त नहीं रह गया था। फिर भी यह वर्ग लम्बे समय तक धर्मशास्त्र का बन्दी बना रहा। 13वीं से लेकर 17वीं शताब्दी तक उनसे जुड़े हुए तथा धार्मिक नारों के तहत जितने भी धर्म-सुधार आंदोलन तथा संघर्ष चलाये गये, वे सैद्धांतिक पक्ष की दृष्टि से, शहरी बर्गरों व जनसाधारण तथा इन दोनों के सम्पर्क में आकर विद्रोही बने किसानों द्वारा बार-बार उठायी गयी इस माँग के अलावा कुछ नहीं थे कि पुराने धर्मशास्त्रीय दृष्टिकोण को बदली हुई आर्थिक परिस्थितियों तथा नये वर्ग की जीवन-स्थितियों के अनुरूप रूपांतरित व अनुकूलित किया जाये। लेकिन वैसा किया नहीं जा सका। इंग्लैंड में धर्म-पताका आख़िरी बार 17वीं शताब्दी में फहरायी। पचास वर्ष भी नहीं गुज़रे थे कि फ्रांस में नया विश्व दृष्टिकोण जिसे पूँजीपति वर्ग का क्लासिकीय विश्व दृष्टिकोण बनना था यानी **न्यायिक विश्व दृष्टिकोण** खुले तौर पर प्रकट हुआ।

इस विश्व दृष्टिकोण का अर्थ था— धर्मशास्त्रीय दृष्टिकोण का लौकिकीकरण। मानव-अधिकार ने जड़ मतवाद का, दैवीय अधिकार का स्थान ले लिया और राज्य ने चर्च का स्थान ले लिया। आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियों—जिनके बारे में पहले यह कल्पना कर ली गयी कि उन्हें चर्च तथा जड़ मतवाद ने उत्पन्न किया था, क्योंकि चर्च तथा जड़ मतवाद उन्हें स्वीकृति प्रदान करते थे—के बारे में अब यह माना जाने लगा कि उन्हें राज्य द्वारा उत्पन्न किया गया है तथा वे क़ानून की नींव पर निर्मित हैं। क्योंकि सामाजिक पैमाने पर तथा अपने पूरे विकसित रूप में किया जाने वाला माल-विनिमय (ख़ासकर पेशगी तथा उधार के माध्यम से) पेचीदा पारस्परिक अनुबंध सम्बन्धों को जन्म देता है इसलिए ऐसे आमतौर लागू किये जा सकने वाले नियमों व सिद्धांतों की माँग करता है, जो केवल समुदाय द्वारा ही दिये जा सकते हैं। यानी राज्य द्वारा निर्धारित क़ानून के प्रतिमान, जिनके बारे में यह कल्पना की गयी थी कि वे (क़ानून के प्रतिमान) आर्थिक तथ्यों से उत्पन्न नहीं होते थे बल्कि राज्य द्वारा विधिवत संस्थापन से पैदा होते थे। चूँकि स्पर्द्धा—जो स्वतंत्र माल उत्पादकों द्वारा किये जाने वाले व्यापार का बुनियादी रूप थी— बराबरी क़ायम करने की सबसे बड़ी शक्ति होती है— समानता (क़ानून के समक्ष समानता) पूँजीपति वर्ग की लड़ाई का सबसे प्रमुख नारा बन गयी। इस तथ्य ने कि सामंती सरदारों तथा उनके रक्षक निरंकुश राजतंत्र के ख़िलाफ़ इस नये उदीयमान, आकांक्षी वर्ग का संघर्ष, प्रत्येग वर्ग-संघर्ष के समान, राजनीतिक संघर्ष— यानी

राज्य पर आधिपत्य के लिए संघर्ष—ही होना था इसलिए उसे न्यायिक माँगों को आधार बनाकर लड़ा जाना आवश्यक हो गया था, **न्यायिक विश्व दृष्टिकोण** के सुदृढ़ीकरण में विशेष योगदान किया।

लेकिन पूँजीपति वर्ग ने अपने नकारात्मक प्रतिरूप, यानी सर्वहारा को जन्म दिया और उसके साथ एक नये वर्ग-संघर्ष को जन्म दिया जो कि पूँजीपति वर्ग द्वारा राजसत्ता हथियाने की प्रक्रिया पूरी करने के पहले ही छिड़ गया। जिस प्रकार अपने समय में पूँजीपति वर्ग ने परम्परा की शक्ति के असर में, अभिजात वर्ग के ख़िलाफ़ अपने संघर्ष के दौरान कुछ समय तक धर्मशास्त्रीय दृष्टिकोण को अपने से चिपकाये रखा था, उसी प्रकार सर्वहारा ने एकदम अपने प्रतिद्वंद्वी से न्यायिक दृष्टिकोण हथिया लिया और उसमें पूँजीपति वर्ग के ख़िलाफ़ हथियारों की तलाश करता रहा। सर्वहारा पार्टी के आरम्भिक तत्त्व तथा उसके सैद्धांतिक प्रतिनिधि पूरी तरह क़ानून के 'न्यायिक आधारभूमि' पर जमे रहे; सिर्फ़ एक फ़र्क़ था और वह यह कि उन्होंने अपने लिए जो क़ानून की आधारभूमि तैयार की वह पूँजीपति वर्ग की आधारभूमि से भिन्न थी। एक ओर समानता की माँग को विस्तार दिया ताकि सामाजिक समानता क़ानूनी समानता की अनुपूरक बन सके, तो दूसरी ओर ऐडम स्मिथ की इस प्रस्थापना से (कि श्रम समस्त सम्पदा—धन-दौलत—का स्रोत है किन्तु श्रम के फल में भू-स्वामी तथा पूँजीपति की हिस्सेदारी होना चाहिए)। यह निष्कर्ष निकाला गया कि यह बँटवारा (हिस्सेदारी) न्यायोचित नहीं है इसलिए इसे या तो समाप्त किया जाये, या मज़दूर के पक्ष में संशोधित किया जाये। किन्तु इस अहसास ने कि इस प्रश्न को क़ानून के न्यायिक आधार के भरोसे छोड़ देने मात्र से पूँजीवादी उत्पादन पद्धति द्वारा उत्पन्न दमनकारी परिस्थितियों— यानी बड़े पैमाने के उद्योग पर आधारित उत्पादन पद्धति द्वारा उत्पन्न परिस्थितियों—का ख़ात्मा किसी तरह सम्भव नहीं होता था, पहले ही सेंट साइमन, फ़ेरियर तथा ओवेन (जो कि आरम्भिक समाजवादियों के बीच प्रमुख चिन्तकों के रूप में आने जाते थे) को न्यायिक-राजनीतिक क्षेत्र पूरी तरह छोड़ने को सब प्रकार के राजनीतिक संघर्ष को व्यर्थ एवं निरर्थक घोषित करने को विवश कर दिया था।

ये दोनों ही धारणाएँ आर्थिक परिस्थितियों द्वारा पैदा की गयी मज़दूर वर्ग की मुक्ति की आकांक्षा को समुचित रूप से व्यक्त करने तथा उसे पूरी तरह समाविष्ट करने की दृष्टि से समान रूप से असन्तोषजनक थीं। श्रम के पूरे फल की माँग तथा उसी तरह समानता की माँग (जैसे ही उन्हें न्यायिक रूप से ब्यौरेवार सूत्रबद्ध किया गया तथा समस्या के मर्म— यानी उत्पादन पद्धति के रूपांतरण— को कमोबेश अनछुआ छोड़ दिया गया) असमाधेय अन्तर्विरोधों में लुप्त हो गयीं। काल्पनिक (युटोपियाई) समाजवादियों द्वारा राजनीतिक संघर्ष का अस्वीकरण

(परित्याग) साथ ही वर्ग-संघर्ष— जो उस वर्ग के कार्यकलाप का एकमात्र रूप था जिसका वे प्रतिनिधित्व करते थे—का अस्वीकरण भी था। दोनों दृष्टिकोणों ने उस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का—जिससे कि वे अस्तित्व में आये थे अमूर्तीकरण कर दिया, दोनों ने भावना को आकृष्ट किया : कुछ ने न्याय की भावना को तथा अन्य ने मानवता की भावना को। दोनों ने ही अपनी माँगों को पवित्र इच्छाओं के रूप में परिधान पहनाकर प्रस्तुत किया, जिनके बारे में यह नहीं कहा जा सकता था कि उन्हें तब ही क्यों पूरा किया जाना चाहिए था और एक हज़ार वर्ष पहले या बाद में क्यों नहीं?

मज़दूर वर्ग—जो कि सामंतवादी उत्पादन पद्धति के पूँजीवादी उत्पादन पद्धति में रूपांतरित हो जाने के परिणामस्वरूप उत्पादन के साधनों के समस्त स्वामित्व से वंचित हो गया था तथा जो पूँजीवादी उत्पादन पद्धति की क्रियाविधि द्वारा सम्पत्तिविहीनता की विरासत में प्राप्त अवस्था में नये सिरे से स्वयं को पा रहा है— पूँजीपति वर्ग के न्यायिक भ्रम में अपनी जीवन-परिस्थितियों की व्यापक अभिव्यक्ति नहीं पा सकता है। वह जीवन के हालात को सही व पूरी तरह से तभी समझ व जान सकता है जबकि वह न्यायिक-रंग के चश्मे के बग़ैर (यानी उसे उतारकर) जीवन की वास्तविकता को देखने की कोशिश करे। मार्क्स ने इतिहास की भौतिकवादी धारणा के सहारे ऐसा करने में उसकी सहायता की है— उसके सामने यह प्रमाण उपलब्ध कराकर कि मनुष्य के समस्त न्यायिक, राजनीतिक, दार्शनिक, धार्मिक तथा अन्य विचार (धारणाएँ) अन्ततोगत्वा उसके जीवन की आर्थिक परिस्थितियों से ही, उसकी उत्पादन पद्धति तथा उत्पाद के विनिमय की पद्धति से ही व्युत्पन्न होते हैं। इस प्रकार उन्होंने वह विश्व दृष्टिकोण प्रस्तुत किया जो सर्वहारा वर्ग के जीवन एवं संघर्ष की परिस्थितियों के अनुरूप है; मज़दूरों के दिमाग़ में भ्रमों की कमी ही उनके सम्पत्ति-अभाव के अनुरूप हो सकती है। यह सर्वहारा विश्व दृष्टिकोण अब दुनिया भर में छाता जा रहा है .....

एंगेल्स का पत्र जोज़ेफ ब्लाख़ के नाम

कानिग्सबर्ग में

लंदन, 21–22 सितम्बर, 1890

प्रिय महोदय,

आपका 3 ता. का पत्र अग्रेषित होकर मुझे फ़ोकस्टोन से प्राप्त हुआ। मैं इसका उत्तर इसलिए नहीं दे पाया क्योंकि तब मेरे पास सम्बन्धित पुस्तक नहीं थी। 12 ता. को घर लौटने पर मैंने इतने सारे ज़रूरी काम को अपना इन्तज़ार करते पाया कि मैं आज से पहले आपको कुछेक पक्तियाँ लिख पाने का भी समय नहीं निकाल पाया। कृपया इस स्पष्टीकरण को स्वीकार करें तथा विलम्ब के लिए क्षमा करें।

आपने उत्पत्ति[1] के पृष्ठ 19 से निष्कर्ष निकाला है कि पुनालुआन[2] परिवार के विकास की प्रक्रिया इतनी क्रमशः आगे बढ़ती हुई प्रस्तुत की गयी है कि हवाई द्वीप में राज परिवार में इस शताब्दी में भी सगे भाइयों तथा बहनों **(एक ही माँ से)** के बीच विवाह हो गये और समूचे प्राचीनकाल के दौरान हमें सगे भाइयों–बहनों के विवाह के उदाहरण मिलते हैं—ख़ासकर टॉलमियों में। किन्तु यहाँ एक ही माँ की सन्तान बहनों–भाइयों तथा एक ही पिता की सन्तान बहनों–भाइयों के बीच फ़र्क़ किया जाना चाहिए। भाई–बहन गर्भ से उत्पन्न होते हैं अतः मूल रूप से इसका अर्थ होता है मातृपक्ष से भाई–बहन। मातृसत्तात्मक समाज के ज़माने से यह भावना प्रबल एवं प्रचलित रही है कि एक ही माँ तथा अलग–अलग पिताओं के बच्चे उसी पिता तथा अलग–अलग माँओं के बच्चों की तुलना में अधिक घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होते हैं। पुनालुआन शैली का परिवार केवल पहली श्रेणी के भाई–बहनों के विवाह को ही वर्जित करता है, दूसरी श्रेणी के भाई–बहनों (जिन्हें तदनुरूप धारणा के अन्तर्गत सम्बन्धी भी नहीं

1. एंगेल्स की कृति 'परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति'।
2. वैसे इस शब्द का अर्थ है अन्तरंग सखा, सहभागी। आदिम क़बीले का नाम।

माना जाता, क्योंकि मातृसत्तात्मक अधिकार तो वर्द्धन में निहित होता है) के विवाह को नहीं। जहाँ तक मेरी जानकारी है, प्राचीन यूनान में भाई-बहनों के जिन विवाहों का उल्लेख मिलता है वे उन मामलों तक सीमित हैं जहाँ सम्बन्धित पक्षों की माँएँ अलग-अलग होती थीं या फिर उन मामलों तक जहाँ यह पक्के तौर पर पता ही नहीं लगाया गया था कि वे अलग-अलग माँओं की सन्तानें थीं और इसलिए निषिद्ध नहीं थीं। इसलिए इस तरह के विवाह पुनालुआन प्रथाओं के क़तई विपरीत नहीं हैं। आपने इस तथ्य को नज़रंदाज़ कर दिया है कि पुनालुआन काल तथा यूनानी एकनिष्ठ विवाह के काल के बीच की अवधि में मातृसत्ता से पितृसत्ता तक की छलाँग लग चुकी थी।

वाक्समुथ के अनुसार यूनानी वीर काल में :

''माता-पिताओं तथा सन्तानों के बीच सिवा विवाहित जोड़े के घनिष्ठ से घनिष्ठ सम्बन्ध के बारे में नैतिक संकोच रत्ती-भर भी नहीं।''

''क्रेटा में सगी बहन के साथ विवाह अनुचित नहीं था।''

और अंत में, स्त्राबो, ग्रंथ X के बारे में, पर इस समय मुझे वह अनुच्छेद मिल नहीं पा रहा है जिसका कारण है पुस्तक ('भूगोल'—अनु.) का अध्यायों में विभक्त न होना।

— **सगी बहन** का अर्थ (जब तक कि वह इसके विपरीत सिद्ध न हो जाये), मैं समझता हूँ पितृपक्ष की ओर से बहन।

मैं आपके प्रथम मुख्य कथन को निम्नलिखित रूप में परिवर्तित कर रहा हूँ।

इतिहास की भौतिकवादी धारणा के अनुसार, इतिहास का अन्तिम रूप से **चरम** निर्णायक तत्त्व वास्तविक जीवन का उत्पादन और पुनरुत्थान है। इससे अधिक न मार्क्स ने और न मैंने ही कभी कहा है। अतः कोई इसे तोड़-मरोड़कर यों कहे कि आर्थिक तत्त्व ही **एकमात्र** निर्णायक तत्त्व है, तो वह हमारी प्रस्थापना को निरर्थक, अमूर्त और बेतुकी शब्दावली मात्र बना देता है। आर्थिक परिस्थिति बुनियाद है, पर अधिरचना (ऊपरी ढाँचा) के विविध तत्त्व—वर्ग-संघर्ष के राजनीतिक रूप और परिणाम—विजयी वर्ग द्वारा संघर्ष में सफलता प्राप्त करने के बाद संस्थापित संविधान आदि, विविधशास्त्रीय रूप और इनके साथ इन वास्तविक संघर्षों का उनमें भाग लेने वालों के मस्तिष्कों में प्रतिबिम्ब—राजनीतिक, न्यायिक, दार्शनिक सिद्धांत, धार्मिक मत और जड़सूत्री पद्धतियों के रूप में उनका विकास—ऐतिहासिक संघर्ष के प्रक्रम पर अपना प्रभाव डालते हैं तथा बहुत से मामलों में तो उनके रूप को भी निर्धारित करते हैं। इन समस्त तत्त्वों की अन्योन्यक्रिया चलती है जिसमें आकस्मिक घटनाओं के अनन्त समूह के मध्य से (अर्थात् ऐसी चीज़ों और घटनाओं के अनन्त समूह के मध्य से जिनका आंतरिक सम्बन्ध इतना दूरवर्ती अथवा अप्रमेय होता है कि हम उसे अनुपस्थित अथवा नगण्य मान बैठ सकते हैं) आर्थिक गति अन्ततोगत्वा अनिवार्य गति के रूप में प्रकट

होती है। ऐसा न हो तो इच्छानुसार इतिहास के किसी भी युग में इस सिद्धांत को लागू करना गणित के सरलतम समीकरण को हल करने से भी आसान होता।

हम अपने इतिहास की रचना स्वयं करते हैं, पर प्रथमतः अतिनिश्चित पूर्ववृत्त (मान्यताओं) और अवस्थाओं के अंतर्गत करते हैं।इनमें आर्थिक पूर्ववृत्त और अवस्थाएँ निर्णायक होती हैं। पर राजनीतिक तथा अन्य पूर्ववृत्त एवं अवस्थाएँ आदि, यहाँ तक कि मानव-मस्तिष्क को तंग करने वाली परंपराएँ भी, एक भूमिका अदा करती हैं; हालाँकि वह निर्णायक नहीं होतीं। प्रशियाई राज्य भी ऐतिहासिक कारणों से, अंततोगत्वा आर्थिक कारणों से उद्भूत एवं विकसित हुआ। पर यह कहना निरा पांडित्य प्रदर्शन होगा कि उत्तर जर्मनी के बहुत सारे छोटे-छोटे राज्यों में से केवल ब्रनदनबर्ग के भाग्य में महान् शक्ति की भूमिका अदा करना लिखा था, जहाँ उत्तर तथा दक्षिण के आर्थिक, भाषागत (तथा धर्म सुधार के उपरांत) धार्मिक अन्तर मूर्तिमान हुए और ऐसा केवल आर्थिक आवश्यकता के कारण होना था तथा उसमें अन्य तत्त्वों का (सर्वप्रथम इस तथ्य का कि ब्रनदनबर्ग प्रशा के स्वामित्व की वजह से पोलैंड-संबंधी मामलों से और इस कारण अंतर्राष्ट्रीय संबंधों से उलझा हुआ था— ये तत्त्व भी वस्तुतः आस्ट्रियाई राजवंश के गठन में निर्णायक सिद्ध हुए थे) कोई हाथ नहीं था। जर्मनी के अतीतकालीन और समकालीन हर नन्हें राज्य के अस्तित्व की व्याख्या केवल अर्थशास्त्र के अर्थों में करने की चेष्टा करना अथवा उच्च जर्मन व्यंजन-विचलन की, जिसे सुडेट से टानस तक फैले पर्वतों के भौगोलिक विभाजन ने चौड़ा करके जर्मनी के आर-पार एक विस्तृत दरार का रूप दे दिया है, उत्पत्ति को अर्थशास्त्र की शब्दावली में समझा देने की कोशिश करना हास्यास्पद है।

दूसरी बात यह है कि इतिहास इस तरह निर्मित होता है कि अन्तिम परिणाम सदा अनेक वैयक्तिक इच्छाओं के टकरावों (द्वन्द्वों) से उत्पन्न होता है, जो स्वयं जीवन की अनगिनत विशिष्ट अवस्थाओं द्वारा निर्मित हुई होती हैं। इस प्रकार असंख्य प्रतिच्छेदक शक्तियाँ होती हैं, शक्ति के समांतर-चतुर्भुजों की एक अनन्त श्रृंखला होती है जिससे एक परिणामी उत्पन्न होता है, यही है ऐतिहासिक घटना। इसे हम एक ऐसी शक्ति की उपज के रूप में भी देख सकते हैं जो कुल मिलाकर **अचेतन रूप से** तथा इच्छा के अभाव में काम करती है। क्योंकि एक व्यक्ति जो इच्छा करता है, उसे बाक़ी सभी अवरुद्ध कर देते हैं और जो परिणाम प्रकट होता है, वह ऐसा होता है जिसकी किसी ने इच्छा नहीं की थी। इस तरह इतिहास अब तक प्राकृतिक प्रक्रिया के ढंग से अग्रसर होता आया है तथा सारतः गति के उन्हीं नियमों के अधीन होता है। लेकिन इस बात से कि वैयक्तिक इच्छाएँ, जिनमें से प्रत्येक व्यक्ति वही चाहता है जिसके लिए उस व्यक्ति का शारीरिक गठन और बाह्य, अंततः आर्थिक परिस्थितियाँ (वैयक्तिक परिस्थितियाँ अथवा आम समाज की परिस्थितियाँ) इसे प्रेरित करती हैं— वह नहीं प्राप्त करतीं जो वे चाहती हैं, बल्कि वे एक सामूहिक मध्यमान में, एक साझे

परिणामी में विलयित हो जाती हैं, यह निष्कर्ष नहीं निकाला जाना चाहिए कि उनका मूल्य शून्य के बराबर है। इसके विपरीत, उनमें से प्रत्येक इच्छा परिणामी में योगदान करती है और इस हद तक कि परिणामी में सम्मिलित होती है।

इसके अलावा मैं आपसे कहूँगा कि इस सिद्धांत का उसके मूल स्रोतों (ग्रंथों) से अध्ययन करें, दूसरों के माध्यम से नहीं। ऐसा करना वस्तुतः अधिक आसान है। मार्क्स ने ऐसी कोई चीज़ नहीं लिखी जिनमें इस सिद्धांत का हाथ न रहा हो। **लुई बोनापार्त की अठारहवीं ब्रूमेर** ख़ास तौर से इसके प्रयोग का एक अत्यन्त उत्कृष्ट नमूना है। 'पूँजी' में भी अनेक प्रसंग हैं। इसके अलावा आप मेरी कृतियाँ— **श्री यूजेन ड्यूहरिंग द्वारा विज्ञान में प्रवर्तित क्रांति और लुडविग फ़ायरबाख़ तथा क्लासिकीय जर्मन दर्शन का अन्त** भी देख सकते हैं, जिनमें मैंने ऐतिहासिक भौतिकवाद का विशद वर्णन प्रस्तुत किया है और जहाँ तक मेरी जानकारी है, इससे अधिक विशद वर्णन अन्यत्र उपलब्ध नहीं है।

इसमें अंशतः, मार्क्स का और मेरा दोष है कि हमारे नौजवान लोग कभी-कभी आर्थिक पहलू पर ज़रूरत से ज़्यादा ज़ोर देते हैं। हम लोगों को मुख्य सिद्धांत पर ज़्यादा ज़ोर देना पड़ा था, क्योंकि हमारा सामना उन विरोधियों से था जो उसका खंडन करते थे, हमको इसके लिए सदा समय, स्थान और मौक़ा नहीं मिला कि अन्योन्य क्रिया में सम्मिलित अन्य तत्त्वों को अपना उचित स्थान ग्रहण करने देते। पर जहाँ इतिहास के किसी अंश को पेश करने का अर्थात् सिद्धांत के व्यावहारिक प्रयोग का प्रश्न आया, वहाँ बात और थी, वहाँ ग़लती की गुंजाइश न थी। पर दुर्भाग्यवश अक्सर ऐसा होता है कि किसी नये सिद्धांत की मुख्य प्रस्थापनाओं को समझ लेने के बाद—उन्हें भी सदा सही नहीं समझा जाता— लोग यह सोचने लगते हैं कि अब हम एकदम पारंगत हो गये हैं और इसी क्षण से बिना अधिक बखेड़ा मोल लिये उसे प्रयोग में ला सकते हैं। उधर हाल के हमारे बहुत से 'मार्क्सवादियों' को मैं इस दोष से मुक्त नहीं मान सकता, क्योंकि इस ओर से भी हैरानी में डाल देने वाला कूड़ा-कचरा पैदा किया गया है।

कल (यह मैं आज 22 सितम्बर को लिख रहा हूँ) मुझे शेमान की पुस्तक में एक अन्य निर्णायक अनुच्छेद मिल गया, जो मेरे द्वारा ऊपर दी गयी व्याख्या की पूरी तरह से पुष्टि करता है। वह इस प्रकार है : ''पर यह ज्ञात है कि प्राचीन यूनान में अलग-अलग माँओं की संतानों — सौतेले भाई-बहनों के विवाह कौटुंबिक व्यभिचार नहीं माने जाते थे।''

मुझे आशा है कि संक्षिप्तता के उद्देश्य से मैंने कई चीज़ें छोड़ दी हैं, वे आपको ज़्यादा परेशान नहीं करेंगी।

आपका सेवानिष्ठ

फ्रेडरिक एंगेल्स

एंगेल्स का पत्र कोनराद शिमद्त के नाम

बर्लिन में

लंदन, 27 अक्टूबर, 1890

प्रिय शिमद्त,

अवकाश पाते ही आपको पत्र लिख रहा हूँ। मेरा ख़याल है कि ज़ूरिख़ में पद (काम) स्वीकार कर लेना बुद्धिमानी होगी। वहाँ आप अर्थशास्त्र के विषय में बहुत कुछ सीख सकते हैं, ख़ासकर अगर इस बात को बराबर ध्यान में रखें कि आख़िरकार ज़ूरिख़ तीसरे-दर्जे का मुद्रा और सट्टा बाज़ार है, अतः वहाँ दिमाग़ पर जो प्रभाव पड़ते हैं, वे दोहरे-तिहरे प्रतिबिंबन के कारण या तो क्षीण हो जाते हैं या जानबूझकर विकृत कर दिये जाते हैं। पर आपको वहाँ पूरी प्रणाली का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त होगा और आप लन्दन, न्यूयार्क, पेरिस, बर्लिन तथा वियेना के सट्टा बाज़ारों की रिपोर्टों का मूल रूप में अध्ययन करने को विवश होंगे जिससे आप विश्व बाज़ार— जैसा वह मुद्रा और सट्टा बाज़ार में प्रतिबिंबित होता है— के बारे में समझ विकसित कर पायेंगे। आर्थिक, राजनीतिक एवं अन्य प्रतिबिंब उसी प्रकार के होते हैं जैसे मानव-चक्षु के प्रतिबिंब। वे एक संग्रही लैंस से होकर गुज़रते हैं, इसलिए उल्टे यानी सिर के बल खड़े दिखाई देते हैं, पर जो स्नायविक प्रणाली उन्हें फिर सीधा करके हमारी कल्पना में प्रस्तुत करती है, उसका वहाँ अभाव है। मुद्रा बाज़ार वाला आदमी उद्योग एवं विश्व बाज़ार की गति को केवल मुद्रा एवं सट्टा बाज़ार के प्रतिलोमित प्रतिबिंब रूप में ही देखता है, इसलिए परिणाम उसके लिए कारण बन जाता है। इसे मैंने मांचेस्टर में चालीस के दशक में ही देख लिया था। लंदन सट्टा बाज़ार की रिपोर्टें उद्योग की गति एवं उसके आवर्ती महत्तमों तथा लघुत्तमों को समझने के लिए एकदम बेकार हुआ करती थी क्योंकि वहाँ के लोग सब कुछ की व्याख्या मुद्रा बाज़ार के संकटों से करने की कोशिश किया करते थे; कहना न होगा कि स्वयं ये संकट आमतौर से केवल लक्षण मात्र हुआ करते थे। उस समय असल मुद्दा यह सिद्ध करना

था कि अस्थायी अति-उत्पादन औद्योगिक संकटों का मूल नहीं है। इसलिए इन रिपोर्टों का एक प्रयोजन मूलक पक्ष भी हुआ करता था जो तोड़-मरोड़ के लिए अनुकूल स्थिति पैदा करता था। यह बात अब नहीं रही— कम-से-कम हमारे लिए तो सदा-सर्वदा के लिए ख़त्म हो गयी। पर इसके साथ ही यह भी अवश्य ही सच है कि मुद्रा बाज़ार के अपने पृथक संकट हो सकते हैं जिनमें उद्योग की प्रत्यक्ष गड़बड़ियों का योगदान गौण होता है या एकदम नहीं होता। यहाँ ख़ासकर पिछले बीस वर्षों के इतिहास में बहुत कुछ ऐसा है जिसे अभी भी निश्चित किया जाना तथा जाँचा-परखा जाना है।

जहाँ सामाजिक पैमाने पर श्रम-विभाजन होता है वहाँ विभिन्न श्रम-प्रक्रियाएँ एक-दूसरे से स्वतंत्र हो जाती है। अंततः उत्पादन ही निर्णायक कारक होता है। पर उत्पादित वस्तुओं का व्यापार ज्यों ही उत्पादन से स्वतंत्र हो जाता है, वह अपनी अलग गति प्राप्त कर लेता है जो कुल मिलाकर उत्पादन से शासित होते हुए भी, ख़ास-ख़ास मामलों में और सामान्य निर्भरता के रहते हुए भी, इस नये कारक की प्रकृति में अंतर्निहित अपने ही नियमों का अनुसरण करती है। इस गति की अपनी अलग-अलग अवस्थाएँ होती हैं जो अपनी तरफ़ से उत्पादन की गति को प्रभावित भी करती हैं। अमरीका की खोज सोने की चाह के कारण हुई जिसने ही पुर्तगालियों को पहले अफ़्रीका जाने को प्रेरित किया था (देखें ज़ेटबर की पुस्तक 'बहुमूल्य धातुओं का उत्पादन'), क्योंकि 14वीं और 15वीं शताब्दियों में यूरोप के उद्योग का जो विराट विस्तार हुआ था, उसने तथा उसी के अनुरूप अति विस्तृत व्यापार ने विनिमय के साधन की इतनी बड़ी माँग पेश कर दी थी जिसकी पूर्ति 1450-1550 के दौरान चाँदी का महान् देश— जर्मनी— नहीं कर सकता था। 1500 से 1800 के बीच पुर्तगालियों, डचों, अंग्रेज़ों द्वारा भारत विजय का लक्ष्य भारत से **आयात** था— वहाँ निर्यात करने की बात कोई सपने में भी नहीं सोच सकता था। पर केवल व्यापारिक हितों को ध्यान में रखकर की गयी इन खोज़ों और विजयों ने उद्योग पर कितना प्रचंड प्रभाव डाला था : इन देशों में निर्यात करने की आवश्यकताओं ने ही बड़े पैमाने के उद्योग की सृष्टि की और उसका विकास किया।

यही बात मुद्रा बाज़ार पर भी लागू होती है। ज्यों ही मुद्रा का व्यापार मालों के व्यापार से अलग हो जाता है, उसके— उत्पादन और मामलों के व्यापार द्वारा लागू की गयी कतिपय अवस्थाओं के अंतर्गत तथा इन सीमाओं के भीतर— विकास की अपनी पृथक गति हो जाती है, उसके अपने विशेष नियम तथा अवस्थाएँ विकसित होती हैं; जो उसके अपने स्वरूप द्वारा निर्धारित होती हैं। इसके साथ यदि यह चीज़ जोड़ दी जाये कि मुद्रा व्यापार और आगे विकास करते हुए प्रतिभूतियों के व्यापार को भी अपने में सम्मिलित कर लेता है तथा ये प्रतिभूतियाँ केवल सरकारी काग़ज ही नहीं, बल्कि उद्योग एवं परिवहन से संबंधित शेयर भी होते हैं — परिणामस्वरूप मुद्रा व्यापार उत्पादन के एक भाग के ऊपर, जिससे कुल मिलाकर वह स्वयं भी

नियंत्रित होता है, प्रत्यक्ष नियंत्रण प्राप्त कर लेता है— तो हम देखते हैं कि उत्पादन पर मुद्रा व्यापार का प्रतिक्रियामूलक प्रभाव और भी प्रबल एवं जटिल हो जाता है। मुद्रा–व्यापारी रेलों, ख़ानों, इस्पात कारख़ानों आदि के स्वामी हैं। उत्पादन के ये साधन दोहरी भूमिका ओढ़ लेते हैं : इनका प्रचालन कभी–कभी प्रत्यक्ष उत्पादन द्वारा अधिशासित होता है, तो कभी शेयर–होल्डरों— जहाँ तक कि वे मुद्रा–व्यापारी हैं— के हितों द्वारा भी अधिशासित होता है। इसका सबसे ज्वलन्त उदाहरण उत्तर अमरीकी रेलें हैं, जिनका प्रचालन जे गोल्ड अथवा वांडरबिल्ट जैसे किन्हीं लोगों के रोज़मर्रा के सट्टा बाज़ार के कारोबार पर पूरी तरह से निर्भर है, जबकि इस कारोबार का ख़ास तौर पर रेलों से तथा परिवहन के साधन के रूप में उनके हितों से क़तई कोई लेना–देना नहीं है। यहाँ इंग्लैंड में भी हमने रेलवे कम्पनियों के बीच अपने–अपने प्रदेशों की सीमाओं को लेकर दशकों तक झगड़े चलते देखे हैं, जिनमें न जाने कितना धन उत्पादन एवं परिवहन के हित में नहीं, बल्कि महज़ ऐसे झगड़ों में फूँक दिया गया जिनका उद्देश्य आम तौर पर इन रेलों में शेयर रखने वाले मुद्रा–व्यापारियों के सट्टा–कारोबार में सुविधा पहुँचाना मात्र था।

उत्पादन के माल–व्यापार के साथ संबंध और इन दोनों के मुद्रा–व्यापार के साथ संबंध के बारे में अपनी धारणा को उपरोक्त शब्दों में इंगित करके मैंने सामान्यतः ऐतिहासिक भौतिकवाद के बारे में आपके प्रश्नों का सार रूप में उत्तर दे दिया है। श्रम–विभाजन के दृष्टि बिन्दु से इसे समझना बेहद आसान है। समाज कुछ आम क्रियाओं को जन्म देता है जिनके बिना वह अपना काम नहीं चला सकता है। इन क्रियाओं के लिए नियुक्त व्यक्ति **समाज के भीतर** श्रम–विभाजन की एक नयी शाखा गठित करते हैं। इससे उनके विशेष हित पैदा होते हैं जो उन लोगों के हितों से भी भिन्न होते हैं, जिन्होंने उन्हें सत्ता प्रदान की है। वे उन लोगों से स्वतंत्र हो जाते हैं और इस प्रकार राज्य का आविर्भाव होता है। इसके बाद वैसा ही क्रम चलता है जैसा माल व्यापार में तथा बाद में मुद्रा बाजार में चलता है। यानी नयी स्वतंत्र शक्ति मुख्य रूप से उत्पादन की गति का अनुसरण करने के लिए बाध्य होते हुए भी, अपनी अंतर्निहित सापेक्ष स्वतंत्रता की बदौलत— यानी उस स्वतंत्रता की बदौलत जो एक बार उसके हाथों में सौंपे जाने पर क्रमशः विकसित होती गयी थी— अपनी ओर से भी उत्पादन की अवस्थाओं तथा प्रक्रम पर प्रभाव डालती है। यह दो असमान शक्तियों की अन्योन्यक्रिया है। एक ओर है आर्थिक गति तथा दूसरी ओर है नयी राजनीतिक शक्ति, जो अधिकतम संभव स्वतंत्रता प्राप्त करने की कोशिश करती है और जो स्थापित हो जाने के तत्काल बाद अपनी स्वयं की गति अर्जित कर लेती है। कुल मिलाकर आर्थिक गति का ही वर्चस्व होता है, पर उसे राजनीतिक गति की प्रतिक्रिया को भी सहन करना पड़ता है— यानी जिस गति को उसने स्वयं स्थापित किया और सापेक्ष स्वतंत्रता प्रदान की। आर्थिक गति को एक ओर राज्य–सत्ता

की गति की तथा दूसरी ओर संग-संग उत्पन्न विरोध पक्ष की प्रतिक्रिया को भी सहन करना पड़ता है। जिस तरह औद्योगिक बाज़ार की गति मुख्यतया तथा ऊपर बतायी गयी शर्तों के साथ मुद्रा बाज़ार में प्रतिबिंबित होती है और कहना न होगा कि **उलटी होकर** प्रतिबिंबित होती है, ठीक उसी प्रकार पहले ही से विद्यमान और परस्पर टकराते हुए वर्गों का संघर्ष सरकार और विरोध पक्ष के संघर्ष में प्रतिबिंबित होता है। यह भी उलटा होकर— प्रत्यक्ष नहीं वरन् अप्रत्यक्ष होकर, वर्ग-संघर्ष के रूप में नहीं बल्कि राजनीतिक सिद्धांतों के लिए संघर्ष के रूप में प्रतिबिंबित होता है। यह प्रतिबिंब इतना विकृत हो गया कि इसकी तह तक पहुँचने में हमें हज़ारों वर्ष लग गये।

आर्थिक विकास पर राज्य सत्ता का प्रभाव (प्रतिक्रिया) तीन प्रकार का हो सकता है : वह उसी दिशा में अग्रसर हो सकता है जिस दिशा में आर्थिक विकास हो रहा है— तब विकास और तेज़ी से होता है; वह आर्थिक विकास की विपरीत दिशा ग्रहण कर सकता है — ऐसी स्थिति में आज के ज़माने में किसी भी बड़े देश में राज्य-सत्ता अंततः चूर-चूर हो जायेगी; या फिर वह आर्थिक विकास की कुछ प्रवृत्तियों पर रोक लगाकर उसके विकास की अन्य दिशाएँ निर्धारित कर सकता है। इसमें अंततः पहली दो दिशाओं में से किसी का एक अनुसरण होता है। लेकिन यह स्पष्ट है कि दूसरी तथा तीसरी दिशाएँ अपनाने पर राज्य-सत्ता आर्थिक विकास को भारी क्षति पहुँचा सकती है और इसके फलस्वरूप शक्ति (ऊर्जा) एवं सामग्री का भीषण अपव्यय हो सकता है।

इसके अलावा, ऐसा भी होता है कि दूसरे देशों को जीतकर आर्थिक संसाधनों को क्रूरतापूर्वक नष्ट किया जाता है। ऐसी स्थिति के परिणामस्वरूप किन्हीं परिस्थितियों में, पुराने ज़माने में समूचा स्थानीय अथवा राष्ट्रीय विकास ध्वस्त किया जा सकता था, पर आज के ज़माने में ऐसा रास्ता अपनाने का आमतौर पर उलटा ही प्रभाव पड़ता है। कम-से-कम जहाँ तक बड़ी जातियों का संबंध है; अंततः विजित जाति प्रायः विजेता की तुलना में अधिक आर्थिक, राजनीतिक तथा नैतिक लाभ अर्जित कर लेती है।

यही बात क़ानून के संबंध में लागू होती है। जैसे ही पेशेवर वकीलों को पैदा करने वाला नया श्रम-विभाजन आवश्यक हो जाता है, वैसे ही एक नया और स्वतंत्र क्षेत्र खुल जाता है, जो उत्पादन एवं व्यापार पर सामान्य रूप निर्भर होने के बावजूद इन क्षेत्रों को प्रभावित करने की विशिष्ट क्षमता रखता है। आधुनिक राज्य में यह ज़रूरी नहीं है कि क़ानून सामान्य आर्थिक अवस्था के अनुरूप एवं उसकी अभिव्यक्ति ही हो, बल्कि यह भी ज़रूरी है कि वह आंतरिक रूप से सामंजस्यपूर्ण अभिव्यक्त हो— यानी जो आंतरिक अंतर्विरोधों के कारण स्वयं का निषेध न कर दे। यह सामंजस्य प्राप्त करने में आर्थिक अवस्थाओं के सच्चे प्रतिबिंब में अधिकाधिक व्याघात पड़ता है। ऐसा इसलिए और भी होता है कि यदा-कदा ही कोई

विधि-संहिता एक वर्ग के आधिपत्य की उग्र, अनभ्य और अधिकृत अभिव्यक्ति होती है — क्योंकि ऐसा हो जाने भर का अर्थ इस 'न्यायिक अवधारणा' का निषेध होता। 1792-1796 के क्रांतिकारी पूँजीपति वर्ग की इस शुद्ध एवं तर्कसंगत न्यायिक अवधारणा का तो नेपोलियन-संहिता में ही काफ़ी हद तक मिथ्याकरण हो चुका था और जिस हद तक यह अवधारणा संहिता में मूर्तिमान हुई है, वहाँ वह सर्वहारा वर्ग की नित्य प्रति बढ़ती शक्ति की बदौलत सब तरह से क्षीण होती रहती है। इसके बावजूद नेपोलियन-संहिता वह संविधि पुस्तक है जो दुनिया के प्रत्येक भाग में हर नयी विधि संहिता के आधार का काम देती है। इस प्रकार एक बड़ी हद तक 'क़ानून के विकास' का प्रक्रम केवल यह होता है कि पहले आर्थिक संबंधों को क़ानूनी संबंधों में सीधे-सीधे उलथा कर देने से उत्पन्न अंतर्विरोधों को दूर करने की तथा विधि की एक समन्वित पद्धति स्थापित करने की चेष्टा की जाती है, फिर इस पद्धति में आगे होने वाले आर्थिक विकास के प्रभाव एवं दबाव से बार-बार दरारें पड़ती हैं; जिसके परिणामस्वरूप वह नये अंतर्विरोधों में फँस जाती है। (यहाँ मैं फ़िलहाल सिर्फ़ दीवानी क़ानून की बात कर रहा हूँ।)

क़ानूनी सिद्धांतों के रूप में आर्थिक संबंधों का प्रतिबिंब भी अनिवार्यतः उलटा ही होता है। वह क्रियाशील व्यक्ति के बोध के बिना ही चलता रहता है। विधि शास्त्री सोचता है कि वह पूर्वानुमानित प्रस्थापनाओं को लेकर चल रहा है, जबकि वे वस्तुतः आर्थिक प्रतिबिंबन मात्र होती हैं, अतः सब कुछ औंधा (सिर नीचे, टाँगे ऊपर) रहता है और मुझे स्पष्ट लगता है कि यह विपर्यास जो न पहचाने जाने तक **विचारधारात्मक अवधारणा** कही जाने वाली वस्तु होता है, अपनी ओर से आर्थिक आधार को प्रभावित करता है तथा कुछ सीमाओं के भीतर उसे संशोधित भी कर सकता है। उत्तराधिकार क़ानून का आधार— यदि परिवार के विकास का स्तर समान है— आर्थिक है। फिर भी उदाहरणार्थ यह सिद्ध करना कठिन होगा कि इंग्लैंड में वसीयत करने वालों को पूरी आज़ादी होना तथा फ्रांस में उसके ऊपर सख़्त तथा विस्तृत पाबंदियों का लगा होना सिर्फ़ आर्थिक कारणों से है। पर दोनों ही अपनी बारी में आर्थिक क्षेत्र पर काफ़ी अधिक प्रभाव डालते हैं, क्योंकि वे संपत्ति के वितरण पर प्रभाव डालते हैं।

जहाँ तक विचारधारा के क्षेत्रों का— निरन्तर ऊपर उठते हुए क्षेत्रों का यानी— धर्म, दर्शनशास्त्र आदि का प्रश्न है, इनके पास प्रागैतिहासिक काल का एक ऐसा भंडार— उन चीज़ों का भंडार है जिन्हें हम आज निरर्थक भी कह व मान सकते हैं— है जो ऐतिहासिक काल में पहले से विद्यमान पाया गया तथा ग्रहण कर लिया गया। प्रकृति, मानव के अस्तित्व, भूत-प्रेत, जादू-टोने आदि की इन मिथ्या अवधारणाओं का आर्थिक आधार केवल नकारात्मक है। प्रागैतिहासिक काल का निम्न आर्थिक विकास प्रकृति की मिथ्या अवधारणाओं द्वारा

पूरित तथा उसके द्वारा अंशतः परिनियमित और यहाँ तक कि सृजित भी हुआ। यद्यपि आर्थिक आवश्यकता प्रकृति के उत्तरोत्तर बढ़ते हुए ज्ञान की मुख्य प्रेरक शक्ति थी और अधिकाधिक वैसी बनती भी गयी है, पर इस समस्त आदिम कालीन बकवास के लिए आर्थिक कारण खोजने की चेष्टा निस्संदेह निरा पंडिताऊपन होगा। विज्ञान का इतिहास इस बकवास के धीरे-धीरे मिटते जाने का, या यों कहें कि उसकी जगह एक नयी किंतु कम बेतुकी बकवास के आते जाने का इतिहास है। जो लोग इसमें संलग्न हैं वे श्रम-विभाजन में विशेष क्षेत्रों के लोग हैं तथा वे सोचते हैं कि वे एक स्वतंत्र क्षेत्र में काम कर रहे हैं। जिस हद तक वे सामाजिक श्रम-विभाजन के भीतर एक स्वतंत्र समूह होते हैं, उस हद तक उनकी कृतियाँ — इनमें उनकी ग़लतियाँ भी सम्मिलित हैं— पूरे समाज के विकास को, यहाँ तक कि उसके आर्थिक विकास को भी प्रभावित करती हैं। इस सबके बावजूद वे स्वयं अपनी बारी में, फिर भी आर्थिक विकास के प्रभुत्वशाली प्रभाव के अधीन होते हैं। उदाहरणार्थ, दर्शनशास्त्र में यह बात पूँजीवादी काल के लिए तत्काल सिद्ध की जा सकती है। हॉब्स प्रथम आधुनिक भौतिकवादी थे (इस शब्द के 18वीं शताब्दी के अर्थ में), पर उस काल में जब निरंकुश राजतंत्र समूचे यूरोप में अपने चरम शिखर पर था और इंग्लैंड में जब निरंकुश राजतंत्र तथा जनता के बीच लड़ाई का सूत्रपात हो रहा था, वह निरंकुशतावादी थे। लाक धर्म एवं राजनीति दोनों में 1688 के वर्ग समझौते की सन्तान थे। इंग्लैंड के तटस्थेश्वरवादी तथा उनके अधिक सुसंगत परम्परावाहक— फ्रांसीसी भौतिकवादी— पूँजीपति वर्ग के सच्चे दार्शनिक थे, फ्रांसीसी तो पूँजीवादी क्रांति के भी दार्शनिक थे। कांट से हेगेल तक, जर्मन दर्शन में जर्मन कूपमंडूकता कभी नकारात्मक तथा कभी सकारात्मक रूप में एक सूत्र के रूप में व्याप्त है। पर प्रत्येक युग का दर्शन, चूँकि वह श्रम-विभाजन का निश्चित क्षेत्र है, पूर्ववर्ती दर्शन से प्राप्त कुछ चिंतन सामग्री को पूर्व मान्यता के रूप में ग्रहण करता है जो कि उसका प्रस्थान बिन्दु बनता है। यही कारण है कि आर्थिक दृष्टि से पिछड़े देश दर्शन में अगुआई कर सकते हैं, जैसे 18वीं शताब्दी में इंग्लैंड के दर्शन पर ही अपने दर्शन को आधारित करने वाले फ्रांस ने इंग्लैंड के मुक़ाबले में किया, या जर्मनी ने इन दोनों ही के मुक़ाबले में किया। पर फ्रांस और जर्मनी में उस समय दर्शन एवं साहित्य का आम प्रस्फुटन ऊपर उठते आर्थिक विकास का नतीजा था। मेरे विचार में इन क्षेत्रों में भी अंततः आर्थिक विकास की ही प्रधानता प्रमाणित हो चुकी है परन्तु वह क्षेत्र विशेष द्वारा स्थापित अवस्थाओं के अन्दर ही चरितार्थ होती है। उदाहरण के लिए, दर्शनशास्त्र में वह पूर्ववर्तियों से प्राप्त विद्यमान दार्शनिक सामग्री के ऊपर आर्थिक प्रभावों, जो अपनी बारी में आमतौर से केवल राजनीतिक आदि आवरणों में प्रचालित होते हैं— की क्रिया द्वारा चरितार्थ होती है। अर्थशास्त्र यहाँ कोई नयी चीज़ उत्पन्न नहीं करता, बल्कि केवल उस तरीक़े को निर्धारित करता है जिससे प्राप्त चिंतन सामग्री को परिवर्तित तथा और आगे विकसित किया जाता है।

यह काम भी अधिकांशतः वह अप्रत्यक्ष रूप से करता है। दर्शन पर सबसे अधिक प्रत्यक्ष प्रभाव राजनीतिक, क़ानूनी तथा नैतिक प्रतिवर्त ही डालते हैं।

धर्म के संबंध में जो कुछ भी आवश्यक था, वह मैं फ़ायरबाख़ संबंधी पुस्तिका के अन्तिम अध्याय में कह चुका हूँ।

इसलिए बार्थ ने यदि यह मान लिया हो कि आर्थिक गति के राजनीतिक आदि किसी भी प्रतिवर्त का हम स्वयं इस गति पर प्रभाव पड़ना नहीं मानते, तो वह हवा में प्रहार कर रहे हैं। मार्क्स की **अठाहरवीं ब्रूमेर** पर दृष्टिपात करना ही उनके लिए काफ़ी होगा, जिसमें विशिष्टतया केवल उस भूमिका की चर्चा की गयी है जो राजनीतिक संघर्ष तथा घटनाएँ निस्संदेह उनकी आर्थिक अवस्थाओं पर आम निर्भरता के ढाँचे के भीतर अदा करती हैं। या फिर वह 'पूँजी' को ही ले लें— उसके कार्य-दिवस संबंधी अध्याय को ले लें, जहाँ बताया गया है कि विधि-निर्माण, जो निश्चय ही एक राजनीतिक कार्य है, का कैसा प्रचंड प्रभाव पड़ता है। या पूँजीपति वर्ग के इतिहास संबंधी अध्याय (अध्याय 24) को ले लें। या फिर हम सर्वहारा के राजनीतिक अधिनायकत्व के लिए क्यों लड़ते हैं, यदि राजनीतिक सत्ता आर्थिक रूप में निःसत्त्व होती है? बल-प्रयोग (यानी राज्य सत्ता) भी एक आर्थिक शक्ति ही है।

पर पुस्तक[1] की आलोचना करने की अभी मुझे फ़ुर्सत ही नहीं है। अभी तो पहले तीसरा खंड[2] प्रकाशित कराना है। साथ ही मैं यह भी सोचता हूँ कि मसलन बर्न्सटीन इस काम को बेहतर ढंग से कह सकते हैं।

दरअसल, इन महानुभावों के पास जिस चीज़ का अभाव है वह है— द्वन्द्वात्मक दृष्टिकोण। वे कहीं तो केवल कारण को देखते हैं और कहीं सिर्फ़ परिणाम को। वे यह नहीं देखते कि यह निःसार अमूर्तता है— कि वास्तविक जगत् में ऐसे आधिभौतिक ध्रुव्रीय छोरों का अस्तित्व केवल संकट के समय में होता है कि समूची विराट प्रक्रिया अन्योन्यक्रिया के रूप में चलती है (यद्यपि यह अति असमान शक्तियों की अन्योन्यक्रिया होती है, जिसमें आर्थिक गति अन्यों से कहीं अधिक प्रबल, प्राथमिक तथा अत्यन्त निर्णायक होती है) कि यहाँ सभी कुछ सापेक्ष है, निरपेक्ष कुछ भी नहीं। हेगेल का तो जैसे उनके लिए कभी अस्तित्व ही नहीं रहा!

✤ ✤

1. पाल बार्थ की पुस्तक 'हेगेल एवं हेगेलवादियों— मार्क्स हार्टमान तक— का इतिहास'।
2. मार्क्स की 'पूँजी' का। — सम्पा.

समाजवाद : काल्पनिक तथा वैज्ञानिक[1]

अंग्रेजी संस्करण की भूमिका

यह छोटी-सी पुस्तक मूलतः एक वृहत्तर ग्रंथ का अंग है। 1875 के क़रीब बर्लिन विश्वविद्यालय के सहायक प्रोफ़ेसर डॉ. यूजेन ड्यूहरिंग ने यकायक और काफ़ी ज़ोर-शोर के साथ घोषणा कर दी कि वह समाजवाद के पक्षधर बन गये हैं। उन्होंने जर्मन जनता के सामने एक विस्तृत समाजवादी सिद्धांत ही नहीं, अपितु समाज के पुनर्गठन की एक संपूर्ण व्यावहारिक योजना भी प्रस्तुत की। स्वभावतः उन्होंने अपने पूर्ववर्तियों को पानी-पी-पीकर कोसा और अपना सारा गुस्सा मार्क्स पर निकालकर उन्होंने उन्हें 'सम्मानित' किया।

यह लगभग उस समय हुआ, जब जर्मन समाजवादी पार्टी की दोनों शाखाएँ— आइज़ेनाख़पंथी तथा लासालपंथी— एक हुई ही थीं और इस प्रकार उन्होंने न केवल अपनी शक्ति बहुत बढ़ा ली थी, बल्कि अपनी इस शक्ति को अपने सामान्य शत्रु के विरुद्ध लगा देने की क्षमता भी अर्जित कर ली थी। जर्मनी में समाजवादी पार्टी तेज़ी से एक शक्ति बनती जा रही थी; लेकिन उसे एक शक्ति बनाने की पहली शर्त यह थी कि हाल ही में हासिल की गयी एकता को ख़तरे में न डाला जाये। लेकिन डॉ. ड्यूहरिंग ने ख़ुलेआम अपने इर्द-गिर्द एक गुट एक भावी पार्टी का केन्द्रक — बनाना शुरू कर दिया। इसलिए यह ज़रूरी हो गया कि हमें

---

1. एंगेल्स की कृति **समाजवाद : काल्पनिक तथा वैज्ञानिक** उनके 'ड्यूहरिंग मतखंडन' के तीन अध्यायों का समाहार है, जिसे उन्होंने स्पष्टतः दुबारा इसलिए लिखा कि एक पूर्ण, अखंड विश्व दृष्टिकोण के रूप में मार्क्सवादी शिक्षा की सुबोध व्याख्या प्रस्तुत की जा सके। इसमें उन्होंने मार्क्सवाद के तीन संघटक अंगों का वर्णन किया और यह दिखाया कि द्वन्द्वात्मक तथा ऐतिहासिक भौतिकवाद का आविर्भाव कैसे हुआ। उन्होंने प्रमाणित किया कि मार्क्स की दो महान् खोजों— इतिहास की भौतिकवादी अवधारणा का विकास तथा अतिरिक्त मूल्य के सिद्धांत की स्थापना — की बदौलत ही समाजवाद को वैज्ञानिक आधार प्राप्त हुआ। वैज्ञानिक समाजवाद तथा काल्पनिक समाजवाद के बीच आधारभूत अन्तर लक्षित करने तथा काल्पनिक समाजवाद की भूमिका और उसकी त्रुटियों पर टीका करने के बाद एंगेल्स ने वैज्ञानिक समाजवाद के स्रोतों पर प्रकाश डाला।

जो चुनौती दी गयी है, हम उसे स्वीकार करें और चाहे हमारी इच्छा हो या न हो, हम यह लड़ाई लड़ें।

यह काम चाहे बहुत मुश्किल न हो, किन्तु ज़ाहिर है कि काफ़ी दम लेने वाला ज़रूर था। जैसा कि सर्वविदित है हम जर्मन लोग घोर संपूर्णता से, आप चाहे जो कह लें, उग्र गांभीर्य या उस गंभीरता से काम करने वाले लोग हैं। हममें से जब भी कोई किसी ऐसे सिद्धांत का प्रतिपादन करता है— जो उसकी दृष्टि में नया होता है— तो सबसे पहले वह एक समावेशी मत-प्रणाली के रूप में उसकी विस्तृत व्याख्या करना आवश्यक समझता है। उसे यह सिद्ध करना होता है कि तर्कशास्त्र के प्राथमिक सिद्धांत तथा सृष्टि के मूल नियम दोनों ही अनादिकाल से सिर्फ़ इसलिए चले आ रहे हैं कि अंततः उनकी परिणति इस नये आविष्कृत चरम सिद्धांत में हो और इस लिहाज़ से डॉ. ड्यूहरिंग जातीय मान से किसी माने में घटकर नहीं थे। एक संपूर्ण 'दर्शन व्यवस्था'— मानसिक, नैतिक, प्राकृतिक तथा ऐतिहासिक; एक संपूर्ण 'राजनीतिक अर्थशास्त्र तथा समाजवाद की व्यवस्था' और अंत में 'राजनीतिक अर्थशास्त्र का आलोचनात्मक इतिहास' कुछ नहीं तो अठपेजी आकार की तीन मोटी-मोटी पोथियाँ, बाहर से तथा भीतर से भी भारी-भरकम; मानो सामान्यतः सभी पुराने दार्शनिकों तथा अर्थशास्त्रियों के और ख़ासकर मार्क्स के ख़िलाफ़ तर्कों के तीन सेना-दल खड़े कर दिये हों— दरअसल 'विज्ञान में क्रांति' आमूल क्रांति ला देने की यह एक कोशिश थी—और मुझे इन सबसे निबटना था। देश तथा काल से लेकर 'द्विधानुवाद'[1] तक, भूतद्रव्य तथा गति की नित्यता से लेकर नैतिक धारणाओं की अनित्यता तक डार्विन के प्राकृतिक वरण से लेकर भावी समाज में युवकों की शिक्षा तक— मुझे हरसंभव विषय की विवेचना करनी थी। बहरहाल, मेरे प्रतिद्वन्द्वी की व्यवस्थित व्यापकता ने मुझे उनके मुक़ाबले अनेकानेक विषयों पर मार्क्स के और अपने विचारों को पहले से अधिक संबद्ध रूप में प्रस्तुत करने का अवसर दिया और यही वह प्रमुख कारण था, जिसने मुझे इस अन्यथा अप्रिय काम को हाथ मे लेने को विवश किया।

मेरा उत्तर पहले समाजवादी पार्टी के मुखपत्र[2], लाइप्ज़िग के 'फ़ावार्ट्स' में एक लेखमाला के रूप में तथा बाद में 'श्री यूजेन ड्यूहरिंग द्वारा विज्ञान में प्रवर्तित क्रांति' के नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ था। इस पुस्तक का दूसरा संस्करण ज़ूरिख़ से 1886 में प्रकाशित हुआ।

अपने मित्र, आजकल फ्रांसीसी प्रतिनिधि सभा में लिल से निर्वाचित प्रतिनिधि पाल

---

1. वह पद्धति जिसमें मुद्रा के काम के लिए एक साथ दो धातुओं— सोना और चाँदी— का उपयोग होता था।
2. गोथा एकीकरण कांग्रेस के बाद से जर्मन सामाजिक-जनवाद का मुखपत्र। 1876-78 के दौरान लाइप्ज़िग से प्रकाशित।

लफ़ार्ग के अनुरोध पर मैंने इस पुस्तक के तीन अध्यायों को एक पैंफ़लेट की शक्ल दी। उन्होंने इस पैंफ़लेट का अनुवाद किया और उसे '**समाजवाद : काल्पनिक तथा वैज्ञानिक**' के नाम से 1880 में प्रकाशित किया। इस फ्रांसीसी पाठ से ही पोलिश और स्पेनिश भाषाओं के संस्करण तैयार किये गये।1883 में हमारे जर्मन मित्रों ने इस पैंफ़लेट को मूल भाषा में प्रकाशित किया। तब से इस जर्मन पाठ के आधार पर इतावली, रूसी, डेनिश, डच तथा रूमानियाई भाषाओं में इसके अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं। इस तरह वर्तमान अंग्रेज़ी संस्करण समेत इस पुस्तक का दस भाषाओं में प्रसार जारी है। जहाँ तक मुझे मालूम है और किसी समाजवादी पुस्तक के यहाँ तक कि 1848 के हमारे 'कम्युनिस्ट घोषणा-पत्र' या मार्क्सकृत 'पूँजी' के भी इतने अधिक अनुवाद नहीं हुए हैं। जर्मनी में इसके कुल मिलाकर लगभग बीस हजार प्रतियों के चार संस्करण निकल चुके हैं।

पुस्तक का परिशिष्ट 'मार्क'[1] जर्मन समाजवादी पार्टी के अन्दर, जर्मनी में भू-संपत्ति के इतिहास तथा विकास का प्रारंभिक ज्ञान फैलाने के उद्देश्य से लिखा गया था। यह एक ऐसे समय में और भी आवश्यक प्रतीत हुआ, जब इस पार्टी द्वारा शहरों के मेहनतकशों को सम्मिलित करने का काम लगभग पूरा हो चुका था और जब खेतिहार मज़दूरों तथा किसानों पर ध्यान केन्द्रित किया जाना था। इस परिशिष्ट को भी अनुवाद में (इस संस्करण में) सम्मिलित कर लिया गया है क्योंकि भू-संपत्ति के वे मूल रूप, जो सभी ट्यूटानिक क़बीलों में समान रूप से पाये जाते हैं और उनके पतन का इतिहास इंग्लैंड में जर्मनी की अपेक्षा भी कम ज्ञात है। मैंने इस परिशिष्ट के मूल रूप को अक्षुण्ण रखा है और हाल में मक्सिम कोवोलेव्स्की ने जो परिकल्पना प्रस्तुत की है, उसका हवाला नहीं दिया है। इस परिकल्पना के अनुसार कृषि-योग्य भूमि तथा चरागाहों का मार्क के सदस्यों के बीच बँटवारा होने के पहले उनमें एक विशाल पितृसत्तात्मक कुटुंब-समुदाय द्वारा सम्मिलित रूप से खेती की जाती थी। ऐसे एक समुदाय में कई-कई पीढ़ियों के लोग हुआ करते थे (दक्षिण-स्लाव ज़ाद्रूगा के रूप में अभी भी इसका उदाहरण मिलता है)। बाद में, जब यह समुदाय इतना बड़ा हो गया कि सम्मिलित प्रबंध के योग्य न रह गया, तो समुदाय की ज़मीन का बँटवारा कर दिया गया।[2] कोवालेव्स्की की बात संभवतः एकदम सही है, लेकिन यह विषय अभी भी **विचाराधीन** है।

---

1. **मार्क** — प्राचीन जर्मन समुदाय। एंगेल्स ने इस शीर्षक के अन्तर्गत जर्मन किसानों को, प्राचीन काल से शुरू करके इतिहास की संक्षिप्त रूपरेखा तैयार की, जिसे **समाजवाद : काल्पनिक तथा वैज्ञानिक** के प्रथम जर्मन' संस्करण के पूरक के रूप में प्रस्तुत किया गया।
2. यहाँ एंगेल्स का संकेत कोवालेव्स्की की दो कृतियों की ओर है, जिनमें एक 'परिवार और संपत्ति की उत्पत्ति तथा विकास पर निबंध' स्टाकहोम में 1890 में प्रकाशित हुई तथा दूसरी 'आदिम क़ानून, भाग 1, गोत्र' मास्को में 1886 में प्रकाशित हुई।

इस पुस्तक में प्रयुक्त आर्थिक पारिभाषिक शब्द — जहाँ तक वे नये हैं मार्क्स की 'पूँजी' के अंग्रेजी संस्करण में इस्तेमाल किये गये शब्दों से मेल खाते हैं। 'माल उत्पादन' से हमारा तात्पर्य उस आर्थिक दौर से है, जिसमें वस्तुओं का उत्पादन उत्पादकों के उपभोग के लिए ही नहीं, विनिमय के उद्देश्यों के लिए भी होता है अर्थात् उनका उत्पादन **माल के रूप में** होता है, उपभोग-मूल्यों के रूप में नहीं। यह दौर विनिमय के लिए उत्पादन के प्रारंभ से आज तक चल रहा है; उसका पूरा विकास पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली के अंतर्गत ही होता है, यानी उन परिस्थितियों में, जब उत्पादन के साधनों का स्वामी (पूँजीपति) मज़दूरी देकर मज़दूरों को काम पर रखता है, उन लोगों को जो अपनी श्रम-शक्ति को छोड़कर उत्पादन के समस्त साधनों से वंचित हैं और पैदावार की अपनी लागत से जितना ऊपर बेचता है, वह सब हड़प लेता है। मध्य युग से आज तक औद्योगिक उत्पादन के इतिहास को हम तीन दौरों में बाँट सकते हैं : (1) दस्तकारी का दौर, जिसमें छोटे कारीगर-मालिक थोड़े-से कारीगर-मज़दूरों और शागिर्दों के साथ काम करते हैं और जहाँ हर कारीगर पूरी चीज़ तैयार करता है; (2) मैन्युफ़ैक्चर का दौर, जब कहीं ज़्यादा मज़दूर एक बड़े कारख़ाने में एकत्र होकर श्रम-विभाजन के आधार पर पूरी चीज़ का उत्पादन करते हैं; हर मज़दूर उत्पादन की किसी एक आंशिक क्रिया को ही करता है तथा किसी चीज़ का उत्पादन तभी पूरा होता है, जब वह एक-एक करके सभी के हाथों से होकर गुज़र जाती है; (3) आधुनिक उद्योग का दौर, जब उत्पादन किसी शक्ति से चलने वाली मशीनों से होता है और जहाँ मज़दूर का काम सिर्फ़ इतना ही रह जाता है कि यांत्रिक कारक यानी मशीन के काम की देखभाल करता रहे तथा उसे दुरुस्त करता रहे।

मुझे अच्छी तरह इस बात का अहसास है कि इस पुस्तक की विषय-वस्तु पर ब्रिटिश पाठकों के काफ़ी बड़े भाग को आपत्ति होगी। लेकिन हम महाद्वीपवासियों ने ब्रिटिश 'भद्रता' के पूर्वाग्रहों का तनिक भी ख़याल किया होता तो हम और भी गये-गुजरे होते। हम जिस सिद्धांत को 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' कहते हैं, इस पुस्तक में उसी की हिमायत की गयी है। पर अधिकांश ब्रिटिश पाठकों को तो 'भौतिकवाद' शब्द ही कर्णकटु लगता है। 'अज्ञेयवाद '[1] को सहन किया जा सकता है, पर भौतिकवाद तो एकदम अस्वीकार्य है।

फिर भी 17वीं शताब्दी से इंग्लैंड ही आधुनिक भौतिकवाद के सभी रूपों की जन्मभूमि रहा है।

'भौतिकवाद ग्रेट ब्रिटेन का औरस पुत्र है। मध्ययुगीन ब्रिटिश दार्शनिक डंस स्काट

---

1. **अज्ञेयवाद** — इसके अंतर्गत भौतिक वस्तुओं के अस्तित्व को तो स्वीकार किया जाता है, पर यह माना जाता है कि उन्हें जाना नहीं जा सकता।

पहले ही प्रश्न कर चुके थे: 'क्या भूतद्रव्य के लिए चिन्तन करना संभव है?''

''इस चमत्कार को संभव बनाने के लिए उन्होंने ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता की शरण ली अर्थात् उन्होंने धर्मशास्त्र के माध्यम से भौतिकवाद की शिक्षा दी। इसके अतिरिक्त वह नाममात्रवादी[1] थे। नामवाद भौतिकवाद का पहला रूप मुख्यतः इंग्लैंड के मध्ययुगीन दार्शनिकों के मध्य प्रचलित रहा है।

''वास्तव में अंग्रेज़ी भौतिकवाद के जनक बेकन थे। उनके अनुसार प्रकृति-विज्ञान ही सच्चा विज्ञान है और इंद्रियानुभूति पर आधारित भौतिकी इस प्रकृति-विज्ञान का सबसे मुख्य अंश है। अनाक्सागोरस और उनके homoiomeriae[2] का, देमोक्रितस और उनके परमाणुओं का प्रमाण के रूप में अब अक्सर हवाला देते हैं। उनके अनुसार हमारी इंद्रियाँ कभी धोखा नहीं देती है और इंद्रियों द्वारा प्राप्त तथ्यों की एक तर्कसंगत प्रणाली से जाँच करने में निहित है। अनुगम, विश्लेषण, तुलना, प्रेक्षण, प्रयोग इस तर्कसंगत प्रणाली के ये ही मुख्य रूप हैं। भूतद्रव्य में जो गुण अंतर्निहित हैं, उनमें सर्वप्रथम तथा सर्वोपरि गुण है— गति, जो केवल यांत्रिक तथा गणितीय गति के रूप में ही नहीं बल्कि मुख्यतः आवेग, प्राणशक्ति, तनाव अथवा जैकब बेहमे की भाषा में कहें तो qual[3] के रूप में है।

''भौतिकवाद के प्रथम स्रष्टा बेकन के दर्शन में भौतिकवाद के बहुमुखी विकास के बीज अभी भी सन्निहित हैं। एक ओर तो भूतद्रव्य के चारों ओर ऐंद्रिय, काव्यात्मक प्रकाश है और मानो वह मनोहारी मुस्कानों से मानव की संपूर्ण सत्ता को अपनी ओर आकृष्ट करता है। दूसरी ओर, सूत्र रूप में प्रतिपादित उनके सिद्धांत में क़दम-क़दम पर धर्मशास्त्र से आयातित असंगतियाँ भरी पड़ी हैं।

---

1. **नाममात्रवादी** — मध्ययुगीन दर्शन की एक धारा के प्रतिनिधि, जिनके अनुसार सामान्य अवधारणाएँ विशेष वस्तुओं के नाम भर हैं। मध्ययुगीन यथार्थवादियों के विपरीत नामवादी अवधारणाओं की स्वतंत्र सत्ता को अस्वीकार करते थे; वे यह नहीं मानते थे कि बिंबों की पृथक स्थिति है और वस्तुओं का मूल विचारों में है। मतलब यह कि उनकी दृष्टि में वस्तुएँ प्राथमिक तथा अवधारणाएँ द्वितीयक थीं। दूसरे शब्दों में, मध्य युग में नामवाद ही भौतिकवाद की प्रारंभिक अभिव्यक्ति था।
2. **homoiomeriae** — सूक्ष्मतम तथा निश्चित गुणधर्म-सम्पन्न भौतिक कण, जिनका अंतहीन विभाजन हो सकता है। अनाक्सागोरस के अनुसार ये कण ही समस्त अस्तित्व के मूलाधार हैं तथा उनके विविध संयोजनों से ही वस्तुओं का वैविध्य उत्पन्न होता है।
3. 'Qual' शब्द में दार्शनिक श्लेष है। इसका शाब्दिक अर्थ है यंत्रणा, एक ऐसी पीड़ा जो किसी क्रिया को जन्म दे। इसके साथ ही रहस्यवादी बेहमे ने इस जर्मन शब्द में लैटिन शब्द qualitas (गुण) का कुछ पुट डाल दिया है। उनका 'qual' बाहर से पहुँचायी जाने वाली पीड़ा के विपरीत, वह क्रियात्मक तत्त्व है, जो उसके अधीन किसी वस्तु, संबंध अथवा व्यक्ति के स्वतःस्फूर्त विकास से उत्पन्न होता है और फिर उसे बल देता है।

''अपने आगामी विकास में भौतिकवाद एकांगी हो जाता है। जिस व्यक्ति ने बेकन के भौतिकवाद को व्यवस्थित रूप दिया— उनका नाम है हॉब्स। इंद्रियजनित काव्यात्मक ज्ञान का सौरभ नष्ट हो जाता है, वह गणितशास्त्री के अमूर्त अनुभव में बदल जाता है। ज्यामिति को मुख्य विज्ञान (विज्ञानों की रानी) घोषित कर दिया जाता है। भौतिकवाद मानव-द्वेषी बन जाता है। यदि उसे अपने शत्रु—मानव द्वेषी, अशरीरी (हाड़-माँस रहित) अध्यात्मवाद—को उसके ही घर में पराजित करना है, तो भौतिकवाद को स्वयं अपने शरीर को दंड देना होगा तथा तपस्वी बनना होगा। इस प्रकार वह ऐंद्रिय न रहकर बौद्धिक रूप धारण कर लेता है; परन्तु इसी प्रकार—इसका परिणाम चाहे जो भी हो—उसमें वह संगति और व्यवस्था भी आती है, जो बुद्धि की लाक्षणिक विशिष्टता होती है।

''बेकन के काम को आगे बढ़ाने वाले हॉब्स इस प्रकार तर्क करते हैं : यदि समस्त मानवीय ज्ञान इंद्रियजनित है, तब तो हमारी अवधारणाएँ एवं विचार वास्तविक जगत की छायाएँ मात्र हैं— अपने ऐंद्रिय रूप से वंचित छायाएँ। दर्शन इन छायाओं को केवल नाम दे सकता है। एक नाम उनमें से अनेक पर लागू हो सकता है। नामों तक के भी नाम हो सकते हैं। परन्तु यदि हम एक ओर यह कहें कि समस्त विचारों का स्रोत इंद्रियगोचर जगत् है और दूसरी ओर यह मानें कि शब्द में शब्द से अधिक भी कुछ होता है, या यह कि इंद्रियों द्वारा ज्ञात उन सत्वों के अलावा, जो सबके सब व्यष्टि हैं—व्यक्तिगत स्वरूप के नहीं वरन् सामान्य स्वरूप के भी सत्त्व होते हैं—तो यह कथन अपने आप में अंतर्विरोधपूर्ण होगा। देहहीन द्रव्य वैसी ही बेतुकी बात है जैसी कि देहहीन देह। शरीर, सत्ता, द्रव्य— एक ही वास्तविकता के अलग-अलग नाम हैं। चिंतन को चिंतन करने वाले भूतद्रव्य से पृथक करना असम्भव है। यह भूतद्रव्य विश्व में घटित हो रहे समस्त परिवर्तनों का अधःसंस्तर (आधार) है। अनंत शब्द अर्थहीन हैं, यदि वह यह न समझा दे कि हमारे मस्तिष्क में जोड़ लगाते जाने की अनंत प्रक्रिया सम्पन्न करने की क्षमता है। केवल भौतिक वस्तुओं का प्रत्यक्ष ज्ञान होने— यानी हमारे लिए ज्ञेय होने— के कारण ही हम परमात्मा के बारे में **कुछ नहीं** जान सकते। अकेले मेरा अस्तित्व ही सुनिश्चित है। प्रत्येक मानवीय आवेग यांत्रिक गति है, जिसका आरम्भ है तथा अंत भी। जो हमारे आवेग के विषय हैं उन्हीं को हम श्रेष्ठ कहते हैं। मनुष्य भी उन्हीं नियमों के अधीन होता है, जिनके अधीन प्रकृति होती है। शक्ति एवं स्वतंत्रता समरूप होती है।

''हॉब्स ने बेकन के चिंतन को व्यवस्थित रूप तो प्रदान किया था किन्तु उनके इस मूल सिद्धांत का कि समस्त मानवीय ज्ञान तथा विचारों का स्रोत इंद्रियगोचर जगत् है, कोई और प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया। यह प्रमाण लाक ने अपनी रचना 'मानवीय समझ के बारे में निबंध' में प्रस्तुत किया था।

"हॉब्स ने बेकन के ईश्वरवादी पूर्वाग्रहों को ध्वस्त कर दिया था। इसी तरह कॉलिंस, डॉडवेल, कावर्ड, हार्टले, प्रीस्टले ने लाक के संवेदनवाद को जकड़े रहने वाले अंतिम धर्मशास्त्रीय बंधनों को तोड़ डाला। जो भी हो— भौतिकवादियों के लिए तटस्थेश्वरवाद धर्म से छुटकारा पाने का सुगम मार्ग मात्र है।"[1]

कार्ल मार्क्स ने ब्रिटेन में आधुनिक भौतिकवाद के उद्‌भव के बारे में यही (इसी तरह) लिखा था और उनके पूर्वजों को मार्क्स ने जो सम्मान दिया था, अगर आजकल वह अंग्रेजों को भाता नहीं, तो यह अफ़सोस की बात है। फिर भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि बेकन, हॉब्स और लाक ही फ्रांस के उस उज्ज्वल भौतिकवादी पंथ के जन्मदाता थे, जिसने— बावजूद जल-थल पर लड़ी गयी उन समस्त लड़ाइयों के, जिनमें जर्मनों तथा अंग्रेज़ों ने फ्रांसीसियों के ऊपर विजय पायी थी — 18वीं शताब्दी को सर्वोपरि फ्रांसीसी शताब्दी बना दिया और वह भी इस युग का समापन करने वाली फ्रांसीसी क्रांति के पहले ही, जिसके परिणामों के, हम बाहर वाले इंग्लैंड और जर्मनी के लोग अभी भी अभ्यस्त होने का प्रयत्न कर रहे हैं।

इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। इस शताब्दी के मध्य में जो भी सुसंस्कृत विदेशी इंग्लैंड में आकर बस गया, उसे एक चीज़ बुरी तरह खटकी जिसे वह भद्र अंग्रेज़ मध्य वर्ग की धर्मांधता तथा मूर्खता की ही संज्ञा दे सकता था। उस समय हम सभी भौतिकवादी थे, या कम-से-कम मुक्तचिंतक तो थे ही और यह बात हमारी कल्पना से भी परे थी कि इंग्लैंड के प्रायः सभी शिक्षित लोग तरह-तरह की असम्भव, अलौकिक बातों (चमत्कारों) में विश्वास करें; यही नहीं, बकलैंड तथा मैंटेल जैसे भू-विज्ञानी तक अपने विज्ञान के तथ्यों को इस तरह तोड़े-मरोड़ें कि वे बाइबिल के उत्पत्ति ग्रंथ की कल्पनाओं व मिथकों के ख़िलाफ़ न जान पड़ें, जबकि उस समय धार्मिक मामलों में अपना दिमाग़ लगाने की हिम्मत करने वालों को ढूंढने के लिए आपको अशिक्षित, मैले-कुचैले (उन्हें उन दिनों इन्हीं नामों से पुकारा जाता था) लोगों के बीच—मज़ूदूरों, ख़ासकर ओवेन के अनुयायी समाजवादियों के बीच जाना पड़ता था।

लेकिन तब से इंग्लैंड सभ्य हो चुका है। 1851 की प्रदर्शनी[2] ने इंग्लैंड के द्विपीय अनन्यता (सबसे अलग-थलग रहने की विशिष्टता) के अंत की घोषणा कर दी। इंग्लैंड ने खान-पान, चाल-ढाल तथा विचारों में धीरे-धीरे अंतर्राष्ट्रीय रूप ग्रहण कर लिया, यहाँ तक कि मैं यह कामना करने लग गया हूँ कि कुछ अंग्रेजी तौर-तरीक़े तथा रिवाज़ शेष यूरोप में उसी तरह फैल जाएं जैसे महाद्वीपीय (शेष यूरोप के) आचार-विचार यहाँ फैल गये हैं। जो भी हो,

1. मार्क्स-एंगेल्स, 'पवित्र परिवार', फ्रैंकफुर्ट-आन-मेन, 1845, पृ. 201-204.
2. यहाँ आशय मई से अक्टूबर 1851 तक लंदन में हुई प्रथम विश्व व्यापारिक-औद्योगिक प्रदर्शनी से है।

जैतून के तेल के प्रसार के साथ-साथ (1851 से पूर्व इससे अभिजात वर्ग ही परिचित था) धार्मिक मामलों में महाद्वीपीय संशयवाद का भी घातक प्रसार हुआ है; हालत यहाँ तक पहुँच गयी है कि यद्यपि अभी तक अज्ञेयवाद को बिल्कुल इंग्लैंड के चर्च जितना 'सम्माननीय' नहीं माना जाता है, तो भी जहाँ तक उसके सम्मानित होने का प्रश्न है, वह क़रीब-क़रीब बपतिस्मा (दीक्षा) के स्तर पर तो पहुँच ही गया है और **मुक्ति-सेना**[1] से तो वह निश्चित तौर पर काफ़ी ऊपर पहुँच गया है। मैं यह सोचे बिना नहीं रह सकता कि ऐसी स्थिति में नास्तिकता की इस प्रगति से जो लोग सचमुच दुखी हैं तथा जो उसकी निंदा करते हैं, उन्हें इस बात से सांत्वना मिलेगी कि ये 'नयी-निराली धारणाएँ' कहीं बाहर पैदा नहीं हुईं— रोज़मर्रा के इस्तेमाल की और बहुत-सी चीज़ों की तरह **जर्मनी से निर्मित** नहीं हैं, बल्कि असंदिग्ध रूप से ठेठ अंग्रेज़ी हैं और यह भी कि दो सौ वर्ष पूर्व उनके (इन धारणाओं के) अंग्रेज़ जन्मदाता अपने आज के वंशजों से कहीं आगे बढ़ चुके थे।

यदि लंकाशायर के एक अभिव्यंजनापूर्ण शब्द का उपयोग करें तो अज्ञेयवाद 'झेंपू' भौतिकवाद के अतिरिक्त और है ही क्या? प्रकृति के विषय में अज्ञेयवादियों की धारणा पूर्ण रूप से भौतिकवादी है। समस्त प्राकृतिक जगत् नियमानुशासित है और उसमें बाह्य हस्तक्षेप की क़तई गुंजाइश नहीं है। परन्तु—वे आगे कहते हैं— ज्ञात जगत् से परे किसी परमब्रह्म की सत्ता है कि नहीं, इसको सुनिश्चित करने अथवा खंडित करने का हमारे पास कोई साधन नहीं है। यह बात उस समय तो सही हो सकती थी जब नेपोलियन ने लाप्लास से पूछा था कि उनकी 'खगोलीय यांत्रिकी' में सृजनकर्ता का उल्लेख तक क्यों नहीं है, तो उस महान खगोलशास्त्री ने गर्व से उत्तर दिया : "मुझे इस परिकल्पना की आवश्यकता ही न थी।" परन्तु आजकल विश्व की हमारी विकासवादी धारणा में न किसी सृजनकर्ता का स्थान है, न किसी शासक का। इस समूचे विद्यमान जगत् के परे किसी परमब्रह्म की बात करना ही विरोधाभास है और मुझे तो लगता है कि यह धार्मिक लोगों की भावनाओं का व्यर्थ में अपमान भी है।

फिर हमारा अज्ञेयवादी यह भी मानता है कि अपनी इंद्रियों से हमें जो सूचना मिलती है, हमारा सारा ज्ञान उसी पर आधारित है। परन्तु वह प्रश्न करता है: हम कैसे जानें कि हम अपनी इंद्रियों द्वारा जिन वस्तुओं का बोध करते हैं, हमारी इंद्रियाँ हमें उनका सही चित्र देती हैं? और तब वह हमें बताता है कि जब वह वस्तुओं तथा उनके गुणों की बात करता है,

---

1. **मुक्ति-सेना**— एक प्रतिक्रियावादी तथा लोकोपकारक संगठन, जिसे इंग्लैंड में 1865 में स्थापित और 1880 में सैनिक तर्ज़ पर पुनः संगठित किया गया था (जिसके कारण उसका नाम मुक्ति-सेना पड़ा)। पूँजीपति वर्ग की प्रचुर सहायता के बल पर इस संगठन ने अनेक देशों में लोकोपकारक संस्थाओं का एक जाल-सा बिछा दिया, ताकि मेहनतकश जनता को शोषक-विरोधी संघर्ष से विरत किया जा सके।

उसका मतलब वास्तव में इन वस्तुओं तथा गुणों से नहीं होता— उनके बारे में वह कुछ भी निश्चित रूप से जानने में असमर्थ है— ये वस्तुएँ उसकी इंद्रियों पर जो प्रभाव डालती हैं, उसका मतलब केवल उन्हीं से होता है। इस तर्क का केवल तर्क के सहारे खंडन करना निस्संदेह कठिन है। परन्तु तर्क के पहले कर्म (व्यवहार) था। 'प्रारंभ में कर्म का ही अस्तित्व था'[1]। मानवीय विदग्धता (पटुता) ने 'कठिनाई' की धारणा ईजाद की, उससे बहुत पहले मानवीय कर्म ने उसे हल कर लिया था। पुडिंग के होने का प्रमाण खाने की क्रिया में निहित होता है। हम वस्तुओं में जिन गुणों का अवबोध करते हैं, उनके अनुसार जहाँ हम उनको अपने उपयोग में लाना शुरू करते हैं, हम अपने इंद्रिय-ज्ञान को एक ऐसी कसौटी पर कसने लगते हैं जो ग़लत नहीं हो सकती। यदि यह इंद्रिय-ज्ञान ग़लत सिद्ध होता है तो हमारा यह अनुमान भी ग़लत रहा होगा कि किसी वस्तु को किसी उपयोग में लाया जा सकता है और हमारा प्रयत्न विफल होगा। परन्तु यदि हम अपने ध्येय को प्राप्त करने में सफल होते हैं, यदि हम यह देखते हैं कि यह वस्तु उसके संबंध में हमारी धारणा से मेल खाती है और हम इससे जो काम लेना चाहते हैं यह उस काम आती है, तो यह इस बात का पक्का सबूत है कि **इस हद तक** उसका तथा उसके गुणों का हमारा प्रत्यक्ष ज्ञान हमारे बाहर की वास्तविकता से मेल खाता है। जब भी हम विफलता का सामना करते हैं, हमें साधारणतः अपनी विफलता का कारण समझने में देर नहीं लगती। हम देखते हैं कि जिस प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर हमने काम किया, वह या तो अधूरा और सतही था, या अन्य वस्तुओं के प्रत्यक्ष ज्ञान के फलों से असंगत व अवांछित रूप से संयोजित था—और इसी को हम दोषपूर्ण तर्कणा कहते हैं। जब तक हम अपनी इंद्रियों को ठीक से साधने और उपयोग करने का तथा अपने व्यवहार को उचित ढंग से प्राप्त एवं संयुक्त प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा निर्धारित सीमा के भीतर ही रखने का ध्यान रखते हैं, तब तक हम देखेंगे कि हमारे प्रयोग के फल से यह सिद्ध हो जाता है कि हमारा प्रत्यक्ष ज्ञान उस वस्तु की वस्तुपरक प्रकृति के अनुरूप है— जिसका हम अपनी इंद्रियों द्वारा बोध करते हैं। अभी तक एक भी उदाहरण ऐसा नहीं है, जिसमें हम इस परिणाम पर पहुँचे हों कि वैज्ञानिक रूप से नियंत्रित हमारा इंद्रिय-ज्ञान बाह्य-जगत् के विषय में हमारे मन में ऐसे विचारों को जन्म देता है, जो अपनी प्रकृति से ही वास्तविकता के प्रतिकूल हों अथवा यह कि बाह्य-जगत् और उस विषय में हमारे इंद्रिय-ज्ञान के बीच कोई स्वाभाविक असंगति है।

इसके बाद नव-कांटवादी अज्ञेयवादी आ जाते हैं और कहते हैं : हमें किसी वस्तु के गुणों का सच्चा अवबोध हो सकता है, परन्तु हम किसी भी इन्द्रिय अथवा मानसिक प्रक्रिया

---

1. गेटे की कृति 'फ़ाउस्ट' से।—संपा.

से वस्तु-निजरूप को समझ नहीं सकते। यह 'वस्तु-निजरूप' हमारी समझ से परे है। हेगेल ने बहुत पहले ही इसका उत्तर दे दिया है— अगर आप किसी वस्तु के सभी गुणों को जानते हैं तो आप स्वयं उस वस्तु को जानते हैं; अगर कोई बात रह जाती है तो सिर्फ़ यही कि यह वस्तु हमसे बाहर है— और जब आपने अपनी इन्द्रियों के द्वारा भी इस बात को ज्ञात कर लिया, तो आपने कांट के विख्यात वस्तु-निजरूप के शेषांश को भी ग्रहण कर लिया और कोई बात बाक़ी नहीं रही। इसमें इतना और जोड़ा जाना चाहिए कि कांट के समय में प्राकृतिक वस्तुओं का हमारा ज्ञान सचमुच इतना आंशिक तथा विच्छिन्न (टुकड़ा-टुकड़ा ज्ञान) था कि उनका यह सन्देह करना स्वाभाविक ही था कि इन वस्तुओं में से हरेक के बारे में हमारा जो न्यून ज्ञान है, उसके परे एक रहस्यमय 'वस्तु-निज-रूप' का अस्तित्व है। परन्तु विज्ञान की विराट प्रगति के कारण एक के बाद एक ये पकड़ में न आने वाली वस्तुएँ पकड़ में आ गई हैं, विश्लेषित की गयी हैं और इतना ही नहीं, **पुनरुत्पादित** भी की गयी हैं। जिस वस्तु का हम उत्पादन कर सकते हैं, उसे अज्ञेय तो हरगिज़ नहीं मान सकते। इस शताब्दी के पूर्वार्द्ध के रसायन-विज्ञान के लिए जैव पदार्थ इसी तरह के रहस्यमय पदार्थ थे। अब हम जैव प्रक्रियाओं की सहायता के बिना ही एक के बाद एक इन जैव पदार्थों को उनके रासायनिक तत्त्वों से तैयार करना सीख रहे हैं। आधुनिक रसायन-विज्ञानी कहते हैं कि जैसे ही हम किसी भी पिंड की संरचना को जान लेते हैं, हम उसे उसके तत्वों से तैयार कर सकते हैं। हम अभी उच्चतम जैव पदार्थों अर्थात् ऐल्बूमिनी पिण्डों की रासायनिक संरचना जान लेने से काफ़ी दूर हैं, फिर भी कोई कारण नहीं है कि हम इस ज्ञान को प्राप्त न कर पायें—चाहे इसमें शताब्दियाँ लग जायें—और उससे लैस होकर कृत्रिम ऐल्बूमिन उत्पन्न न कर लें। लेकिन अगर हम यह कर पाये, तब हम साथ ही जैव जीवन को भी उत्पन्न कर लेंगे क्योंकि निम्नतम से लेकर उच्चतम रूपों में ऐल्बूमिन पिण्डों के अस्तित्व का सामान्य रूप ही तो जीवन है।

इन रूपवादी मानसिक प्रतिबन्धों को प्रस्तुत करके ही हमारे अज्ञेयवादी का रवैया दूसरा हो जाता— वह घोर भौतिकवादी, जो कि वह वास्तव में है भी, की तरह बात तथा काम करता है। वह कह सकता है कि जहाँ तक **हम** जानते हैं— भूतद्रव्य और गति, या जैसा आजकल कहा जाता है— ऊर्जा न तो उत्पन्न की जा सकती है और न नष्ट, परन्तु हमारे पास इस बात का प्रमाण नहीं है कि वह किसी भी समय उत्पन्न नहीं की गयी थी। किन्तु यदि आप उसकी इस उक्ति को किसी ख़ास मामले में उसके ही ख़िलाफ़ इस्तेमाल करने की कोशिश करेंगे तो वह आपके दावे को तत्काल ख़ारिज करवा देगा। अमूर्त रूप में वह चाहे अध्यात्मवाद की सम्भावना को मान ले, व्यवहार में उसे अपने पास फटकने भी नहीं देगा। वह आपको

बतायेगा कि जहाँ तक हम जानते हैं और जान सकते हैं, विश्व का न तो कोई सृजनकर्ता है और न शासक। जहाँ तक हम जानते हैं भूतद्रव्य और ऊर्जा न तो उत्पन्न की जा सकती है और न विनष्ट। हमारे लिए मन ऊर्जा का एक प्रकार है, मस्तिष्क की एक क्रिया है; हम इतना ही जानते हैं कि भौतिक जगत् शाश्वत नियमों से अनुशासित है आदि। इस प्रकार जहाँ तक वह वैज्ञानिक है, जहाँ तक वह कुछ जानता है, वह भौतिकवादी है; पर अपने विज्ञान से बाहर, उन क्षेत्रों में जिनके बारे में वह कुछ नहीं जानता वह अपने अज्ञान का यूनानी भाषा में अनुवाद कर देता है और उसे अज्ञेयवाद के नाम से पुकारता है।

जो भी हो, एक बात साफ़ दिखायी देती है : यदि मैं अज्ञेयवादी होता, तो भी यह स्पष्ट है कि इस पुस्तिका में मैंने इतिहास की जिस अवधारणा को चित्रित किया है, उसे मैं 'ऐतिहासिक अज्ञेयवाद' नहीं कह सकता था। ईश्वर में आस्था रखने वाले लोग मुझ पर हँसते और अज्ञेयवादी गुस्से में भरकर मुझे पूछते कि क्या मैं उनका मज़ाक उड़ाने जा रहा हूँ? इसलिए मैं आशा करता हूँ कि ब्रिटिश भद्रता को भी बहुत ज़्यादा धक्का नहीं लगेगा, यदि मैं इतिहास की गति की उस अवधारणा को नाम देने के लिए अंग्रेज़ी में तथा अन्य बहुत-सी भाषाओं में, 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' शब्द का प्रयोग करूँ; जिसके अनुसार सभी महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं की मुख्य प्रेरक शक्ति और उनका अन्तिम कारण समाज के आर्थिक विकास में, उत्पादन तथा विनिमय प्रणालियों के परिवर्तन में और परिणामस्वरूप समाज के विभिन्न वर्गों में विभाजन में तथा एक-दूसरे के ख़िलाफ़ इन वर्गों के संघर्षों में निहित है।

मेरे ऊपर इतनी कृपा तो शायद जल्दी ही की जायेगी यदि मैं यह सिद्ध कर दूँ कि ऐतिहासिक भौतिकवाद ब्रिटिश भद्रता के लिए भी हितकर हो सकता है। मैंने इस बात का उल्लेख किया है कि आज से चालीस या पचास वर्ष पूर्व इंग्लैंड में आकर बसने वाले हर सुंसुस्कृत विदेशी की दृष्टि में एक चीज़ बुरी तरह खटकती थी, जिसे वह भद्र अंग्रेज़ मध्य वर्ग की धर्मान्धिता और मूर्खता की संज्ञा देने को वह विवश था। अब मैं यह सिद्ध करने जा रहा हूँ कि उस ज़माने का भद्र अंग्रेज़ मध्य वर्ग इतना बुद्धू नहीं था जितना वह बुद्धिमान विदेशी को लगता था। उसकी धार्मिक प्रवृत्तियों (झुकावों) का कारण समझा जा सकता है।

जब यूरोप मध्य युग से निकलकर बाहर आया, शहरों का उदीयमान मध्य वर्ग ही उसका क्रांतिकारी तत्त्व था। उसने मध्ययुगीन सामंती व्यवस्था के भीतर अपने लिए एक मान्य स्थान बना लिया था, परन्तु यह स्थान भी उसकी विस्तार शक्ति की दृष्टि से काफ़ी संकुचित हो गया था। सामंती व्यवस्था के रहते मध्य वर्ग का, **पूँजीपति वर्ग** का, विकास असम्भव हो गया था, अतएव सामंती व्यवस्था का पतन अवश्यंभावी था।

लेकिन सामंतवाद का महान् अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र रोमन कैथोलिक चर्च था। उसने अन्दरूनी लड़ाइयों के बावजूद, समस्त सामंतीकृत पश्चिमी यूरोप को एक वृहत् राजनीतिक प्रणाली के अन्तर्गत एकीकृत कर दिया। इस प्रणाली का पार्थक्यवादी यूनानियों से उतना ही विरोध था, जितना मुस्लिम देशों से। उसने सामंती संस्थाओं के चारों ओर ईश्वरीय पावित्र्य का प्रभामंडल फैला दिया था। उसने सामंती नमूने पर पदों की अपनी एक सोपान व्यवस्था क़ायम कर ली तथा कैथोलिक जगत् की एक-तिहाई भूमि का स्वामी होने के कारण वह स्वयं सबसे अधिक शक्तिशाली सामंती प्रभु बन गया। इससे पहले कि लौकिक सामंतवाद पर हर देश में और हर बात को लेकर सफलतापूर्वक आक्रमण किया जा सकता, उसके इस पवित्र केन्द्रीय संगठन को ध्वस्त करना आवश्यक था।

इसके अलावा, मध्यवर्ग के उत्थान के साथ ही विज्ञान का शक्तिशाली पुनरुत्थान भी हो रहा था। खगोल-विज्ञान, यांत्रिकी, भौतिकी, शरीर-रचना-विज्ञान, शरीर-क्रिया विज्ञान— इन सबका अध्ययन-अनुशीलन फिर से आरम्भ हुआ। आधुनिक औद्योगिक उत्पादन के विकास के लिए पूँजीपति वर्ग को एक ऐसे विज्ञान की आवश्यकता थी, जो प्राकृतिक वस्तुओं के भौमिक गुण-धर्म का और प्राकृतिक शक्तियों की क्रिया पद्धतियों का ठीक-ठीक पता लगा सके। उस समय तक विज्ञान और कुछ नहीं, चर्च का विनीत दास था तथा धर्म द्वारा निर्धारित सीमाओं का अतिक्रमण कर पाने की उसे छूट नहीं दी गयी थी और इसलिए वस्तुतः यह विज्ञान था ही नहीं। अब जब विज्ञान ने चर्च के ख़िलाफ़ विद्रोह किया तो पूँजीपति वर्ग को भी इस विद्रोह में शामिल होना पड़ा था, क्योंकि विज्ञान के बिना पूँजीपति वर्ग का काम ही नहीं चल सकता था।

जिन बातों को लेकर उदीयमान मध्यवर्ग का संस्थापित धर्म के साथ टकराव अनिवार्य हो गया था; ऊपर उनमें से सिर्फ़ दो का ज़िक्र भर किया गया है, लेकिन यह दर्शाने के लिए यह काफ़ी होगा कि रोमन चर्च के दावों व दम्भ के ख़िलाफ़ संघर्ष करने में जिस वर्ग की सीधी-सीधी रुचि थी वह था। पूँजीपति वर्ग; दूसरे, चूँकि उस ज़माने में सामंतवाद के ख़िलाफ़ हर संघर्ष को धार्मिक जामा पहनाना पड़ता था, इसलिए उसे (संघर्ष को) सबसे पहले चर्च के ख़िलाफ़ निर्दिष्ट किया जाना आवश्यक था— लेकिन यदि विश्वविद्यालयों ने तथा शहरी व्यापारियों ने आवाज़ बुलन्द की, तो यह अनिवार्य था और वास्तव में हुआ भी ऐसा ही — कि आम देहाती जनता में किसानों उसकी सशक्त गूँज सुनायी पड़ती, क्योंकि इन्हें तो सर्वत्र अपने अस्तित्व तक के लिए अपने सामंती प्रभुओं लौकिक तथा धार्मिक प्रभुओं— से संघर्ष करना पड़ता था।

सामंतवाद के विरुद्ध पूँजीपति वर्ग के लम्बे संघर्ष की परिणति तीन बड़ी तथा निर्णायक लड़ाइयों में हुई।

पहली लड़ाई वह है जिसे जर्मनी के 'प्रोटेस्टेंट सुधार आंदोलन' के नाम से जाना जाता है। लूथर ने चर्च के ख़िलाफ़ जो रणभेरी बजायी, उसके जवाब में राजनीतिक क़िस्म के दो विद्रोह हुए—पहला, फ्रांज़ फ़ान सिकिंगन के नेतृत्व में छोटे सामंतों का विद्रोह (1523) और इसके बाद 1525 का महान् किसान युद्ध। दोनों पराजित हुए और इस पराजय का मुख्य कारण इन विद्रोहों में सबसे अधिक रुचि रखने वाले पक्ष— शहर के बर्गरों—का ढुलमुलपन था। इस ढुलमुलपन के कारणों की चर्चा हम यहाँ नहीं कर सकते। उसी समय से इस संघर्ष ने लक्ष्य-भ्रष्ट होकर स्थानीय राजाओं तथा केन्द्रीय सत्ता के बीच संघर्ष का रूप ले लिया और इसका परिणाम यह हुआ कि जर्मनी अगले दो सौ वर्षों के लिए यूरोप के राजनीतिक दृष्टि से सक्रिय राष्ट्रों की क़तार से बाहर हो गया। फिर भी लूथर के सुधार आंदोलन ने एक नये धर्म को जन्म दिया, एक ऐसे धर्म को— जो निरंकुश राजतंत्र के सर्वथा अनुकूल था। उत्तर-पूर्वी जर्मनी के किसानों ने ज्योंही लूथरवाद को अंगीकार किया, वे गिरकर आज़ाद किसान से भू-दास बन गये।

लेकिन जहाँ लूथर असफल रहे, वहाँ काल्विन की विजय हुई। काल्विन का मत उस ज़माने के सबसे साहसी पूँजीपतियों के लिए उपयुक्त था। उसका पूर्व नियतिवाद का सिद्धांत इस वास्तविकता की धार्मिक अभिव्यक्ति था कि होड़ के व्यापारिक जगत् में सफलता या असफलता मनुष्य के कर्म अथवा कौशल पर नहीं; बल्कि ऐसी परिस्थितियों पर निर्भर होती है, जिन पर उनका कोई वश नहीं होता। यह सफलता या असफलता उस व्यक्ति पर निर्भर नहीं होती जो इच्छा (संकल्प) करता है या दौड़-भाग करता है, बल्कि अज्ञात एवं शक्तिशाली आर्थिक शक्तियों की कृपा पर निर्भर करती है। यह बात आर्थिक क्रांति के युग में तो और भी सही सिद्ध हो गयी— एक ऐसे युग में जब सभी पुराने व्यापारिक मार्गों और केन्द्रों की जगह नये मार्गों तथा केन्द्रों ने ले ली थी, जब दुनिया के लिए भारत और अमरीका के मार्ग खुल गये थे और जब आर्थिक आस्था के सबसे पवित्र प्रतीक— सोना और चाँदी के मूल्य तक लड़खड़ाने व चरमराने लगे थे। काल्विन के चर्च का संविधान सम्पूर्णतः जनवादी एवं गणतंत्रीय था और जहाँ ईश्वर के राज्य को ही गणतंत्र का रूप दे दिया गया हो, वहाँ इस लौकिक जगत् के राज्य ही राजाओं, बिशपों और सामंतों के अधिकार में कैसे रह सकते थे? जहाँ जर्मन लूथरवाद स्वेच्छा से राजाओं का अस्त्र बन गया, काल्विनवाद ने हालैंड में एक गणतंत्र की

स्थापना की तथा इंग्लैंड में और सर्वोपरि स्काटलैंड में सक्रिय गणतंत्रवादी पार्टियों की स्थापना की।

दूसरी बड़ी पूँजीवादी उथल-पुथल ने काल्विनवाद में अपना सिद्धांत पहले से ही तैयार पाया। यह उथल-पुथल इंग्लैंड में हुई। शहरी मध्यवर्ग ने इसका सूत्र-पात किया और देहाती इलाक़ों का मध्यम किसान वर्ग उसे विजय तक ले गया। यह भी एक विचित्र बात है कि इन तीनों महान् पूँजीवादी विद्रोहों में किसानों से ही वह फ़ौज तैयार हुई, जिसे लड़ाई लड़नी थी और किसान ही वह वर्ग है जो विजय मिलते ही, उस विजय के आर्थिक परिणामों से शर्तिया तौर पर चौपट हो जाता है। क्रामवेल के सौ वर्ष बाद इंग्लैंड का यह मध्यम किसान वर्ग लगभग ग़ायब हो चुका था। जो भी हो, यदि ये किसान न होते और शहरों के **साधारण जन** न होते, तो अकेला पूँजीपति वर्ग न तो इस लड़ाई को उसके कटु अन्त तक ले जा पाता और न चार्ल्स प्रथम को सूलों पर ही चढ़ा पाता। पूँजीपति वर्ग की उन जीतों को, जिनके लिए परिस्थितियाँ परिपक्व हो गयी थीं, हासिल करने के लिए भी क्रांति को और भी आगे ले जाना आवश्यक था, ठीक वैसे ही जैसे 1793 में फ्रांस में हुआ और 1848 में जर्मनी में। वास्तव में यह पूँजीवादी समाज के विकास का एक नियम जैसा ही प्रतीत होता है।

ख़ैर, क्रांतिकारी सक्रियता के इस आधिक्य के बाद आवश्यक रूप से उसकी अनिवार्य प्रतिक्रिया भी हुई और यह प्रतिक्रिया भी अपनी बारी में जिस बिन्दु पर स्थिर हो सकती थी, उस पर न ठहरकर उससे आगे बढ़ गयी। इस तरह बहुत बार आगे-पीछे डगमगाने व डोलने के बाद गुरुत्व का एक नया केन्द्र स्थापित हुआ और यही नया प्रस्थान बिन्दु भी बना। इंग्लैंड के इतिहास के उस शानदार युग की जिसे भद्रजन 'महान् विद्रोह' के नाम से जानते हैं —तथा परवर्ती संघर्षों की परिणति एक ऐसी अपेक्षाकृत तुच्छ घटना में हुई, जिसे उदारवादी इतिहासकारों ने 'गौरवमय क्रांति'[1] की संज्ञा दी है।

यह नया प्रस्थान बिन्दु उदीयमान मध्यवर्ग तथा भूतपूर्व सामंती ज़मींदारों के बीच समझौता था और यद्यपि ये ज़मींदार आज की तरह तब भी अभिजात वर्ग ही कहलाते थे, वे दीर्घकाल से ऐसे पथ पर अग्रसर थे, जिस पर चलकर वे बहुत बाद में आने वाले फ्रांस के लुई फ़िलिप की तरह— 'राज्य के पहले पूँजीपति' बन गये। इंग्लैंड का यह सौभाग्य था कि बड़े-

---

1. इंग्लैंड की 1688 की क्रांति ब्रिटिश पूँजीवादी इतिहास-लेखन में **'गौरवमय क्रांति'** कही गयी है। स्टुअर्ट राजवंश को गद्दी से उतार दिया गया था तथा ओरांवंशी विल्हेल्म को सिंहासन पर बैठाकर (1689) वैधानिक राजतंत्र स्थापित किया गया था। यह राजतंत्र सामंती अभिजात वर्ग तथा बड़े पूँजीपति वर्ग के बीच समझौते का द्योतक था।

बड़े पुराने सामंतों ने **'गुलाबों की लड़ाई'**[1] में एक-दूसरे को मार डाला था। उनके उत्तराधिकारी यद्यपि पुराने परिवारों के ही वंशज थे, तथापि इन परिवारों से उनका सम्बन्ध सीधा नहीं, इतना दूर का हो गया था कि वे ख़ानदानी न रहकर बिल्कुल एक नया ही समूह बन गये थे; जिसके संस्कार और जिसकी प्रवृत्तियाँ सामंती कम और पूँजीवादी अधिक थीं। वे धन के मूल्य को पूरी तरह समझते थे और उन्होंने फ़ौरन सैकड़ों छोटे-छोटे किसानों को बेदख़ल कर तथा उनकी जगह भेड़ें रखकर लगान बढ़ाना शुरू कर दिया। हेनरी अष्टम् ने चर्च की ज़मीनों को लुटाने के साथ ही साथ बहुत से नये पूँजीवादी ज़मींदार पैदा कर दिये। पूरी सत्रहवीं शताब्दी में अनगिनत ज़ागीरों को ज़ब्त करने तथा उन्हें नये रईसों को या पुराने रईसों को बख़्श देने का जो सिलसिला चलता रहा, उसका भी यही नतीज़ा हुआ। फलस्वरूप हेनरी सप्तम् के समय से ही अंग्रेज़ 'अभिजात वर्ग' ने औद्योगिक उत्पादन के विकास में बाधा डालना तो दूर, परोक्ष रूप से उससे फ़ायदा उठाने की कोशिश की और बड़े ज़मीदारों का एक ऐसा भाग सदा रहा जो आर्थिक कारणों से अथवा राजनीतिक कारणों से, महाजनी तथा औद्योगिक पूँजीपति वर्ग के मुखियाओं (नेतृत्ववादी व्यक्तियों से) सहयोग करने को प्रस्तुत था। इसलिए 1689 का समझौता बेहद आसानी से सम्पन्न हो गया। 'धन और पद' के रूप में राजनीतिक लाभ बड़े-बड़े सामंती परिवारों के लिए आरक्षित कर दिये गये, बशर्ते कि महाजनी औद्योगिक तथा व्यापारी मध्यवर्ग के हितों पर ध्यान दिया जाता रहे। उस ज़माने में ये आर्थिक हित इतने शक्तिशाली थे कि वे राष्ट्र की सामान्य नीति को निर्धारित करने में समर्थ थे। छोटी-मोटी बातों को लेकर चाहे जो झगड़े रहे हों, कुल मिलाकर अभिजात वर्ग का शासन गुट यह अच्छी तरह जानता था कि उसकी अपनी आर्थिक समृद्धि औद्योगिक तथा व्यापारी मध्यवर्ग की समृद्धि से अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हुई है।

---

1. **गुलाबों की लड़ाई**— इंग्लैंड में राजवंशीय संघर्ष (1455-1485)। यह संघर्ष लंकास्टर तथा यार्क के सामंती घरानों के बीच हुआ और चूँकि इन घरानों के चिह्न लाल तथा सफ़ेद गुलाब थे, उसे गुलाबों की लड़ाई कहा गया। यार्क घराने को देश के दक्षिणी, आर्थिक दृष्टि से अधिक उन्नत भाग के बड़े-बड़े ज़मींदारों का और साथ ही शूरमाओं तथा शहरी लोगों का भी समर्थन प्राप्त था; उधर लंकास्टर घराने को उत्तरी ज़िलों के सामंती अभिजात वर्ग का समर्थन प्राप्त था। इन लड़ाइयों का नतीज़ा यह हुआ कि प्राचीन सामंती घराने लगभग पूरी तरह मर-खप गये और एक नये राजवंश ट्यूडर— राजवंश— का उदय हुआ, जिसने देश में निरंकुश राजतंत्र की स्थापना की।

उस ज़माने से पूँजीपति वर्ग इंग्लैंड के शासक वर्गों का एक विनम्र किन्तु मान्य संघटक बन गया। राष्ट्र की विशाल मेहनतकश जनता को अंकुश में रखने में औरों के साथ-साथ उसका भी स्वार्थ था। व्यापारी या कारख़ानेदार ख़ुद अपने क्लर्कों, मज़दूरों तथा घरेलू नौकरों के मुक़ाबले में मालिक की— या जैसा अभी हाल तक कहा जाता था— जन्मतः श्रेष्ठ की हैसियत रखता था। उसका स्वार्थ इस बात में था कि वह उनसे ज़्यादा-से-ज़्यादा तथा अच्छे-से-अच्छा काम ले और इसके लिए उन्हें इस तरह प्रशिक्षित किया जाना ज़रूरी था कि वे उसकी बात मानें तथा उसके कहने में चलें। वह स्वयं धार्मिक था; अपने धर्म के झंडे के तले ही उसने राजा और सामंतों से संघर्ष किया था और उसे यह पता लगाने में देर नहीं लगी कि अपने से जन्मतः नीचे लोगों के विचारों को प्रभावित करने का तथा ईश्वर ने अपनी मर्ज़ी से उन्हें जिन मालिकों के अधीन बनाया था, इन लोगों को अपनी इच्छा के अधीन रखने का अवसर भी यह धर्म ही देता था। संक्षेप में, अंग्रेज़ पूँजीपति वर्ग को अब 'नीची श्रेणियों' को, राष्ट्र की विशाल उत्पादक जनता को, दबाये रखने के काम में हिस्सा लेना था और इस उद्देश्यों की सिद्धि के लिए जो साधन अपनाये गये, उनमें से एक धर्म का प्रभाव भी था।

एक और बात थी, जिसने पूँजीपति वर्ग की धार्मिक प्रवृत्तियों को सबल बनाने में योगदान किया— यह था इंग्लैंड में भौतिकवाद का उदय। इस नये सिद्धांत ने मध्य वर्ग की पवित्र भावनाओं को धक्का ही नहीं दिया, उसने स्वयं को एक ऐसे दर्शन के रूप में भी घोषित किया, जो विद्वानों तथा शिक्षित सांसारिक मनुष्यों के लिए ही उपयुक्त था और इसके विपरीत धर्म था, जो पूँजीपति वर्ग समेत अशिक्षित जनता के लिए काफ़ी अच्छा था। हॉब्स के साथ वह शाही विशेषाधिकारों और सर्वशक्तिमत्ता के रक्षक के रूप में मैदान में आया तथा उसने निरंकुश राजतंत्र का इसके लिए आह्वान किया कि वह इस **मोटे-तगड़े, किन्तु उद्दंड लड़के**[1] यानी जनता को दबाये रखे। इसी तरह हॉब्स के परवर्तियों— बोलिंगब्रोक, शैफ़्ट्सबरी इत्यादि— के दर्शन में भौतिकवाद का नवीन तटस्थेश्वरवादी रूप अभिजातीय तथा कुछ चुने हुए दीक्षित लोगों द्वारा ही उपलभ्य सिद्धांत बना रहा और इसलिए मध्य वर्ग ने उसे घृणा की दृष्टि से देखा— उसके धर्म-विरोधी विश्वासों के कारण तथा पूँजीवाद विरोधी राजनीतिक

1. हॉब्स की कृति **नागरिक के बारे में** के प्राक्कथन से।— सम्पा.

संबंधों के कारण भी। इसीलिए प्रगतिशील मध्यवर्ग का मुख्य भाग अभी भी, अभिजात वर्ग के भौतिकवाद तथा तटस्थेश्वरवाद के विरोध में, प्रोटेस्टेंट मतवादी संप्रदायों का अनुगामी बना रहा। इन संप्रदायों के झंडे के तले स्टुअर्ट राजवंश के ख़िलाफ़ लड़ाई लड़ी गयी, इन्हीं के लड़ाके दस्तों ने यह लड़ाई लड़ी और आज भी ये इंग्लैंड की 'महान् उदारवादी पार्टी' की रीढ़ बने हुए हैं।

इस बीच भौतिकवाद इंग्लैंड से फ्रांस पहुँचा, जहाँ वह दार्शनिकों के एक अन्य भौतिकवादी पंथ— देकार्तवाद[1] की एक शाखा के साथ घुल-मिलकर एक हो गया। फ्रांस में भी वह पहले-पहल केवल अभिजातीय मत ही बना रहा। परन्तु शीघ्र ही उसकी क्रांतिकारी प्रकृति उभरकर सामने आयी। फ्रांसीसी भौतिकवादियों ने अपनी आलोचना धार्मिक आस्था की बातों तक ही सीमित नहीं रखी, उनका जितनी भी वैज्ञानिक परंपराओं या राजनीतिक संस्थाओं से साबका पड़ा, उन सबको उन्होंने अपनी आलोचना की लपेट में ले लिया और अपना यह दावा— कि हमारा सिद्धांत सर्व-व्यापी है— साबित करने के लिए उन्होंने सबसे सीधा रास्ता अपनाया और अपने विराट ग्रंथ 'विश्वकोश' में उसे साहस के साथ हर विषय पर लागू किया। इसी 'विश्वकोश' से उनका नाम 'विश्वकोशकार' पड़ा। इस प्रकार स्पष्ट रूप से भौतिकवाद अथवा तटस्थेश्वरवाद— इन दो में से एक रूप में भौतिकवाद फ्रांस के सभी शिक्षित युवकों का मत बन गया; इस हद तक कि जब महान क्रांति भड़की, तब जिस सिद्धांत का अंग्रेज़ राजतंत्रवादियों ने पोषण किया था, उसने फ्रांसीसी गणतंत्रवादियों तथा आतंकवादियों को एक सैद्धांतिक पताका दी तथा 'मनुष्य के अधिकारों का घोषणा-पत्र'[2] का मूल पाठ प्रस्तुत किया।

फ्रांस की महान् क्रांति पूँजीपति वर्ग का तीसरा विद्रोह थी; लेकिन यह पहली लड़ाई

---

1. **देकार्तवाद**— 17वीं शताब्दी के फ्रांसीसी दार्शनिक रेने देकार्त के अनुयायियों द्वारा प्रवर्तित मत। इन लोगों ने देकार्त के दर्शन से भौतिकवादी निष्कर्ष निकाले।

2. **मनुष्यों के अधिकारों का घोषणा-पत्र**—1789 में फ्रांस की संविधान सभा द्वारा स्वीकृत घोषणा-पत्र, जिसमें नयी पूँजीवादी व्यवस्था के राजनीतिक सिद्धांतों को सूत्रबद्ध किया गया था और जिसे 1791 के फ्रांसीसी संविधान में समाविष्ट कर लिया गया। 1793 में जब जैकोबिन पार्टी 'मनुष्य और नागरिक के अधिकारों का घोषणा-पत्र' का अपना पाठांतर लिपिबद्ध कर रही थी, तब उसने इस संविधान को नमूने के तौर पर इस्तेमाल किया था। राष्ट्रीय अधिवेशन में 1793 के जनतंत्रीय संविधान में भूमिका के रूप में इस घोषणा-पत्र का समावेश किया गया।

थी जिसने अपना धार्मिक जामा उतार फेंका था और जो खुल्लम-खुल्ला राजनीतिक ढंग से लड़ी गयी थी, यह इस माने में भी पहली लड़ाई थी जो तब तक लड़ी गयी जब तक कि दो लड़ाकू दलों में से एक— यानी अभिजात वर्ग ख़त्म न हो गया तथा दूसरा— यानी पूँजीपतिवर्ग — पूर्णतः विजयी न हो गया। इंग्लैंड में क्रांति के पूर्व तथा क्रांति के बाद की संस्थाओं के अविच्छिन्न क्रम तथा ज़मींदारों और पूँजीपतियों के समझौते ने न्यायिक मिसालों (पूर्व निर्णयों) व क़ानून के सामंती रूपों की आदरपूर्ण संरक्षा में अभिव्यक्ति पायी। फ्रांस में क्रांति का अर्थ था— अतीत की परंपराओं का संपूर्ण संबंध-विच्छेद। उसने सामंतवाद के अवशेषों तक को मिटा दिया तथा नागरिक संहिता[1] की शक्ल में प्राचीन रोमन क़ानून को— और यह रोमन क़ानून उस आर्थिक अवस्था (जिसे मार्क्स ने 'माल-उत्पादन' की संज्ञा दी है) के क़ानूनी संबंधों की प्रायः सम्पूर्ण अभिव्यक्ति है— आधुनिक संबंधों के अनुरूप बड़ी होशियारी से एक नया संशोधित रूप दिया; इतनी होशियारी से कि आज भी फ्रांस का यह क्रांतिकारी क़ानून इंग्लैंड सहित सभी देशों में संपत्ति क़ानून में सुधार के लिए एक नमूने का काम देता है। फिर भी हमें यह भुला नहीं देना चाहिए कि यदि अंग्रेज़ी क़ानून अभी भी पूँजीवादी समाज के आर्थिक सम्बन्धों को एक ऐसी बर्बर सामंती भाषा में व्यक्त करता है, जो व्यक्त वस्तु से उसी तरह मेल खाती है, जैसे अंग्रेज़ी हिज्जे अंग्रेज़ी उच्चारण से— किसी फ्रांसीसी ने कहा है कि **'आप लिखते हैं लन्दन और बोलते हैं कुस्तुनतुनिया'**— तो यह अंग्रेज़ी क़ानून ही वह क़ानून है, जिसने प्राचीन जर्मनों के अधिकारों के श्रेष्ठ भाग को— व्यक्तिगत स्वतंत्रता, स्थानीय स्वायत्त शासन और अदालत के सिवाय बाक़ी हर तरह के हस्तक्षेप से निर्भयता एवं मुक्ति—युगों से सुरक्षित रखा है और उसे अमरीका तथा उपनिवेशों तक पहुँचाया है; जबकि निरंकुश राजतंत्र के युग में ये अधिकार शेष यूरोप में विलुप्त हो गये और अभी भी उनका कहीं पर भी पूरी तरह उद्धार नहीं हो पाया है।

हम फिर अपने ब्रिटिश पूँजीपति वर्ग की ओर लौटें। फ्रांसीसी क्रांति ने उसे यूरोप के

---

1. यहाँ तथा आगे **'नेपोलियन संहिता'** का उल्लेख करने में एंगेल्स का अभिप्राय पूँजीवादी क़ानून की समूची व्यवस्था से है, जैसी कि वह नेपोलियन बोनापार्त द्वारा 1804-1810 के दौरान जारी की गयी पाँच संहिताओं (दीवानी क़ानून, दीवानी कार्य-विधि, तिजारती, फ़ौजदारी क़ानून और फ़ौजदारी कार्य-विधि की सहिताएँ) के रूप में देखी जाती है। ये संहिताएँ नेपोलियनी फ्रांस द्वारा अधिकृत जर्मनी के पश्चिमी तथा दक्षिण-पश्चिमी भागों में लागू की गयीं और तब 1815 में राइनलैंड प्रशा के हवाले कर दिया गया, उसके बाद भी ये संहिताएँ वहाँ जारी रहीं।

राजतंत्रों की सहायता से फ्रांस के समुद्री व्यापार को नष्ट करने, फ्रांसीसी उपनिवेशों को हथियाने तथा फ्रांस की समुद्री प्रतिद्वंद्विता के आख़िरी दावों को कुचल देने का शानदार मौक़ा दिया। क्रांति से उसने जो लोहा लिया उसका यह एक कारण था। दूसरा कारण यह था कि इस क्रांति के तौर-तरीक़े उसकी प्रकृति (फ़ितरत) के एकदम ख़िलाफ़ थे। इस क्रांति का 'घृणित' आतंकवाद ही नहीं, बल्कि पूँजीवादी शासन को अन्तिम छोर तक ले जाने की कोशिश भी। ब्रिटिश पूँजीपति अपने अभिजात वर्ग (जिसने उसे रंग-ढंग, तौर-तरीक़े सिखाये थे; उसके लिए नये-नये फ़ैशन निकाले थे और जिसने घर में अमन-चैन क़ायम रखने वाली सेना तथा बाहर औपनिवेशिक देशों तथा नये बाज़ारों को जीतने-हासिल करने वाली नौसेना के अफ़सर उपलब्ध कराये थे) के बिना कर ही क्या सकता था? निस्संदेह, पूँजीपति वर्ग का एक प्रगतिशील अल्पसंख्यक भाग भी था— जिसके हितों पर समझौते में उतना ध्यान नहीं दिया गया था— और यह भाग जिसमें अधिकतर मध्यवर्ग के कम धनी लोग थे, क्रांति से सहानुभूति रखता था, लेकिन संसद के अन्दर उसकी कोई ताक़त नहीं थी।

इस प्रकार यदि भौतिकवाद फ्रांसीसी क्रांति का दर्शन बन गया, तो धर्म-भीरू अंग्रेज़ पूँजीपति वर्ग अपने धर्म के साथ और भी दृढ़ता के साथ चिपक गया। पेरिस के आतंक-राज ने क्या यह सिद्ध नहीं कर दिया था कि जनता की धार्मिक वृत्तियों के नष्ट हो जाने का परिणाम क्या होता है? जितना ही भौतिकवाद फ्रांस के पड़ोसी देशों में फैलता गया, जितना ही उसे समान सैद्धांतिक धाराओं— विशेष रूप से जर्मन दर्शन से— से बल मिलता गया और वस्तुतः शेष यूरोप में भौतिकवाद तथा मुक्त चिन्तन एवं सुसंस्कृत व्यक्ति की आवश्यक योग्यताएँ बनते गये, उतनी ही दृढ़ता के साथ ब्रिटिश मध्यवर्ग अपने धार्मिक मत-मतान्तरों से चिपकता चला गया। ये मत एक-दूसरे से भिन्न होते हुए भी— ये सभी स्पष्ट रूप से धार्मिक, ईसाई मत ही थे।

जहाँ फ्रांस में क्रांति ने पूँजीपति वर्ग की विजय सुनिश्चित कर दी थी, वहीं इंग्लैंड में वाट, आर्कराइट, कार्टराइट तथा अन्य ने औद्योगिक क्रांति का सूत्रपात कर दिया था, जिसने आर्थिक शक्ति के गुरुत्व-केन्द्र को पूरी तरह स्थानांतरित कर दिया। अभिजात ज़मींदारों की अपेक्षा पूँजीपति वर्ग का धन एवं वैभव बहुत तेज़ी से बढ़ा। स्वयं पूँजीपति वर्ग के भीतर

कारख़ानेदारों ने वित्तीय महाप्रभुओं को, बैंकरों वग़ैरह अधिकाधिक पृष्ठभूमि में ढकेल दिया। 1689 का समझौता, बावजूद इसके कि उसमें धीरे-धीरे पूँजीपति वर्ग के हितों के पक्ष में समर्थन हुए थे, अब दोनों पक्षों की सापेक्ष स्थिति के अनुरूप नहीं रहा था। इन पक्षों का स्वरूप भी बदल गया था : 1830 का पूँजीपति वर्ग पिछली शताब्दी के पूँजीपति वर्ग से बहुत भिन्न था। अभी भी जो राजनीतिक शक्ति अभिजात वर्ग के हाथ में बची हुई थी और जिसका उपयोग वे औद्योगिक पूँजीपति वर्ग के दावों का विरोध करने में कर रहे थे, उसका नये आर्थिक हितों से कोई मेल नहीं रह गया। अभिजात वर्ग के साथ एक नया संघर्ष आवश्यक हो गया और उसका अन्त नयी आर्थिक शक्ति की विजय में ही हो सकता था। पहले तो 1830 की फ्रांसीसी क्रांति के आवेग के तरह, समस्त प्रतिरोध के बावजूद, सुधार क़ानून[1] पारित किया गया। इस क़ानून ने संसद में पूँजीपति वर्ग को एक शक्तिशाली और सम्मानित स्थान प्रदान कर दिया। इसके बाद अनाज़ क़ानूनों[2] को मंसूख़ (रद्द) कर दिया गया और इससे भू-स्वामी अभिजात वर्ग पर पूँजीपति वर्ग का— ख़ासकर उसके सबसे सक्रिय भाग यानी कारख़ानेदारों का— प्रभुत्व सदा के लिए क़ायम हो गया। यह पूँजीपति वर्ग की सबसे बड़ी विजय थी, किन्तु एक मात्र अपने हित में प्राप्त की गयी उसकी अन्तिम विजय भी थी। बाद में उसने जो जीतें हासिल कीं, उनका उसे एक नयी सामाजिक शक्ति के साथ बाँट कर उपभोग करना पड़ा; यह नयी शक्ति पहले तो उसके साथ थी, पर बहुत जल्दी उसकी प्रतिद्वन्द्वी बन गयी।

औद्योगिक क्रांति ने बड़े-बड़े कारख़ानेदार — पूँजीपतियों के एक वर्ग को जन्म दिया था लेकिन उसने एक और वर्ग को— बहुत बड़े (बहुसंख्यक) वर्ग को भी जन्म दिया था— यह वर्ग था कारख़ानों में काम करने वाला मज़दूर वर्ग। जिस अनुपात में औद्योगिक क्रांति का

---

1. यहाँ संकेत इंग्लैण्ड में चुनाव-क़ानून में सुधार की ओर है। 1831 में हाउस ऑफ़ कामंस ने इस सुधार को स्वीकार कर लिया और अंततः जून 1832 में हाउस ऑफ़ लार्ड्स ने उसका अनुमोदन कर दिया। उसने संसद के द्वार औद्योगिक पूँजीपति वर्ग के लिए खोल दिये। सर्वहारा तथा निम्न पूँजीपति वर्ग, जो सुधार आन्दोलन की मुख्य शक्ति थे, उदार पूंजीपति वर्ग द्वारा ठगे गये और निर्वाचन अधिकारों से वंचित ही बन रहे।
2. यहाँ संकेत इंग्लैंड की संसद द्वारा 1846 में अनाज क़ानून रद्द किये जाने की ओर है। कथित अनाज क़ानून, जिनका उद्देश्य विदेशों से अनाज के आयात को सीमित करना या रोक देना था, बड़े ज़मींदारों के हितों की रक्षा केलिए लागू किये गये थे। क़ानून रद्द किये जाने का अर्थ यह था कि औद्योगिक पूँजीपति वर्ग ने सामन्ती अभिजात वर्ग पर विजय पा ली थी।

औद्योगिक उत्पादन की एक शाखा के बाद दूसरी शाखा पर कब्ज़ा होता गया, उसी अनुपात में यह वर्ग भी संख्या में बढ़ता गया और इसी अनुपात में उसकी ताक़त में भी वृद्धि हुई। अपनी इस ताक़त का सबूत उसने 1824 में ही दे दिया, जब उसने अनिच्छुक संसद को ऐसे क़ानूनों को रद्द करने के लिए मजबूर कर दिया, जिनके अंतर्गत मज़दूर संगठनों की स्थापना निषिद्ध थी।[1] सुधार-आंदोलन के काल में मज़दूरों ने सुधार-पार्टी के अन्दर एक उग्र पक्ष क़ायम कर लिया; चूँकि 1832 के क़ानून के तहत उन्हें मताधिकार से वंचित रखा गया था, उन्होंने अपनी माँगों को पीपुल्स चार्टर[2] (जनता का माँगपत्र) में सूत्रबद्ध किया तथा शक्तिशाली पूँजीवादी अनाज क़ानून विरोधी लीग[3] के मुक़ाबले में अपने को एक स्वतंत्र पार्टी— चार्टिस्ट पार्टी— के रूप में संगठित किया। यह पार्टी आधुनिक युग में मज़दूरों की पहली पार्टी थी।

इसके बाद शेष यूरोप में फ़रवरी और मार्च, 1848 की क्रान्तियाँ हुईं, जिनमें मज़दूरों ने बेहद आगे बढ़कर हिस्सा लिया और कम-से-कम पेरिस में ऐसी माँगे रखीं, जो पूँजीवादी समाज के दृष्किोण से निश्चय ही स्वीकार नहीं की जा सकती थीं। क्रान्तियों के बाद चारों ओर ज़ोरदार प्रतिक्रिया हुई। पहले 10 अप्रैल, 1848 को चार्टिस्टों की हार[4], फिर उसी वर्ष जून में पेरिस मज़दूर विद्रोह का कुचला जाना और फिर इटली, हंगरी, दक्षिण जर्मनी में 1849

---

1. 1824 में जनसाधारण के असाधारण दबाव के कारण इंग्लैंड की संसद ने ट्रेड यूनियनों पर लगे प्रतिबन्ध को रद्द कर दिया।
2. **पीपुल्स चार्टर**— यह चार्टर, जिसमें चार्टिस्टों की माँगे सूत्रबद्ध थीं, 8 मई, 1838 को संसद में किये जाने वाले एक विधेयक के रूप में प्रकाशित किया गया था। उसमें ये 6 धाराएँ थीं : सार्विक मताधिकार (21 वर्ष से ऊपर की उम्र के पुरुषों के लिए), संसद के लिए वार्षिक चुनाव, गुप्त मतदान, समान निर्वाचन क्षेत्र, संसद के चुनाव में खड़े होने वाले उम्मीदवार के लिए संपत्ति की शर्त का अन्त और संसद-सदस्यों के लिए वेतन। चार्टिस्टों ने संसद को इस आशय की तीन याचिकाएँ दीं, परन्तु उन्हें 1839, 1842 तथा 1849 में ठुकरा दिया गया।
3. **अनाज क़ानून विरोधी लीग**— 1838 में मांचेस्टर से कारख़ानेदारों— कावदेन तथा ब्राइट—द्वारा स्थापित अंग्रेज़ औद्योगिक पूँजीपतियों का एक संगठन। लीग के मुक्त व्यापार की माँग को पेश करते हुए मज़दूरों की तनख़्वाहें घटाने और सामंती अभिजात वर्ग की आर्थिक एवं राजनीतिक स्थिति को कमज़ोर करने के उद्देश्य से अनाज क़ानून के उन्मूलन के लिए संघर्ष किया। अनाज क़ानूनों के रद्द किये जाने के बाद (1846) लीग भी खत्म हो गयी।
4. 10 अप्रैल, 1848 को लंदन में चार्टिस्टों ने एक जन-प्रदर्शन आयोजित किया। इसका उद्देश्य संसद को यह याचिका सौंपना था कि वह जन-चार्टर को स्वीकार करे। परन्तु प्रदर्शन के आयोजकों के ढुलमुलपन व निर्णय-अक्षमता के कारण वह टाँय-टाँय फ़िस हो गया। प्रतिक्रियावादियों ने मज़दूरों पर प्रहार करने तथा चार्टिस्टों का दमन करने केलिए प्रदर्शन की विफलता का लाभ उठाया।

की भीषण विपदाएँ और अन्त में 2 दिसम्बर, 1851 को पेरिस पर लुई बोनापार्त की विजय।[1] कम-से-कम कुछ समय के लिए मज़दूरों के दावों का हौवा दूर कर दिया गया, लेकिन इसके लिए कितनी बड़ी क़ीमत चुकानी पड़ी। अगर अंग्रेज़ पूँजीपति ने आम जनता की धार्मिक भावना को क़ायम रखने की ज़रूरत पहले ही समझ ली थी, तो इन सारे अनुभवों के बाद उसने यह ज़रूरत और भी कितनी महसूस की होगी ? अपने यूरोपीय भाई-बंदों की हिक़ारत-भरी हँसी की परवाह न कर वह साल-दर-साल निम्न--श्रेणियों की धर्म-शिक्षा पर हज़ारों-लाखों की राशि खर्च करता रहा। अपने देश के धार्मिक उपकरणों से ही सन्तुष्ट न रहकर उसने व्यापार के रूप में धर्म के सबसे बड़े संगठनकर्त्ता 'भाई जोनाथन'[2] से अपील की, अमरीका से रिवाइवलिज़्म[3] (पुनरुत्थानवाद) का आयात किया, मूडी तथा सांकी जैसे लोगों को बुलाया और अन्त में उसने 'मुक्ति-सेना' की ख़तरनाक सहायता को स्वीकार किया; ख़तरनाक इसलिए कि यह सेना प्रारम्भिक ईसाई धर्म के प्रचार में फिर से जान फूँकती है, ग़रीबों को ख़ुदा के बंदे कहकर पुकारती है, पूँजीवाद के ख़िलाफ़ धार्मिक तरीक़ों से लड़ाई चलाती है और इस प्रकार वह प्रारम्भिक ईसाई वर्ग विरोध के एक तत्त्व का पोषण करती है; जो किसी भी दिन उन खाते-पीते लोगों को परेशानी में डाल सकती है जो आज उसके लिए खुले हाथ से पैसा उपलब्ध करा रहे हैं।

ऐतिहासिक विकास का यह एक नियम जान पड़ता है कि पूँजीपति वर्ग किसी भी यूरोपीय देश में---कम-से-कम स्थायी तौर पर--- राजनीतिक सत्ता को उस प्रकार अकेले अपने अधिकार में नहीं रख सकता, जिस प्रकार मध्य युग में सामंती अभिजात वर्ग ने रखा था। यहाँ तक कि फ्रांस में भी, जहाँ सामंतवाद को पूरी तरह ख़त्म कर दिया गया, समूचा पूँजीपति

1. फ़ांस में 2 दिसम्बर, 1851 को लुई बोनापार्त तथा उसके अनुयायियों ने प्रतिक्रान्तिकारी राज्य-पर्युत्क्षेपण कर सत्ता पर कब्ज़ा कर लिया। यह दूसरे साम्राज्य के आरम्भ का द्योतक था।
2. **भाई जोनाथन**--- इंग्लैंड के अमरीकी उपनिवेशों के स्वातंत्र्य युद्ध (1775-1783) के दौरान अंग्रज़ों ने उत्तर अमरीकियों को मज़ाक में 'भाई जोनाथन' कहना शुरू कर दिया। (अमरीकियों तथा वहाँ की सरकार के लिए एक दूसरा, पर अधिक, प्रचलित नाम है---अंकल सैम।---अनु.)
3. **रिवाइवलिज़्म**--- प्रोटेस्टेंट मतावलंबियों का एक आंदोलन, जो 18वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में इंगलैंड में शुरू हुआ, और फिर उत्तरी अमरीका में फैल गया। इसके अनुयायी धार्मिक व्याख्यानों द्वारा, तथा धर्मानुयायियों के नये समुदाय संगठित करके, ईसाई धर्म के प्रभाव को दृढ़ तथा व्यापक बनाना चाहते थे।

वर्ग शासन पर अपना पूरा अधिकार थोड़े-थोड़े समय के लिए ही रख पाया। 1830 से 1848 तक लुई फ़िलिप के शासनकाल में पूँजीपति वर्ग के एक बहुत छोटे-से भाग ने राज्य पर शासन किया; मताधिकार की शर्त इतनी ऊँची रखी गयी थी कि इस वर्ग का अधिकांश इस अधिकार से वंचित था। 1848 से 1851 तक, द्वितीय जनतंत्र के काल में समूचे पूँजीपति वर्ग ने शासन ज़रूर किया, लेकिन यह मात्र तीन वर्ष की अवधि थी। उसकी अयोग्यता के कारण द्वितीय साम्राज्य की स्थापना हुई। अब कहीं जाकर तीसरे जनतंत्र के युग में समूचे पूँजीपति वर्ग ने बीस वर्ग से अधिक समय तक शासन की बागडोर अपने हाथ में रखी है, पर उसके पतनोन्मुख होने के ज़ोरदार लक्षण अभी से देखने में आ रहे हैं।[1] पूँजीपति वर्ग का स्थायी शासन अमरीका जैसे देशों में ही सम्भव हुआ है, जहाँ सामंतवाद का नाम तक न था और समाज आरम्भ से ही पूँजीवादी आधार पर चला था और फ्रांस तथा अमरीका तक में पूँजीपति वर्ग के उत्तराधिकारी —— मज़दूर—— अभी से दरवाज़ा खटखटाने लगे हैं।

इंग्लैंड के पूँजीपति वर्ग का एकाधिपत्य कभी नहीं रहा। 1832 की विजय के बाद भी बड़ी-बड़ी सरकारी नौकरियाँ एक तरह से अभिजात वर्ग के अधिकार में ही रहीं। इस बात को धनी मध्यवर्ग ने कैसे सह लिया? यह मेरे लिए एक रहस्य ही बना रहा और यह रहस्य तब खुला, जब बड़े कारख़ानेदार डब्ल्यू.ए. फ़ोर्स्टर ने ब्रैडफ़ोर्ड के युवकों से अपील की कि वे संसार में सफलता प्राप्त करने के लिए फ्रांसीसी भाषा सीखें। अपने अनुभव का हवाला देते हुए उन्होंने बताया कि जब मंत्रिमंडल के एक सदस्य (काबीना मंत्री) की हैसियत से उन्हें एक ऐसे समाज में आना-जाना पड़ा, जहाँ फ्रांसीसी भाषा कम-से-कम उतनी ही आवश्यक थी जितनी कि अंग्रेज़ी; तब कैसे उन्हें मुँह चुराना पड़ा और सबके सामने शर्मिन्दा होना पड़ा। दरअसल बात यह है कि उस ज़माने का मध्यवर्ग निरपवाद रूप से एकदम अपढ़ नया नवाब था और उसके लिए सिवा इसके कोई चारा नहीं था कि वह ऊपर की उन सरकारी नौकरियों को अभिजात वर्ग के लिए छोड़ दे, जहाँ तेज़ व्यापार बुद्धि से घुटी-मँजी कोरी द्वीपीय संकीर्णता

1. फ्रांस में नेपोलियन तृतीय का द्वितीय साम्राज्य 1852 से 1870 तक और तृतीय जनतंत्र 1870 से 1940 तक रहे।

तथा द्वीपीय दम्भ के बदले और ही गुणों की आवश्यकता थी।[1] आज भी अख़बारों में मध्यवर्गीय शिक्षा के बारे में कभी न ख़त्म होने वाली जो बहस चल रही है, उससे यही ज़ाहिर होता है कि अभी भी अंग्रेज़ मध्य वर्ग अपने को श्रेष्ठतम शिक्षा के योग्य नहीं समझता, बल्कि अपेक्षाकृत साधारण शिक्षा की ही कामना करता है। इस तरह अनाज क़ानूनों के रद्द कर दिये जाने के बाद भी यह सहज स्वाभाविक ही माना गया कि काबडेनों, ब्राइटों, फ़ोर्स्टरों आदि— जिन्होंने यह जीत हासिल की थी— को देश के अधिकृत शासन में साझेदारी निभाने के अवसरों से वंचित ही रखा जाय। ग़नीमत है कि बीस वर्ष बाद एक नये सुधार क़ानून[2] ने उनके लिए मंत्रिमंडल के द्वार तो खोल दिये। ब्रिटिश पूँजीपति वर्ग में अपनी सामाजिक हीनता की भावना आज तक इतनी गहरी जमी हुई है कि समस्त राजकीय समारोहों में राष्ट्र का उचित प्रतिनिधित्व करने के लिए वे अपने और जनता के ख़र्च पर अकर्मण्य व्यक्तियों की एक

1. व्यापारिक मामलों में भी राष्ट्रीय-अंधराष्ट्रवादी दम्भ कोई अच्छा सूचक नहीं है। अभी हाल तक औसत अंग्रेज़ कारख़ानेदार किसी अंग्रेज के लिए अपनी भाषा छोड़कर दूसरी भाषा बोलना अपमानजनक समझता था और उसे इस बात पर गर्व ही अधिक होता था कि 'ग़रीब' विदेशी इंग्लैंड में आकर बस गये हैं और उन्होंने उसे अपन माल को विदेशों में बेचने के झंझट और परेशानी से बरी कर दिया है। उसने कभी इस बात पर ग़ौर नहीं किया कि इस तरह इन विदेशियों ने— अधिकांशतः जर्मनों ने— ब्रिटेन के विदेश व्यापार के— आयात तथा निर्यात के— एक बहुत बड़े हिस्से पर अपना कब्ज़ा जमा लिया और विदेशों के साथ अंग्रेज़ों का सीधा व्यापार लगभग पूरी तरह से उपनिवेशों, चीन, संयुक्त राज्य अमरीका तथा दक्षिणी अमरीका तक ही सीमित रह गया है। न ही उसने इस बात पर ग़ौर किया कि ये जर्मन दूसरे देशों के साथ व्यापार करते थे और उन्होंने धीरे-धीरे पूरी दुनिया में व्यापारिक उपनिवेशों का एक पूरा जाल बिछा दिया था। लेकिन जब लगभग चालीस वर्ष पूर्व जर्मनी ने पूरी संजीदगी के साथ निर्यात के लिए उत्पादन आरम्भ किया, अनाज निर्यात करने वाले देश से उसे कुछ ही समय के भीतर अव्वल दर्जे के औद्योगिक देश में बदल देने में यह जाल ख़ूब काम आया। तब लगभग दस वर्ष पहले अंग्रेज़ कारख़ानेदार घबराया और उसने अपने राजदूतों एवं वाणिज्य दूतों से पूछा कि कि इसका क्या कारण है कि वह अपने ग्राहकों को अब और जोड़े नहीं रख पा रहा है। उन्होंने एक स्वर से उत्तर दिया : (1) तुम अपन ग्राहकों की भाषा नहीं सीखते, बल्कि यह आशा करते हो कि वह तुम्हारी भाषा सीखेगा; (2) तुम अपने ग्राहक की आवश्यकता, आदत और रुचि के अनुरूप स्वयं को ढालने की कोशिश तक नहीं करते, बल्कि यह आशा करते हो कि वह अपने को तुम्हारे अनुकूल बना लेगा।
2. **द्वितीय संसदीय सुधार** — इंग्लैंड में इस सुधार के लिए आंदोलन 1867 तक चलता रहा, जब आम मज़दूर आंदोलन के दबाव के कारण उसे लागू किया गया। पहले इण्टरनेशनल की जनरल काउंसिल ने इस सुधार आंदोलन में सक्रिय भाग लिया था। इस सुधार के परिणामस्वरूप मतदाताओं की संख्या दुगुनी हो गयी तथा कुशल मज़दूरों के एक भाग को मताधिकार प्राप्त हो गया।

सजावटी बिरादरी को पालते हैं और जब उनमें से कोई इस विशिष्ट तथा विशेषाधिकार सम्पन्न समाज में— जिसका अन्ततः उन्होंने ही निर्माण किया है— प्रवेश पाने के योग्य समझा जाता है, तो वह इसे अपना बड़ा भारी सम्मान समझता है।

इस तरह औद्योगिक तथा व्यापारी मध्य वर्ग अभी तक भू-स्वामी अभिजात वर्ग को राजनीतिक सत्ता से पूरी तरह खदेड़ने में सफल हो नहीं पाया था कि एक दूसरा प्रतिद्वन्द्वी मज़दूर वर्ग मैदान में आ उतरा। चार्टिस्ट आंदोलन तथा शेष यूरोप की क्रान्तियों के बाद की प्रतिक्रिया और साथ ही 1848 और 1866 के बीच ब्रिटिश व्यापार के अभूतपूर्व विस्तार ने (जिसका कारण आमतौर पर मुक्त व्यापार बताया जाता है, लेकिन जो इससे कहीं ज़्यादा रेल, जहाज़रानी और साधारणतः परिवहन के साधनों के शक्तिशाली विकास का फल था) मज़दूर वर्ग को फिर से उदारवादी पार्टी के अधीन हो जाने को विवश कर दिया था; चार्टिस्ट युग से पहले की तरह वह उस पार्टी का उग्र पक्ष बन गया। वोट देने के अधिकार का दावा धीरे-धीरे अप्रतिरोध्य बन गया और जहाँ उदारवादी पार्टी के ह्विग नेताओं ने 'मुँह चुराया', डिज़रायली ने टोरी पार्टी को अनुकूल अवसर से लाभ उठाने और संसद की सीटों के पुनर्वितरण के साथ-साथ नगरों में किरायेदारों का मताधिकार लागू करने के लिए प्रेरित करके अपनी श्रेष्ठता प्रदर्शित कर दी। इसके बाद गुप्त मतदान द्वारा चुनाव होना शुरू हुआ और फिर 1884 में किरायेदारों का यह मताधिकार काउंटियों में भी लागू किया गया और सीटों का नये सिरे से बँटवारा किया गया, जिससे कि चुनाव-क्षेत्र कुछ हद तक एक-दूसरे के बराबर हो गये। इन सब कार्यवाइयों से मज़दूर वर्ग की निर्वाचन-शक्ति बहुत बढ़ गयी, यहाँ तक कि आज कम-से-कम 150-200 चुनाव-क्षेत्रों में अधिकांश मतदाता इसी वर्ग के हैं। लेकिन संसदीय शासन परम्परा के प्रति आदर सिखाने वाली बहुत बड़ी पाठशाला है; अगर मध्यवर्ग उन लोगों को— जिन्हें लार्ड जॉन मैनर्स मज़ाक में 'हमारे पुराने सामंत' कहते थे— भय और आदर की दृष्टि से देखता था, तो आम मेहनतकश जनता 'अपने से बड़े' कहे जाने वाले लोगों को— यानी मध्य वर्ग को— आदर और सम्मान की दृष्टि से देखती थी। सचमुच आज से पन्द्रह वर्ष पूर्व अंग्रेज़ मज़दूर एक आदर्श मज़दूर था और वह अपने मालिक का इतना ख़याल और इतनी इज़्ज़त

करता था तथा अपने हक़ों को माँगने में इतना संकोचशील और विनयशील था कि उसे देखकर अपने देश के मज़दूरों की लाइलाज़ कम्युनिस्ट और क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों से विक्षुब्ध काथेडर समाजवादी (प्रोफेसरी समाजवाद)[1] मत के हमारे जर्मन अर्थशास्त्रियों को बेहद तसल्ली मिलती थी।

परन्तु यह व्यवहार-कुशल अंग्रेज़ मध्यवर्ग जर्मन प्रोफ़ेसरों से अधिक दूर तक देखता था। उसने अपनी शक्ति को मज़दूर वर्ग के साथ बाँटकर उपभोग बेशक किया था, पर एकदम अनिच्छा से किया था। उसने चार्टिस्ट ज़माने में यह समझ लिया था कि यह 'मोटा-तगड़ा, किन्तु उद्दण्ड लड़का' यानी जनता क्या-कुछ करने में समर्थ है और इसी से विवश होकर उसे पीपुल्स चार्टर के एक बड़े अंश को ब्रिटेन के क़ानून का अंग बनाना पड़ा था। यदि जनता को कभी भी नैतिक साधनों से वश में रखा जाना था, तो अब भी जनता को प्रभावित करने का सर्वोत्तम साधन धर्म ही है। इसीलिए स्कूलों की प्रबन्ध समितियों में पादरियों का बहुमत है और इसीलिए यह पूँजीपति वर्ग कर्मकाण्डवाद[2] से लेकर मुक्ति-सेना तक अनेक प्रकार के पुनरुत्थानवाद को प्रश्रय (बढ़ावा) देने के लिए अपने आप पर अधिकाधिक कर लगाता है।

अब ब्रिटिश भद्रता द्वारा शेष यूरोप के पूँजीवादियों के मुक्त-चिन्तन तथा धार्मिक शिथिलता पर विजय पाये जाने की घड़ी आयी। फ्रांस तथा जर्मनी के मज़दूर विद्रोही हो गये थे उन्हें समाजवाद का रोग बुरी तरह लग गया था। ऊपर उठने के लिए इस्तेमाल किया जाने

---

1. **काथेडर समाजवाद** — 19वीं शताब्दी के अन्तिम तीन दशकों में पूँजीवादी विचारधारा की एक प्रवृत्ति, जिसके प्रतिनिधि अधिकांशतः जर्मन विश्वविद्यालयों के प्रोफ़ेसर अपनी मंचों (काथेडर) से समाजवाद के वेश में पूँजीवादी सुधारवाद का प्रचार किया करते थे। 'काथेडर समाजवाद' के प्रतिनिधियों— ए. वागनेर, जी. श्लोमर, एल. ब्रेंतानों, डब्ल्यू. जोंवार्त आदि — का दावा था कि राज्य एक वर्गोपरि संस्था है, जो विरोधी वर्गों को संयोजित कर सकती है और पूँजीवतियों के हितों पर आघात किये बिना धीरे-धीरे समाजवाद की स्थापना कर सकती है। इन लोगों की माँगें बीमारी एवं दुर्घटना बीमा की व्यवस्था लागू करने और फ़ैक्टरी क़ानून पास करने तक सीमित थीं। काथेडर समाजवादियों की राय थी कि सुसंगठित ट्रेंड यूनियन होने पर मज़दूर वर्ग के राजनीतिक संघर्ष और उसकी राजनीतिक पार्टी की कोई ज़रूरत नहीं रहती। यह प्रवृत्ति विचारधारा के क्षेत्र में संशोधनवाद की पूर्वगामी थी।
2. **रिचुअलिज़्म** (कर्मकाण्डवाद) — आंग्ल चर्च में एक प्रवृत्ति, जो सबसे पहले 19वीं शताब्दी के चौथे दशक में उभरी। उसके अनुयायियों ने आंग्ल चर्च में कैथोलिक कर्मकाण्ड तथा कतिपय कैथोलिक जड़सूत्रों को पुनः स्थापित करने के लिए आंदोलन किया।

वाला तरीक़ा क़ानूनी है कि ग़ैर-क़ानूनी, इसकी उन्हें कई कारणों से ख़ास फ़िक्र न रह गयी थी। यह 'मोटा-तगड़ा लड़का' दिन-ब-दिन 'उद्दण्ड' होता जा रहा था। फ्रांसीसी तथा जर्मन पूँजीपतियों के लिए एकमात्र चारा यही रह गया कि वे चुपके से अपने मुक्त-चिन्तन का परित्याग कर दें— उस लड़के की भाँति जो बड़ी शान से सिगार पीता हुआ जहाज़ पर आये और जब जहाज़ के बचकोले से मिचली आने लगे तो चुपके से जलते हुए सिगार को समुद्र में फेंक दे। जो लोग पहले धर्म का मज़ाक उड़ाते थे, अब वे एक-एक कर अपने बाह्य आचरण में धर्मपरायण बनने लगे; चर्च के बारे में, चर्च के जड़-विश्वासों तथा आचार-विचार के बारे में श्रद्धापूर्ण बातें करने लगे और जहाँ तक अनिवार्य था, उनके अनुकूल आचरण भी करने लगे। फ्रांसीसी पूँजीपति शुक्रवार को निरामिश आहार करते और जर्मन पूँजीपति रविवार को चर्च की बेंचों पर बैठकर लम्बे-लम्बे प्रोटेस्टेंट उपदेश सुनते। भौतिकवाद ने उन्हें मुसीबत में डाल दिया था। ''जनता के लिए धर्म को जीवित रखा जाना चाहिए''— समाज को सम्पूर्ण विनाश से बचाने का यह एकमात्र और अन्तिम उपाय था। उनका यह दुर्भाग्य था कि उन्होंने इस बात को तभी समझा जबकि उन्होंने धर्म को हमेशा के लिए ख़त्म कर देने के लिए भरसक सब कुछ कर डाला था। अब अँग्रेज पूँजीपति की बारी थी कि वह हिक़ारत से हँसकर कहे : ''मूर्खों, यह बात तुम्हारी समझ में अब आयी है। यह बात तो मैं तुम्हें आज से दो सौ वर्ष पूर्व ही समझा सकता था।''

फिर भी मुझे भय है कि न तो अंग्रेज़ की धार्मिक जड़ता और न ही शेष यूरोपीय पूँजीपति वर्ग का **'महफ़िल बिखर जाने के बाद'** का मत-परिवर्तन सर्वहारा वर्ग के उठते हुए ज्वार को रोक सकेगा। रूढ़ि एक ज़बर्दस्त बाधक शक्ति है, इतिहास की जड़-शक्ति है, परन्तु केवल निष्क्रिय होने के कारण उसका नष्ट होना अवश्यंभावी है और इसलिए धर्म स्थायी रूप से पूँजीवादी समाज की ढाल नहीं बन सकता। यदि क़ानून, दर्शन तथा धर्म सम्बन्धी हमारे विचार किसी समाज में प्रचलित आर्थिक सम्बन्धों की न्यूनाधिक दूरवर्ती सन्तानें हैं, तो अन्ततः ऐसे विचार इन सम्बन्धों में सम्पूर्ण परिवर्तन से बच नहीं सकते। यदि हम दिव्य-ज्ञान में विश्वास नहीं करते, तो हमें यह मानना होगा कि कोई भी धार्मिक सिद्धान्त किसी ढहते हुए समाज को टेक देकर गिरने से रोक पाने के लिए नाकाफ़ी ही रहेगा।

और दरअसल, इंग्लैंड में भी मेहनतकश जनता ने फिर बढ़ना शुरू कर दिया है। इसमें सन्देह नहीं कि वह तरह-तरह की रूढ़ियों से जकड़ी हुई है। पूँजीवादी परम्पराएँ, जैसे यह पूर्वाग्रह कि इंग्लैंड में दो ही पार्टियाँ — कन्ज़र्वेटिव पार्टी और उदारवादी पार्टी — ही सम्भव है या यह कि मज़दूर वर्ग महान् उदारवादी पार्टी के द्वारा तथा उसके माध्यम से ही अपनी मुक्ति प्राप्त कर सकता है, जो— वास्तव में रूढ़ियाँ बन गयी हैं— उसे जकड़े हुए हैं। स्वतन्त्र रूप से कार्य करने की पहली झिझक भरी कोशिशों से प्राप्त मज़दूरों की परम्पराएँ— जैसे कि बहुत-सी पुरानी ट्रेड यूनियनों से उन मज़दूरों को बाहर रखना— बाक़ायदा शागिर्दी न कर चुके हैं, जिसका मतलब है हर ऐसी ट्रेड यूनियन द्वारा भीतरघातियों का पोषण— भी उसे जकड़े हुए हैं। पर इस सबके बावजूद, जैसा प्रोफ़ेसर ब्रेंतानों तक को बड़े अफ़सोस के साथ अपने काथेडर-समाजवादी भाइयों से कहना पड़ा है, अंग्रेज़ मज़दूर वर्ग आगे बढ़ रहा है। वह आहिस्ता-आहिस्ता आगे बढ़ता है (इंग्लैंड में हर चीज़ इसी तरह आगे बढ़ती है), सधे हुए क़दम उठाता हुआ, कभी झिझकता हुआ, तो कभी कमोबेश असफल और प्रयोगमूलक प्रयास करता हुआ; कभी वह आगे बढ़ता है समाजवाद के नाम से ही सशंकित पर बहुत सावधानी के साथ, जबकि वह समाजवाद के सार-तत्व को धीरे-धीरे आत्मसात करता रहता है और यह आन्दोलन बढ़ता एवं फैलता है। इसने अब लंदन के ईस्ट एण्ड (लंदन का पूर्वी भाग जहाँ मज़दूर लोग रहते हैं) के अनिपुण मज़दूरों को झकझोर कर नींद से उठा दिया है, हम सब जानते हैं कि बदले में इन नयी शक्तियों ने इस आन्दोलन को कितनी प्रबल प्रेरणा दी है। अगर इस आन्दोलन की रफ़्तार इतनी नहीं है, जितनी कुछ लोगों में बेसब्री है, तो उन्हें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि मज़दूर वर्ग ने ही अंग्रेज चरित्र के सर्वश्रेष्ठ गुणों को जीवित रखा है और इंग्लैंड में जब एक क़दम उठा लिया जाता है, तो फिर वह आमतौर पर पीछे नहीं खींचा जाता। अगर उपरोक्त कारणों से, पुराने चार्टिस्टों के बेटे पूरे ख़रे नहीं उतरे तो क्या हुआ, आसार इस बात के हैं कि उनके पोते अपने पूर्वजों के नाम को रोशन करेंगे।

लेकिन यूरोपीय मज़दूर वर्ग की विजय इंग्लैंड पर ही निर्भर नहीं है। वह कम-से-कम

इंग्लैंड, फ्रांस और जर्मनी के सहयोग से ही प्राप्त ही का जा सकती है।[1] फ्रांस तथा जर्मनी—दोनों में मज़दूर आन्दोलन इंग्लैण्ड की तुलना में काफ़ी आगे बढ़ा हुआ है। यही नहीं, जर्मनी में उसकी सफलता सन्निकट है। पिछले पच्चीस वर्षों में उसने वहाँ जो प्रगति की है, वह सचमुच अभूतपूर्व है और वह तीव्र से तीव्रतर गति से आगे बढ़ रहा है। यदि जर्मन मध्यवर्ग में राजनीतिक योग्यता, अनुशासन, साहस, शक्ति, लगन आदि गुणों का शोचनीय अभाव देखने में आया है, तो जर्मन मज़दूर वर्ग ने इन सभी गुणों का प्रचुर प्रमाण दिया है। चार सौ वर्ष पहले विद्रोह की शुरुआत जर्मनी में हुई थी; आज जो स्थिति है, उसे देखते हुए क्या यह बात संभावना के परे है कि जर्मनी ही यूरोपीय सर्वहारा की पहली महान् विजय की रंगभूमि होगा।

20 अप्रैल, 1892

— फ्रेडरिक एंगेल्स

---

1. उन्नत पूँजीवादी देशों में सर्वहारा क्रान्तियों की एक साथ विजय की संभावना और फलस्वरूप अकेले एक देश में सर्वहारा क्रान्ति की विजय की असंभावना के बारे में यह निष्कर्ष इज़ारेदार पूँजीवाद से पहले की अवधि के लिए वैध था। इजारेदार पूँजीवाद की नयी ऐतिहासिक अवस्थाओं में लेनिन ने अपने पहले ही निरूपित इस आशय के आधार पर कि साम्राज्यवाद के युग में पूँजीवाद का राजनीतिक तथा आर्थिक विकास असमान होता है, एक नया निष्कर्ष निकला — यानी यह कि समाजवादी क्रान्ति पहले या तो कई देशों में, यही नहीं एक देश तक में विजयी हो सकती है तथा सभी या अधिकांश देशों में समाजवादी क्रान्तियों की एक साथ विजय असंभव है। यह निष्कर्ष लेनिन ने सबसे पहले 'यूरोप के संयुक्त राज्य का नारा' नामक अपने लेख में निरूपित किया था। —(अनु.)

फ्रेडरिक एंगेल्स

आरंभिक ईसाई धर्म के इतिहास के बारे में

एक

आरंभिक ईसाई धर्म के इतिहास तथा आधुनिक मज़दूर वर्ग के आंदोलन के बीच उल्लेखनीय समानताएँ हैं। मज़दूर आंदोलन की भाँति ईसाई धर्म भी मूलतः दमितशोषित जनता का ही आंदोलन था। सबसे पहले यह दासों तथा छोड़ दिये गये लोगों, समस्त अधिकारों से वंचित ग़रीब लोगों, रोम द्वारा अधीन बनायी गयी अथवा तितर-बितर की गयी जातियों के धर्म के रूप में ही प्रकट हुआ। ईसाई धर्म तथा मज़दूरों का समाजवाद दोनों ही दासता तथा कष्टों से जल्दी ही मिलने वाली मुक्ति का प्रचार करते हैं; ईसाई धर्म इस मुक्ति को जीवन के परे— मृत्यु के बाद— स्वर्ग में अवस्थित करता है; जबकि समाजवाद इसे इसी दुनिया में, समाज के रूपांतरण में निर्दिष्ट क़रता है। दोनों को उत्पीड़ित किया जाता है, दोनों को प्रलोभन दिये जाते हैं, उनके अनुयायियों को ह्रिकारत की नज़र से देखा जाता है तथा अनन्य क़ानूनों का निशाना बनाया जाता है; एक को धर्म, परिवार तथा मानव जाति के शत्रु के रूप में तथा दूसरे को राज्य के शत्रु तथा सामाजिक व्यवस्था (अमन-चैन) के शत्रु के रूप में चित्रित किया जाता है। तमाम उत्पीड़न के बावजूद (नहीं, उससे गति प्राप्त करके) वे अप्रतिरोध्य तरीक़े से जीतते हुए आगे बढ़ते हैं। अपने अभ्युदय के तीन सौ वर्ष बाद ईसाई धर्म रोमन विश्व साम्राज्य का मान्यता प्राप्त राजकीय धर्म बन गया तथा मात्र साठ वर्ष के भीतर समाजवाद ने जो सम्मानजनक स्थान प्राप्त कर लिया है, उससे उसकी विजय पक्के तौर पर सुनिश्चित हो गयी है।

यदि इसीलिए, अपनी पुस्तक **'श्रम के संपूर्ण फल का अधिकार में'** प्रोफ़ेसर अंतोन मेंजर इस बात पर आश्चर्य करते हैं कि रोमन सम्राटों के शासन काल में भू-स्वामित्व के

---

1. एंगेल्स की कृति 'परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति'।
2. वैसे इस शब्द का अर्थ है अन्तरंग सखा, सहभागी। आदिम क़बीले का नाम।

अतिशय संकेन्द्रण तथा उस ज़माने के मज़दूर वर्ग (जो लगभग पूरी तरह से दासों से मिलकर बना था) के असीम कष्टों के बावजूद 'रोमन साम्राज्य के पतन के बाद पश्चिम में समाजवाद क्यों नहीं आ गया', तो यह दरअसल इसलिए कि वह यह नहीं देख पाते कि वस्तुतः उस ज़माने में जितना सम्भव था, उतने भर में समाजवाद अस्तित्व में तो था ही, ईसाई धर्म के रूप में प्रभावशाली भी हो गया था। फ़र्क़ सिर्फ़ इतना है कि यह ईसाई धर्म, जैसा कि उन ऐतिहासिक परिस्थितियों में होना अनिवार्य था, सामाजिक रूपांतरण को इस दुनिया में संपन्न नहीं करना चाहता था, बल्कि यहाँ से परे स्वर्ग में मृत्यु के उपरांत शाश्वत् जीवन में आसन्न 'सहस्राब्दी' में सम्पन्न करना चाहता था।

इन दो ऐतिहासिक घटना क्रियाओं की समानांतरता हमारा ध्यान बलपूर्वक पहली बार मध्य युग में खींचती है जब दमित किसानों तथा नगरों के साधारणजन ने विद्रोह की आरम्भिक हुंकार लगायी थी। ये विद्रोह मध्ययुग के समस्त जनान्दोलनों की भाँति ही, धर्म का मुखौटा लगाने को विवश थे और इसलिए ये व्याप्त पतन[1] के बीच से आरम्भिक ईसाई धर्म की पुनर्स्थापना के रूप में प्रकट हुए, किन्तु धार्मिक उन्नयन-उल्लास के पीछे हर समय एकदम ठोस लौकिक हित भी सक्रिय थे। यां ज़िज़्का के नेतृत्व में बोहेमियाई टेबरपंथियों के अविस्मरणीय

1. इसकी एक ख़ास विपरीतावस्था मुस्लिम जगत् में, ख़ासकर अफ्रीका में हुए धार्मिक विद्रोह थी। इस्लाम पूरब लोगों —— ख़ासकर अरबों —— का अनुकूलित धर्म है। एक ओर तो नगरों में व्यापार एवं उद्योग में लगे लोगों तथा दूसरी ओर घूमंतु बेदिनों के अनुकूलित। हालाँकि, इसी में समय-समय पर होने वाले टकरावों के भ्रूण भी छिपे हैं। नगरवासी अमीर, विलासी तथा क़ानून के अनुपालन में शिथिल हो जाते हैं। बेदिन ग़रीब होते चले जाते हैं और कठोर नैतिक सिद्धांतों में आस्था रखते हैं; इन धन-सम्पदाओं व सुखों को ईर्ष्या व लोलुपता की दृष्टि से अभिकल्पित करते है। उसके बाद वे महदी नामक पैग़म्बर के नेतृत्व में एकताबद्ध होकर स्वधर्म त्यागियों को दण्डित करते हैं और कर्मकांड के अनुपालन व असली आस्था को पुनर्स्थापित कर देते हैं तथा धर्म के मैदान से पीठ दिखाकर भागने वालों के ख़ज़ानों को बतौर दंड ज़ब्त कर लेते हैं। सौ साल के भीतर ही वे स्वयं स्वभाविक रूप से उस अवस्था में पहुँचते हैं जिसमें कि स्वधर्मत्यागी पहले थे : धर्म का एक नया शुद्धीकरण ज़रूरी हो जाता है, एक नया महदी प्रकट होता है और इस तरह फिर नये सिरे से खेल शुरू हो जाता है। अफ्रीकी अलमोराविदों तथा अलमोहदों के स्पेन में विजय-अभियानों से लेकर ख़ारतूम के आख़िरी महदी तब यही सब तो हुआ था, जिसने अंग्रेजों को इतनी सफलतापूर्व विफ़ल कर दिया था। फ़ारस में तथा अन्य मुस्लिम देशों में हुए विद्रोहों का हश्र भी लगभग यही हुआ। ये सभी आंदोलन धर्म का बाना पहने हुए तो हैं पर उनका स्रोत आर्थिक कारणों में निहित है और फिर भी, वे विजयी होने के बाद भी पुरानी आर्थिक परिस्थितियों को अनछुआ छोड़कर उन्हें जारी रहने देते हैं। इसीलिए पुरानी स्थिति अपरिवर्तित बनी रहती है तथा समय-समय पर संघर्ष होते रहते हैं। इसके विपरीत, ईसाई-पश्चिम के लोक-विद्रोहों में धार्मिक छद्मवेश पुरानी पड़ती जा रही आर्थिक व्यवस्था पर आक्रमण का झंडा तथा मुखौटा मात्र है। अंततः इसे समूल नष्ट कर दिया जाता है, इसके स्थान पर एक नयी व्यवस्था स्थापित हो जाती है और दुनिया तरक्की करती जाती है।—— (एंगेल्स की टिप्पणी)।

संगठन में यह बात शानदार ढंग से सामने आयी; पर यह प्रवृत्ति समूचे मध्ययुग में ही व्याप्त है, जर्मन किसान युद्ध के बाद थोड़ी धूमिल होने लगती है तथा 1830 के बाद मेहनतकश कम्युनिस्टों के साथ पुनरुज्जीवित हो उठती है। फ्रांसीसी क्रांतिकारी कम्युनिस्टों जैसे कि ख़ासकर वाइटलिंग तथा उसके समर्थकों ने आरम्भिक ईसाई धर्म के संदर्भ में कहा था, अर्न्स्ट रेनां के निम्नलिखित वक्तव्य से बहुत पहले :

"यदि आप आरम्भिक ईसाई समुदायों के बारे में कुछ जानना चाहते हैं तो अंतर्राष्ट्रीय कामगार संघ की स्थानीय शाखा को देख लीजिये।"

इस फ्रांसीसी विद्वान की, जिसने बाइबिल की जर्मन आलोचना को इतना तोड़ा-मरोड़ा कि जो आधुनिक पत्रकारिता की दृष्टि से भी अभूतपूर्व है, जिसने चर्च का नवीन इतिहास **ईसाई धर्म के स्रोत** रचा, को ख़ुद यह पता नहीं था कि अभी-अभी उद्धृत उनके इन शब्दों में कितनी अधिक सच्चाई है। मैं चाहूँगा कि यह बुज़ुर्ग 'अंतर्राष्ट्रीय', उदाहरण के लिए कॉरिंथियाइयों के नाम पॉल के तथा कथित दूसरे काव्यपत्र को— कम-से-कम एक मायने में पुराने घावों को हरा किये बग़ैर पढ़े। सम्पूर्ण काव्यपत्र में — अध्याय आठ से आगे — शाश्वत तथा इतनी सुपरिचित शिकायत गूँजती है— चन्दा-राशियाँ प्राप्त नहीं हो रही हैं ! साठ के दशक के कितने ही उत्साही प्रचारक उक्त काव्यपत्र के लेखक (वह जो भी हो) का हाथ सहानुभूतिपूर्वक भींचकर, उससे हौले से कहेंगे :"तो तुम्हारे साथ भी ऐसा ही हुआ था।" — हम भी— हमारे संघ में भी कॉरिंथियाई बड़ी संख्या में थे— चंदा-राशियों के न आने तथा हमारी आँखों के सामने दूर-दूर तैरती रहकर हमें छेड़ने के बारे में गाना गा सकते हैं। 'अंतर्राष्ट्रीय के यशस्वी लाख़ों-लाख़' वे ही तो थे।

आरंभिक ईसाइयों के सम्बन्ध में हमारा सर्वश्रेष्ठ स्रोत समोसाता का लूसियन है जो क्लासिकीय प्राचीन युग का वाल्तेयर है तथा जो हर प्रकार के धार्मिक अन्धविश्वास के प्रति संशयवादी था और इसलिए उसके पास न तो सर्वेश्वरवादी धार्मिक और न राजनीतिक आधार ही थे कि वह ईसाइयों को एक धार्मिक समुदाय के अलावा किसी अन्य रूप में निरूपित कर पाता। इसके विपरीत, उसने अंधविश्वास के लिए उन सबका मखौल उड़ाया— वे चाहे

---

* **अलमोराविद**— उत्तर अफ्रीका तथा दक्षिणी स्पेन में 11वीं तथा 12वीं शताब्दियों में शासन करने वाला बर्बरी क़बीलाई सामन्ती वंश।

अलमोहद— बर्बरी सामंती वंश जिसने अलमोराविदों की जगह ले ली थी तथा 12वीं 13वीं शताब्दियों में शासन किया था। **ख़ारतूम का महदी** — मोहम्मद अहमद, पूर्वी सूडान में किसानों तथा घूमंतुओं के जातीय विद्रोह (1881-85) का नायक। यह विद्रोह अंग्रेजों तथा अन्य उपनिवेशवादियों के ख़िलाफ़ निदेशित था। इसके परिणामस्वरूप 1898 तक वे निष्कासित रहे।

बृहस्पति के पूजक रहे हों या ईसा मसीह के : उसके उथले बुद्धिजीवी दृष्टिकोण से एक तरह का अन्धविश्वास उतना ही मूर्खतापूर्ण था जितना कि दूसरा। जो भी हो, यह निष्पक्ष साक्षी अन्य बातों के अलावा किसी एक साहसिक पर्यटक— जो अपने आप को हेलेसपोंतस (दार्देनेले का प्राचीन नाम) के पेरियम का निवासी प्रोटियस बताता था—की कहानी सुनाता है। अपनी जवानी में इस पर्यटक ने आर्मीनिया में व्यभिचार करके सामाजिक जीवन का श्रीगणेश किया था। वह रँगे हाथों पकड़ा गया तथा देश की प्रथा के मुताबिक़ ताबड़तोड़ पीटा गया। वह सौभाग्यशाली था कि बच निकला तथा पेरियम में अपने पिता की गला घोंटकर हत्या कर देने के बाद उसे वहाँ से भाग जाना पड़ा।

''और हुआ यह'' मैं स्कॉट के अनुवाद से उद्धृत कर रहा हूँ ''कि ईसाइयों के विस्मयकारी ज्ञान का पता उसे भी चल गया, जिनके पादरियों तथा मुंशियों (लिपिकों) के साथ फ़िलिस्तीन में उसका सम्पर्क विकसित हो गया था। उसने थोड़े से समय में ही इतनी प्रगति की कि उसके शिक्षक तो उसकी तुलना में बच्चों जैसे लगते थे। वह पैग़म्बर, गुरु तथा यहूदू सभागार का अध्यक्ष बन गया— संक्षेप में, सब कुछ का स्वामी बन गया। उसने उनकी रचनाओं की टीका-व्याख्या की तथा अपनी स्वयं की अनेक रचनाएँ लिखीं और इस तरह अन्ततः लोग उसमें एक श्रेष्ठ प्राणी के दर्शन करने लगे—कि वह उनके लिए नियम क़ानून निर्मित करे — और इसी आधार पर (क्यों कि वह ईसाई था) उसे ओवरसियर (बिशप) बना दिया। आख़िरकार अधिकारियों ने प्रोटियस को गिरफ़्तार कर लिया और जेल में डाल दिया .... वह बेड़ियों में जकड़ा पड़ा रहा तथा ईसाई लोग, जो उसकी गिरफ़्तारी को विपत्ति मानने लग गये थे, उसे मुक्त कराने के हरसम्भव प्रयत्न करने लगे, पर वे सफल नहीं हुए। तब उन्होंने बेहद व्याकुलता व उत्सुकता के साथ उसकी हरसम्भव देख-रेख शुरू कर दी। पौ फटते ही वहाँ बूढ़ी माँओं, विधवाओं तथा युवा अनाथों को जेल के दरवाज़े पर भीड़ लगाते देखा जा सकता था; ईसाइयों के बीच जो सबसे ज़्यादा प्रतिष्ठित लोग थे वे तो वार्डनों को रिश्वत देकर भी उसके साथ पूरी रातें बिताने लगे; वे उनके (वार्डनों) साथ बैठकर खाना खाने तथा उसकी उपस्थिति में अपने धर्मग्रंथों का पाठ करने लगे; संक्षेप में, उनका प्यारा पर्यटक (वह अभी भी इस नाम से जाना जाता था) उनके लिए नये सुकरात से कम नहीं था। एशिया माइनर के नगरों तक से ईसाई समुदायों के विशेष दूत उसका हाथ बँटाने (सहायता करने), उससे सांत्वना देने तथा दरबार में उसके पक्ष में गवाही देने तक के लिए आने लगे। यह अविश्वसनीय (आश्चर्यजनक) है कि जब-जब उनके समुदाय का सवाल आता है, ये लोग कितनी फ़ुर्ती से काम (भाग-दौड़-हस्तक्षेप) करने लग जाते हैं; ऐसे में वे न तो मेहनत से क़तराते हैं और न ख़र्चे से। इस

प्रकार **पर्यटक** के पास सब ओर से इतना धन बरसने लग गया कि क़ैद उसके लिए ज़बर्दस्त आय का स्रोत बन गयी। क्योंकि ग़रीब लोगों ने अपने आप को यह समझा लिया था कि वे शरीर व आत्मा से अमर थे इसलिए वे अनन्त काल तक जीवित रहेंगे; यही कारण था कि वे मौत की ओर हिक़ारत की नज़र से देखते थे और उनमें से बहुत से तो स्वेच्छा से भी अपने जीवन का त्याग कर देते थे। उसके बाद उनके सबसे बड़े (प्रमुख) विधिकर्त्ता ने उन्हें यह पक्का भरोसा दिला दिया कि धर्मांतरित होते ही— यानी यूनानी देवताओं को तिलांजलि देने, सूली पर चढ़े विवेकी में आस्था व्यक्त करने तथा उसकी शिक्षाओं के अनुरूप जीवन व्यतीत करना शुरू कर देने के बाद से ही— वे सब एक-दूसरे के भाई बन जायेंगे। यही कारण है कि वे बग़ैर किसी भेदभाव के सभी प्रकार के बाहरी साज़ो-सामान (लौकिक सम्पदा) को घृणा करते हैं तथा अपने सिद्धांतों— जिन्हें उन्होंने विश्वास के सहारे, बिना किसी प्रमाण-प्रदर्शन के स्वीकार किया है— के अनुरूप साझे स्वामित्व में यक़ीन करते हैं। ऐसे में यदि कोई कुशल चालबाज़ (धूर्त), जो यह जानता हो कि परिस्थितियों का होशियारी से इस्तेमाल कैसे किया जाता है, उनके पास आ जाये, तो वह थोड़े समय में ही धनी बन जाने की जुगत बिठा सकता है तथा इन सीधे-सादे (मूर्खता की हद तक) लोगों पर चुपके से हँस भी सकता है। बाक़ी यह कि 'पर्यटक' को सीरिया के तत्कालीन प्रशासक ने मुक्त कर दिया।''

फिर, कुछेक साहसिक कार्यों के बाद—

''हमारा यशस्वी दूसरी बार (पेरियम से) पर्यटन पर निकल पड़ा, ईसाइयों का सौहार्द उसकी यात्राओं पर धन के स्थान पर काम आता रहा; वे हर जगह उसकी ज़रूरतों का ध्यान रखते तथा उन्होंने उसे कभी भी अभाव के कष्ट झेलने की स्थिति में नहीं आने दिया। काफ़ी समय तक उसका काम इसी तरह चलता रहा। पर जब उसने ईसाइयों के नियमों को भी भंग कर दिया— मैं समझता हूँ उसे कोई निषिद्ध भोजन करते हुए पकड़ लिया गया था— तो उन्होंने उसे अपने समुदाय से बहिष्कृत कर दिया।''

जब मैं लूसियन द्वारा प्रस्तुत इस वर्णन को पढ़ता हूँ तो युवाकाल की न जाने कैसी-कैसी यादें दिमाग़ में आने लगती हैं। सबसे पहले तो 'पैग़ंबर अलब्रेख़्त' की, जिसने 1840 के आस-पास स्विट्ज़रलैंड के वाइट्लिंग कम्युनिस्ट समुदायों में कई वर्षों तक सनसनी फैला दी थी — एक लंबा-तगड़ा दाढ़ीवाला व्यक्ति, जो समूचे स्विट्ज़रलैंड में पैदल घूमता रहा, विश्व-मुक्ति के अपने रहस्यमय नये धर्म सिद्धांत के लिए श्रोता मंडलियाँ जुटाता रहा— पर जो कुल मिलाकर, काफ़ी हद तक निरापद अव्यवस्थित मानस का व्यक्ति जान पड़ता है— और जल्दी ही मर गया। उसके बाद उसका उत्तराधिकारी (जो उतना निरापद नहीं था)

होल्सटाइन का डॉ. ग्योर्ग कुह्लमान, वाइट्लिंग के जेल में रहते अपने समय का फ़ायदेमंद इस्तेमाल फ्रांसीसी स्विट्ज़रलैंड के समुदायों को **अपने** धर्मसिद्धांत के पक्ष में परिवर्तित करने के लिए करता रहा और कुछ समय तक तो उसने यह सब इतनी सफलता के साथ किया कि उसने आगस्ट बेकर तक को— जो कि वहाँ का सबसे तेज़, पर साथ ही सबसे बड़ा असफल व्यक्ति भी था— फँसा लिया। यह कुह्लमान उनके समक्ष व्याख्यान दिया करता था जो कि 1845 में जेनेवा में **'नयी दुनिया, या धरती पर पवित्र आत्मा का राज्य। घोषणा'** शीर्षक से प्रकाशित हुए। उसके अनुयायियों (संभवतः आगस्ट बेकर) द्वारा लिखी गयी भूमिका का यह अंश देखिये :

"कमी थी तो बस ऐसे व्यक्ति की, जिसके होठों पर हमारी तकलीफ़ें, हमारी आकांक्षाएँ और हमारी आशाएँ— एक शब्द में कहें तो— वह सब जो हमारे ज़माने पर गहरा प्रभाव डालता है, अभिव्यक्ति पा सके। यह व्यक्ति— हमारा युग जिसकी प्रतीक्षा कर रहा था— आ गया है। वह है होल्सटाइन का डॉ. ग्योर्ग कुह्लमान ! वह नयी दुनिया या पवित्र आत्मा के राज्य की वास्तविकता के अपने धर्मसिद्धांत को लेकर प्रस्तुत है।

मुझे यहाँ यह जोड़ने की ज़रूरत नहीं कि नयी दुनिया का यह सिद्धांत अत्यंत कुत्सित भावुकतापूर्ण बकवास से अधिक कुछ नहीं है, जिसे लामेनायस की शैली में बाइबिल की अभिव्यक्तियों की फूहड़ नक़ल के सहारे प्रस्तुत किया गया है— पैग़ंबरनुमा दंभ के साथ। पर इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ा— वाइट्लिग के निवासी इस धूर्त को वैसे ही कंधे पर बिठाकर घुमाते रहे जैसे कभी एशियाई ईसाइयों ने 'पर्यटक' को घुमाया था। वे जो अन्यथा इतने कट्टर जनवादी थे इस हद तक कि सिर्फ़ इसी आधार पर कि कोई व्यक्ति शारीरिक श्रमिक नहीं है तथा 'विद्वान' है; किसी पत्रकार, शिक्षक आदि के ख़िलाफ़ शोषक के रूप में कभी न ख़त्म होने वाले संदेह बो दिया करते थे। उन्होंने अतिनाटकीय एवं सनसनीख़ेज़ रूप में प्रस्तुत कुह् लमान पर इतना भरोसा कर लिया कि 'नयी दुनिया' में सबसे अधिक बुद्धिमान व्यक्ति— यानी, कुह्लमान सरीख़ा— ही सुखों के बँटवारे का नियमन करेगा और इसलिए यह कि तब भी, यानी पुरानी दुनिया में भी शिष्यों को चाहिए कि उसी सबसे अधिक बुद्धिमान व्यक्ति के पास सुखों के गट्ठर बाँध कर पहुँचायें तथा स्वयं रूखे-सूखे से संतुष्ट रहें। तो यह नया पर्यटक कुह् लमान समुदाय के ख़र्च पर शानदार सुखों का जीवन जीता रहा— जब तक ऐसा चल सकता था। ज़ाहिर है कि अधिक समय तक यह नहीं चल पाया, संदेहियों तथा नास्तिकों की बढ़ती हुई खुसरपुसर तथा वॉद शासन द्वारा दी गयी उत्पीड़न की धमकी ने 'पवित्र आत्मा के राज्य' का लॉ साने में अन्त कर दिया कुह्लमान ग़ायब हो गया।

प्रत्येक उस व्यक्ति को, जो यूरोपीय मज़दूर वर्ग के आंदोलन की आरंभिक स्थितियों को अनुभव के आधार पर जानता-समझता है, वैसे ही दर्जनों उदाहरणों की याद आ जायेगी। आज इस प्रकार की अतिवादी घटनाएँ कम-से-कम बड़े केन्द्रों में असंभव हो गयी हैं, किंतु दूर-दराज़ के उन इलाक़ों में जहाँ आंदोलन उभरा ही है, इस प्रकार का एक छोटा-सा 'पर्यटक' भी अस्थायी सीमित सफलता के बारे में निश्चित हो ही सकता है। उन तमाम लोगों की तरह जिन्हें शासकीय जगत् में अपने लिए कोई उम्मीद नहीं बची है, या जो उसके साथ वहाँ पहुँच गये हैं जहाँ सामर्थ्य चुकती-सी दिखाई पड़ती है— टीका लगाने के विरोधी, मिताहार संयम के समर्थक, शाकाहारी, जीवच्छेदनवाद-विरोधी, प्राकृतिक चिकित्सक, मुक्त-समुदाय प्रचारक (जिनके स्वयं के समुदाय छिन्न-भिन्न हो गये हैं), ब्रह्मांड के उद्‌भव के संबंध में नये सिद्धांतों के जनक, असफल तथा अभागे अन्वेषक, वास्तविक अथवा काल्पनिक अन्याय के शिकार (जिन्हें समस्त नौकरशाही द्वारा निकम्मे चालबाज़ों की संज्ञा दी जाती है), ईमानदार मूर्ख तथा बेईमान धूर्त— ये तमाम लोग सभी देशों में मज़दूर पार्टियों में ठुँसने की कोशिश करते हैं— आरंभिक ईसाइयों के साथ भी ऐसा ही हुआ था। वे तमाम लोग जो पुरानी दुनिया के विघटन के कारण मुक्त हो गये थे— यानी खुले सिरे पर आ गये थे— एक-एक करके ईसाई धर्म के वृत्त में प्रवेश करने लगे (क्योंकि यही एकमात्र ऐसा तत्त्व था जो उस विघटन की प्रक्रिया का प्रतिरोध कर रहा था, इसलिए भी कि वह उसी प्रक्रिया की उपज था); इसमे स्थायित्व व विकास दोनों ही दिखाई पड़ रहे थे, जबकि अन्य तत्त्व तो मक्खी-मच्छरों के समान क्षण-भंगुर थे। ऐसी कोई मतांधता, मूर्खता व धूर्तता (चार सौ बीसी) नहीं थी जो युवा ईसाई समुदायों की ओर न भागी हो तथा जिसे चाहे सीमित अवधि के लिए और अलग-थलग पड़े स्थानों पर ही ध्यान से सुनने वाले (एकाग्र श्रोता) तथा तत्पर आस्थावान न मिल गये हों। हमारे प्रथम कम्युनिस्ट मज़दूर समुदायों की तरह ही आरंभिक ईसाइयों ने भी हर उस चीज़ पर अभूतपूर्व भोलेपन के साथ विश्वास कर लिया जिसे भी उन्होंने अपने उद्देश्य के अनुकूल पाया— इस हद तक कि हम विश्वासपूर्वक यह नहीं कह सकते कि 'पर्यटक' द्वारा ईसाई धर्म के लिए लिखी गयी अनेक रचनाओं का कोई अंश हमारे न्यू टैस्टामेंट में प्रविष्ट न हो गया हो।

दो

बाइबिल की जर्मन आलोचना— आरंभिक ईसाई धर्म के इतिहास के हमारे ज्ञान का जो अभी तक एकमात्र वैज्ञानिक आधार है— ने दोहरी प्रवृत्ति का अनुसरण किया।

पहली प्रवृत्ति तो थी–**तुबिंगेन संप्रदाय** की जिसमें मोटे तौर पर स्ट्रॉस को भी सम्मिलित किया जाना चाहिए। आलोचनात्मक अन्वेषण में यह उतने दूर तक जाता है जहाँ तक कोई धर्मशास्त्रीय संप्रदाय जा सकता है। यह इस बात को स्वीकार करता है कि चार धर्मसिद्धांत प्रत्यक्षदर्शियों द्वारा प्रस्तुत वर्णन नहीं हैं बल्कि उन रचनाओं के पश्चवर्ती रूपांतर हैं जो लुप्त हो चुकी हैं— कि संत पॉल के नाम से निर्दिष्ट काव्यपत्रों में से मात्र चार ही प्रमाणिक हैं आदि। इस संप्रदाय ने ऐतिहासिक वर्णों में से समस्त चमत्कारों व अंतर्विरोधों को अस्वीकार्य घोषित करके निकाल दिया है, पर जो शेष बचता है उससे यह 'जो बचाया जा सकता है, उसे बचाने की' कोशिश करता है क्योंकि एक धर्मशास्त्रीय संप्रदाय के रूप में इसका स्वभाव स्पष्ट है। इस प्रकार इसने रेनां को— जो अधिकांशतः इसे ही अपना आधार बनाते हैं— इसी पद्धति का उपयोग करके और अधिक 'बचाने' में सक्षम बनाया; यही नहीं, उन्होंने हमारे ऊपर ऐसे अनेक न्यू टैस्टामेंट प्रकरणों को ऐतिहासिक दृष्टि से प्रमाणिक घोषित करके थोपा (शहीदों से संबंधित अनेकानेक किंवदंतियों की तो बात ही छोड़ दें) जो बेहद संदेहास्पद हैं। जो भी हो, तुबिंगेन संप्रदाय द्वारा जो कुछ भी अनैतिहासिक अथवा कपोल-कल्पित मानकर ख़ारिज़ कर दिया गया है, उसे तो विज्ञान के लिए निर्णायक रूप से समाप्त माना ही जा सकता है।

दूसरी प्रवृत्ति का मात्र एक प्रतिनिधि है ब्रूनो बावेर। उनका सबसे बड़ा योगदान इसी में निहित नहीं है कि उन्होंने ईसा के शिष्यों के धर्मसिद्धांतों व काव्यपत्रों की निर्मम आलोचना की है, बल्कि इस बात में भी निहित है कि उन्होंने पहली बार न केवल यहूदी एवं यूनानी-एलेक्ज़ेंड्रियाई तत्त्वों का बल्कि विशुद्ध यूनानी तथा यूनानी-रोमन तत्त्वों (जिन्होंने ईसाई धर्म के लिए विश्व धर्म के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त करने की संभावनाओं के द्वार खोल दिये) के अन्वेषण का काम गंभीरता से हाथ में लिया। यह किंवदंती ब्रूनो बावेर के काल से ही अमान्य रही है कि ईसाई धर्म यहूदी मत से बने-बनाये तथा पूर्ण रूप में निकला और कि फ़िलिस्तीन से अपनी यात्रा शुरू करके उसने अपने जड़ सूत्र के सहारे सारी दुनिया पर विजय प्राप्त कर ली; यह किंवदंती धर्मशास्त्रीय दीक्षा केंद्रों में तथा उन लोगों के बीच अभी भी फलती-फूलती रह सकती है जो विज्ञान की कीमत पर भी 'जनता के लिए धर्म को जीवित रखना' चाहते हैं। ईसाई धर्म, जो कांस्तेंतिन के शासन काल में राजकीय धर्म बन गया, पर अलेक्ज़ेंड्रिया के फ़िलो संप्रदाय तथा यूनानी-रोमन कुत्सित दर्शन— ख़ासकर प्लेटोवादी तथा स्टोइक— का जो ज़बर्दस्त प्रभाव पड़ा, उससे अभी तक इन्कार नहीं किया गया है, बल्कि उसके अस्तित्व

को सिद्ध ही किया गया है। यह मुख्यतः ब्रूनो बावेर की ही उपलब्धि है। उन्होंने इस प्रमाण की नींव डाली कि ईसाई धर्म यूनानी-रोमन जगत् से बाहर से— जूडिया (प्राचीन फ़िलिस्तीन का दक्षिणी क्षेत्र— फ़ारसी, यूनानी तथा रोमन शासन के अधीन रहा— अब दक्षिण-पश्चिमी इज़रायल तथा पश्चिमी जोर्डन के रूप में— अनु.) से आयातित किया जाकर, उस पर आरोपित नहीं किया गया था; यह तो वस्तुतः कम-से-कम विश्व-धर्म के रूप में उसी जगत की उपज है। यह भी सही है कि गहरी जड़ों वाले पूर्वाग्रहों के ख़िलाफ़ संघर्ष करने वाले सभी लोगों की तरह बावेर भी इस कार्य में अपने ध्येय की प्राप्ति में (अति के कारण) असफल रहे। साहित्यिक स्रोतों के माध्यम से भी उदीयमान ईसाई धर्म पर फ़िलो के तथा ख़ासकर सेनेका के प्रभाव को परिभाषित करने तथा न्यू टैस्टामेंट के रचयिताओं को इन दार्शनिकों की रचनाओं की चोरी करने वालों के रूप में प्रदर्शित करने के उद्देश्य से भी उन्हें नये धर्म के आविर्भाव को लगभग पचास वर्ष बाद निर्दिष्ट करना पड़ा, ताकि रोमन इतिहासकारों के परस्पर-विरोधी वर्णनों को ख़ारिज किया जा सके तथा मोटे तौर पर इतिहास लेखन के साथ खुली छूट भी ली जा सके। उनके अनुसार ईसाई धर्म का उदय फ़्लावियन वंश के अंतर्गत ही हुआ, न्यू टैस्टामेंट का साहित्य हाद्रियन, एंटोनियस तथा मार्कस ऑरेलियस के शासन-कालों में ही सामने आया। परिणामस्वरूप ईसा तथा उनके शिष्यों से संबंधित न्यू टैस्टामेंट के वर्णनों को बावेर ऐतिहासिक पृष्ठभूमि-विहीन मानते हैं; किंवदंतियों— जिनमें आरंभिक समुदायों के आंतरिक विकास तथा नैतिक संघर्षों के चरणों को कमोबेश काल्पनिक व्यक्तियों के नाम मढ़ दिया गया है— में ये वर्णन पनियल हो गये हैं। बावेर के अनुसार नये धर्म के जन्म-स्थल गेलिली तथा येरूशलम नहीं बल्कि अलेक्ज़ेंड्रिया तथा रोम हैं।

इसलिए यदि तुबिंगेन संप्रदाय न्यू टैस्टामेंट कथाओं तथा साहित्य (जिसे उसने अनछुआ छोड़ दिया) के अवशेषों के माध्यम से हमारे समक्ष जो कुछ भी प्रस्तुत करता है, विज्ञान उसमें से अधिकतम को आज भी विवाद्य (खंडन किये जाने योग्य) मान सकता है; ब्रूनो बावेर की प्रस्तुति के अधिकांश का विरोध किया जा सकता है। अगली सच्चाई इन दोनों छोरों के बीच ही कहीं निहित है। यह कह पाना आसान नहीं है (बल्कि हमें तो संदेह है) कि आज हमारे पास उपलब्ध साधनों के सहारे इस सच्चाई को परिभाषित किया जा सकता है। नयी खोज़ें — ख़ासकर रोम में पूरब में तथा सर्वोपरि मिस्र में— इस दिशा में किसी भी आलोचना से अधिक योगदान करेंगी।

किन्तु न्यू टैस्टामेंट का एक ग्रंथ ऐसा भी है जिसकी रचना-अवधि को कुछेक महीनों

के भीतर परिभाषित किया जा सकता है, यानी जो जून 67 तथा जनवरी अथवा अप्रैल 68 के बीच लिखा गया होना चाहिए। एक ऐसा ग्रंथ— जो परिणामस्वरूप ईसाई युग के आरम्भ से सम्बन्धित होने के कारण उसके विचारों को मासूमियत-भरी ईमानदारी से तथा तदनुरूप मुहावरेदार भाषा में व्यक्त करता है। इसलिए मेरी राय में, यह ग्रंथ आरम्भिक ईसाई धर्म की वास्तविकता को परिभाषित करने के लिए शेष न्यू टैस्टामेंट (जो अपने वर्तमान रूप में काफ़ी बाद में अस्तित्व में आया) की तुलना में कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण स्रोत है। यह ग्रंथ वही है जिसे जॉन के तथाकथित प्रकाशना ग्रंथ के रूप में जाना जाता है और जिस रूप में यह— ज़ाहिरा तौर पर सम्पूर्ण बाइबिल की सबसे अधिक दुर्बोध पुस्तक— आज उपलब्ध है, भला हो जर्मन आलोचना का— यह सबसे अधिक बोधगम्य एवं सुस्पष्ट पुस्तक बन गयी है। अपने पाठकों को मैं इसके बारे में जानकारी देना चाहूँगा।

न केवल लेखक के, बल्कि चारों ओर के परिवेश के महान् उन्नयन की स्थिति की प्रामाणिकता पर यक़ीन कर लेने के लिए इस पुस्तक को सरसरे तौर पर पढ़ा जाना ही काफ़ी होगा। यह 'प्रकाशना' अपने तरह का व अपने ज़माने का एकमात्र प्रकाशना नहीं है। हमारे काल के 164 वर्ष पूर्व से लेकर जबकि सबसे पहला यानी तथाकथित डैनियल का प्रकाशना हम तक पहुँचा, हमारे काल के वर्ष 250 तक (जो कि कोमेदियन की कृति **कार्मेन**[1] की अनुमानित तिथि है), रेनां ने कम-से-कम पन्द्रह उपलब्ध क्लासिकीय प्रकाशना ग्रंथों की गणना की है, जिसमें तदनंतर हुई नक़लों को नहीं गिना गया है। (मैं रेनां को इसलिए उद्धृत कर रहा हूँ क्योंकि उसकी पुस्तक ग़ैर-विशेषज्ञों द्वारा लिखी गयी पुस्तकों में सुविख्यात तथा आसानी से उपलब्ध है।) यह उस ज़माने की बात है जब रोम तथा यूनान में भी और उससे भी अधिक एशिया माइनर, सीरिया तथा मिस्र में अत्यन्त भिन्न जातियों के फूहड़ अंधविश्वासों के अनालोचनात्मक मिश्रण को आँख मूँदकर स्वीकार कर लिया जाता था तथा पुनीत धोखेबाज़ी तथा पक्की धूर्तता उन अंधविश्वासों के अनुपूरक की भूमिका अदा करती थी : यह वह ज़माना था जब चमत्कारों, भाव-समाधियों, दिव्य-स्वप्नों, प्रेतात्माओं को बुलाने, शकुन-विचार, सोना-बनाने, गुप्त विद्या[2] तथा अन्य रहस्यमय जादू-टोनों की भूमिका काफ़ी महत्त्वपूर्ण थी। ईसाई धर्म का जन्म इस माहौल में और वह भी लोगों के उस वर्ग में हुआ, जिसका कि अन्य

---

1. कोमोदियन की कृति **'यहूदियों और ग़ैर-ईसाइयों के विरुद्ध पक्ष-समर्थक काव्य'** का हवाला।
2. **गुप्त विद्या**— जादू से सम्बन्धित रहस्यवादी धार्मिक सिद्धांत, जो मध्ययुग में यहूदियों के मध्य व्यापक रूप से प्रचलित था।

वर्गों की तुलना में, इस तरह की अलौकिक कल्पना–कथाओं को सुनने की ओर कहीं अधिक रुझान था। क्योंकि क्या दूसरी शताब्दी के दौरान मिस्र के गूढ़ ज्ञानवादी[1] कीमियागिरी में व्यापक रूप से संलग्न नहीं थे और क्या उन्होंने अपनी शिक्षाओं में कीमिया–धारणाओं को नहीं ठुँसा दिया था; जैसा कि अन्य के अलावा लेडेन पेपीरस के दस्तावेज़ सिद्ध करते हैं तथा काल्डियाई व जूडियाई गणितज्ञ— जो कि टैसीटस के अनुसार, जादू के अपराध में रोम से दो बार निष्कासित हुए थे— एक बार क्लॉडियस के शासन में तथा दूसरी बार वितेलियस के शासन में जॉन के प्रकाशना के आधार में पायी जाने वाली ज्यामिति से भिन्न किसी ज्यामिति को काम में नहीं लेते थे।

यहाँ एक बात और कही जानी चाहिए। ये सभी प्रकाशना ग्रंथ पाठकों को धोखा देने के अधिकार को अपना धर्म बना लेते हैं। न केवल वे अपने कथित लेखकों से भिन्न व्यक्तियों द्वारा, बल्कि काफ़ी बाद में लिखे गये थे। उदाहरण के लिए— डेनियल की पुस्तक, हेनोख़ का ग्रंथ, एज़रा, बरूच तथा जूड़ा आदि के प्रकाशना ग्रंथ और नबियाई (भविष्यवाणियों से संबंधित) की पुस्तकें भी— किन्तु जहाँ तक उनकी मुख्य अन्तर्वस्तु का सम्बन्ध है, उनमें ऐसी चीज़ों की भविष्यवाणियाँ की गयी हैं जो कि बहुत पहले ही घटित हो चुकी थीं और इसलिए असली लेखक को अच्छी तरह से ज्ञात थीं। इस प्रकार 164 में, एंटियोकस एपीफ़ेन्स की मृत्यु के कुछ समय पूर्व डेनियल के ग्रंथ का लेखक डेनियल से— जिसके बारे में यह माना जाता है कि वह नेबूशाद्नेज़ार के समय का था— फ़ारस तथा मख़्दून साम्राज्यों के उत्थान–पतन की रोमन विश्व प्रभुत्व के आरम्भ की भविष्यवाणियाँ करवा देता है; जिसका उद्देश्य भविष्यवाणी के उपहार के इस प्रमाण के ज़रिये पाठक को अपनी अन्तिम भविष्यवाणी मानने के लिए तैयार करना है कि इज़रायल के लोग तमाम दिक्कतों–मुसीबतों पर क़ाबू पा लेंगे तथा अंततः विजयी होंगे और यदि फिर भी यह मान लिया जाये कि जॉन का प्रकाशना ग्रंथ इसके कथित लेखक की ही रचना है, तो यह निस्संदेह सम्पूर्ण प्रकाशना साहित्य में एकमात्र अपवाद होगा।

बहरहाल, वह जॉन जो इस प्रकाशना ग्रंथ का रचयिता होने का दावा करता है— एशिया माइनर के ईसाइयों के बीच एक अति विशिष्ट व्यक्ति था। यह सात चर्चों को भेजे गये संदेश के स्वर से भी सिद्ध हो जाता है। सम्भवतः वह धर्म प्रचारक जॉन ही था, जिसका ऐतिहासिक अस्तित्व तो प्रमाणित नहीं होता है पर फिर भी यह संभाव्य है। यदि वह धर्म–

---

1. **गूढ़ ज्ञानवादी**— रहस्यमय संज्ञान से जुड़े धार्मिक दार्शनिक सिद्धांत (जो कथित रूप से अस्तित्व के रहस्यों को उद्घाटित करता है तथा मुक्ति का मार्ग दिखाता है) के समर्थक। यह मध्य पूर्व में दूसरी तथा तीसरी शताब्दियों में व्यापक रूप से प्रचलित था।

प्रचारक ही असली रचयिता था, तो यह हमारे दृष्टिकोण के लिहाज़ से और भी बेहतर है। वह इस बात की सबसे अच्छी पुष्टि होगी कि इस ग्रंथ का ईसाई धर्म ही सच्चा आरम्भिक ईसाई धर्म है। प्रसंगवश यह टिप्पणी भी की जानी चाहिए कि प्रकाशना ग्रंथ उसी व्यक्ति द्वारा नहीं लिखा गया था जिसने कि जॉन के नाम से जाने जाने वाले धर्म सिद्धांत तथा तीन काव्य-पत्रों की रचना की थी।

प्रकाशना ग्रंथ दिव्य-स्वप्नों की शृंखला से मिलकर बना है। पहले में ईसा-मसीह एक धर्माधिकारी के वेश में प्रकट होते हैं, एशिया के सात चर्चों का प्रतिनिधित्व करने वाली सात मोमबत्तियों के बीच जाते हैं तथा 'जॉन' को उन चर्चों के सात 'देवदूतों' के नाम सन्देश लिखाते हैं। यहाँ शुरू में ही हमें इस ईसाई धर्म और निकीया परिषद द्वारा सूत्रित कांस्तेंतिन के विश्व धर्म के बीच फ़र्क़ साफ़ दिखाई देता है। त्रयी न केवल अज्ञात है, बल्कि असम्भव भी है। बाद के काल की मात्र एक पवित्र आत्मा के स्थान पर यहाँ हमें 'परमेश्वर की सात आत्माएँ' देखने को मिलती हैं, रब्बियों (गुरुओं) ने जिनका इसाया 11 : 2 के आधार पर अनुमान लगाया है। ईसा परमेश्वर के पुत्र हैं, प्रथम व अंतिम, आदि व अंत; फिर भी स्वयं परमेश्वर अथवा परमेश्वर के समकक्ष क़तई नहीं, बल्कि इसके विपरीत 'परमेश्वर की सृष्टि का आरम्भ' इस प्रकार परमेश्वर का प्रकटन— अनादिकाल से अस्तित्वमान, पर ऊपर वर्णित सात आत्माओं की तरह परमेश्वर के अधीनस्थ। अध्याय 15 :3 में स्वर्ग में शहीद ''मोज़ेज़— परमेश्वर का सेवक— का गीत तथा निर्दोष (मेमना यानी ईसा) का गीत गाकर परमेश्वर का गरिमागान करते हैं। अतः यहाँ ईसा न केवल परमेश्वर के अधीनस्थ दिखाई देते हैं बल्कि एक लिहाज़ से मोज़ेज़ के बराबर खड़े दिखाई देते हैं। ईसा को येरूशलम में सूली पर चढ़ाया जाता है (11 :8) पर वह पुनः प्रकट हो जाते हैं (1 : 5, 18); वह ही 'वह मेमना' है जिसे दुनिया के पापों के लिए बलि चढ़ाया जाता है तथा जिसके ख़ून से ही तमाम जातियों व तमाम भाषाओं के आस्थावान परमेश्वर से जा मिलते हैं। यहाँ हमें वह आधारभूत धारणा मिलती है जिसने ईसाई धर्म को विश्व धर्म के रूप विकसित होने में सक्षम बनाया। इस ज़माने के समस्त अफ्रो-एशियाई तथा यूरोपीय धर्मों में यह धारणा समान रूप से विद्यमान थी कि मनुष्य के कर्मों से रुष्ट देवताओं को बलि देकर मनाया जा सकता है। ईसाई धर्म की पहली क्रांतिकारी आधारभूत धारणा (जो फ़िलो-समर्थक संप्रदाय से ली गयी थी) यह थी कि किसी एक मध्यस्थ द्वारा स्वेच्छा से दी गयी एक महान् बलि ही सभी कालों के तथा सभी मनुष्यों (आस्थावानों) के सभी पापों का सदा-सर्वदा के लिए प्रायश्चित्त करने के लिए काफ़ी है। इस प्रकार आगे के और बलिदानों की आवश्यकता ही दूर हो गयी तथा उसके साथ धार्मिक कर्मकांड की बहुलता का आधार भी ख़त्म हो गया : किन्तु विश्व धर्म की पहली शर्त उस कर्मकांड से स्वतंत्रता थी

जिसने अन्य आस्थाओं वाले लोगों के साथ संपर्क को मुश्किल बना दिया था अथवा निषिद्ध कर दिया था। इसके बावजूद भी, विभिन्न जातियों के रीति-रिवाज़ों में बलि की आदत की जड़ें इतनी गहरी थीं कि कैथोलिकवाद— जिसने सर्वेश्वरवाद से इतना कुछ उधार लिया था— को यह उपयुक्त लगा कि इस तथ्य से सामंजस्य बिठाने के लिए कम-से-कम ख़्रीस्तयाग की प्रतीकात्मक बलि को तो सम्मिलित कर ही लिया जाये। दूसरी ओर, इस प्रकाशना ग्रंथ में मूल पाप के जड़सूत्र का तो नामोनिशान तक नहीं है।

किन्तु इन संदेशों तथा इस सम्पूर्ण पुस्तक में जो सबसे विशिष्ट बात दिखाई देती है वह यह कि लेखक को कभी भी तथा कहीं भी यह ज़रूरी नहीं जान पड़ा कि वह अपने लिए तथा अपने सह-आस्थावानों के लिए यहूदियों के अलावा किसी अन्य नाम का इस्तेमाल करें। वह स्मिर्ना (इज़मीर का भूतपूर्व नाम— अनु.) तथा फ़िलाडेल्फ़िया के पंथों के सदस्यों को वह बुरा-भला कहता है तथा उनके ख़िलाफ़ वह इसलिए आग-बबूला होता है कि वे —

"कहते हैं कि वे यहूदी हैं और हैं नहीं, बल्कि शैतान के सभागार है"; उनके बारे में पर्गामोस में वह कहता है : वे बलाम (मेसोपोटामिया का सगुनी) के सिद्धांत को मानते हैं जिसने कि ब्लाक को इज़रायल की संतानों के सामने अवरोध खड़ा कर देने, मूर्तियों के सामने बलि चढ़ायी गयी चीज़ों को खाने तथा कुमारी-संभोग करनेकी शिक्षा दी थी। इसलिए यहाँ यह सचेतन ईसाइयों का मामला नहीं है बल्कि उन लोगों का है जो कि अपने आपको यहूदी कहते हैं। यदि यह भी मान लिया जाये कि उनका यहूदी मत आरम्भिक मत के विकास की नयी अवस्था है, पर उसी आधार पर तो यह एकमात्र असली मत है। अतएव, जब परमेश्वर के सिंहासन के सामने सन्त उपस्थित हुए तो सबसे पहले तो 1 लाख 44 हज़ार यहूदी आये (बारह क़बीलों में से, प्रत्येक के बारह हज़ार के हिसाब से) और फिर उनके बाद विधर्मियों का वह असंख्य जनसमूह जो इस नवीकृत यहूदी मत में धर्मांतरित हो गये थे। तो हमारे इस लेखक को 69 ई. में कितना कम अहसास था कि वह उस धर्म के विकास की एकदम नयी अवस्था का प्रतिनिधित्व कर रहा था जिसे कि मानव-मस्तिष्क के इतिहास के सर्वाधिक क्रांतिकारी तत्त्वों में से एक बनना था।

यह एकदम स्पष्ट है कि उस ज़माने का ईसाई धर्म, जो अभी भी अपने बारे में बेख़बर था, बाद के जड़सूत्रवाद में जकड़े हुए निकीया परिषद के विश्व धर्म से उतना ही भिन्न था जितना धरती से आकाश होता है; एक को दूसरे में पहचाना नहीं जा सकता। यहाँ हमारा सामना न तो जड़सूत्र से होता है और न बाद के ईसाई धर्म के आचारशास्त्र से, बल्कि इसके बजाय वही अहसास होता है कि जैसे कोई समूची दुनिया के ख़िलाफ़ संघर्ष कर रहा है और यह कि यह संघर्ष सफल होगा; संघर्ष के प्रति उत्सुकता तथा विजय की सुनिश्चितता, जिनका

कि आज के ईसाई धर्म में घोर अभाव है तथा हमारे जमाने में जो समाज के दूसरे ध्रुव पर— यानी समाजवादियों के मध्य ही पायी जा सकती है।

दरअसल, एक ऐसी दुनिया के ख़िलाफ़ संघर्ष, जो कि आरम्भ में बल की दृष्टि से श्रेष्ठ थी तथा साथ ही जो उनके अपने बीच भी नवाचारियों की दुनिया थी; आरम्भिक ईसाइयों तथा समाजवादियों दोनों ही की समान विशिष्टता है। इन दोनों महान् आंदोलनों में से एक भी पैग़ंबरों अथवा नेताओं द्वारा निर्मित नहीं था हालाँकि दोनों में ही भविष्यद्रष्टा हैं, ये तो जन-आंदोलन हैं। आरम्भ में जन-आंदोलनों का दिग्भ्रमित होना अवश्यंभावी होता है; दिग्भ्रमित इसलिए कि सामान्यजन का चिन्तन पहले-पहल अन्तर्विरोधों में उलझने लगता है, स्पष्टता का अभाव तथा एकजुटता का अभाव होता है और कुछ उस भूमिका के कारण भी जैसे पैग़ंबर/भविष्यद्रष्टा आरम्भ में इन आंदोलनों में अदा करते हैं। यह दिग्भ्रम उन विभिन्न सम्प्रदायों की संरचना में भी देखा जा सकता है जो एक-दूसरे के ख़िलाफ़ भी उसी उत्साह से लड़ते हैं जितने उत्साह से समान बाहरी शत्रु से लड़ते हैं। तो आरम्भिक ईसाई धर्म के सन्दर्भ में यह हाल था और यही हाल आरम्भिक समाजवादी आंदोलन का भी था। इस बात से कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता कि इसे वे शुभाकांक्षी सुयोग्य व्यक्ति कितने चिन्तित हुए होंगे जो एकता की शिक्षा दे रहे थे, जहाँ किसी भी तरह की एकता सम्भव ही नहीं थी।

क्या कम्युनिस्ट इंटरनेशनल समान जड़सूत्र के बल पर एक बना रहा था? स्थिति इसके एकदम विपरीत थी। वहाँ 1844 पूर्व की फ्रांसीसी परम्परा के कम्युनिस्ट थे और फिर उनमें भी कई रंगों के कम्युनिस्ट थे : वाइत्लिंग सम्प्रदाय के कम्युनिस्ट तथा कुछ दूसरे जो कि पुनरुज्जीवित कम्युनिस्ट लीग से संबद्ध थे, फ्रांस तथा बेल्जियम में प्रूधोंपंथियों का वर्चस्व था, तो जर्मन मज़दूर पार्टी में ब्लांपंथियों का वर्चस्व था और अन्त में बकूनिनपंथी अराजकतावादी भी, जिनका कुछ समय के लिए स्पेन और इटली में पलड़ा भारी रहा— ये तो प्रमुख समूह ही थे। कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की आधारशिला रखे जाने तथा अराजकतावादियों से अंतिम तौर पर, पूरी तरह से व सब जगह पार्थक्य की प्रक्रिया पूरी होने के बीच लगभग चौथाई शताब्दी का समय लगा, तब कहीं जाकर कम-से-कम सर्वाधिक सामान्य आर्थिक दृष्टि-बिन्दुओं पर एकता क़ायम हो पायी। वह भी तब जबकि हमारे पास यातायात व संचार के उन्नत साधनों रेलवे— डाक-तार, विशाल औद्योगिक शहर, प्रेस, संगठित जन-समुदाय— के होते हुए।

आरम्भिक ईसाइयों के बीच भी असंख्य पंथों में ऐसा ही विभाजन था, जो दरअसल वह साधन भी था जिसके माध्यम से हुई चर्चा-परिचर्चाओं के ज़रिये बाद में एकता क़ायम हो सकी। हम उसे इस ग्रंथ में भी पाते हैं जो कि निस्संदेह सबसे पुराना ईसाई दस्तावेज है, हमारा यह लेखक इससे भी उसी अदम्य उत्साह के साथ संघर्ष करता है जैसे कि बाहर की बड़ी

पापमय दुनिया से करता है। वहाँ सबसे पहले आते हैं निकोलायतपंथी–एफ़ेसस तथा पर्गामोस में; स्मिर्ना तथा फ़िलाडेल्फ़िया में वे जो कहते हैं कि वे यहूदी हैं, पर शैतान के सभागार हैं; पर्गामोस में बलाम (जिसे छद्म–पैग़ंबर कहा जाता है) की शिक्षाओं के समर्थक; एफ़ेसस में वे जो अपने आपको धर्म–प्रचारक कहते हैं पर हैं नहीं और अन्त में थ्यातिरा में येज़ेबेल नाम की छद्म–नबिया के समर्थक। इन पंथों के बारे में हमें और विस्तृत जानकारी दी नहीं गयी है, बलाम तथा येज़ेबेल के समर्थकों के बारे में सिर्फ़ इतना कहा गया है कि वे मूर्तियों को बलि चढ़ायी गयी चीज़ें खाते थे तथा कुमारी–संभोग करते थे। इन पाँच पंथों को पॉल समर्थक ईसाइयों के रूप में अभिकल्पित करने के प्रयास किये गये हैं तथा समस्त संदेशों को छद्म–शिष्य पॉल, कथित बलाम तथा 'निकोलाओस' के ख़िलाफ़ निर्दिष्ट करने के भी प्रयास किये गये हैं। इस आशय के तर्क, जिनमें क़तई दम नहीं है, संकलित रूप में रेना की कृति सन्त पॉल (पेरिस, 1869, पृ. 303–05 तथा 367–70) में पाये जा सकते हैं। उन सबका रुझान संदेशों को धर्म प्रचारक–चरितों तथा पॉल के तथाकथित काव्यपत्रों— ये रचनाएँ जो अपने मौजूदा रूप में प्रकाशना से कम–से–कम 60 वर्ष बाद की हैं तथा जिनके प्रासंगिक तथ्यात्मक आँकड़ें न केवल अत्यंत संदेहास्पद हैं बल्कि पूर्णतया अन्तर्विरोधी भी हैं। किन्तु निर्णायक बात यह है कि लेखक के दिमाग़ में यह बात आयी ही नहीं कि एक ही पंथ को अलग–अलग पाँच नाम दे दे : एफ़ेसस के लिए दो (छद्म धर्म–प्रचारक तथा निकोलायतन) तथा पर्गामोस के लिए भी दो (बलामी तथा निकोलायतन), हर बार उनका हवाला साफ़तौर पर दो पंथों के रूप में। साथ ही इस सम्भाव्यता से इन्कार नहीं किया जा सकता कि इन पंथों में कुछ ऐसे तत्त्व रहे होंगे जिन्हें आज पॉल–समर्थक कहा जा सके।

दोनों मामलों में जहाँ अधिक ब्योरे दिये गये हैं, आरोप का सम्बन्ध मूर्तियों को चढ़ाये गये माँस को खाने तथा कुमारी–संभोग से है। ये दोनों मुद्दे ऐसे थे जिन पर यहूदियों—पुराने यहूदियों तथा ईसाई यहूदियों— का धर्मांतरित विधर्मियों के साथ निरंतर विवाद रहा था। विधर्मी बलियों का माँस न केवल दावतों में परोसा जाता था, जहाँ परोसे गये भोजन को अस्वीकार करना न केवल अनुचित (अशालीन) ही माना जाता, बल्कि ख़तरनाक भी हो सकता था। यह माँस सार्वजनिक बाज़ारों में बेचा भी जाता था, जहाँ कि यह सुनिश्चित कर पाना एकदम असम्भव था कि वह क़ानून की नज़रों में शुद्ध है अथवा नहीं। कुमारी–संभोग (व्यभिचार) से यहूदी न केवल विवाहेतर–यौन–संबंधों का अर्थ लेते थे, बल्कि यहूदी क़ानून द्वारा वर्जित नाते–गोत्रों के भीतर होने वाले विवाहों को तथा यहूदी और ग़ैर–यहूदी के विवाह को भी उसी अर्थ में लेते थे और यही वह अर्थ है जिसमें कि धर्म–प्रचारक चरितों (15 :20 तथा 29) में सामान्यतया इस शब्द को लिया जाता है। किन्तु कट्टर यहूदियों के लिए स्वीकृत

यौन-सम्बन्धों के बारे में हमारे 'जॉन' के अपने अलग विचार हैं। वह 1 लाख 44 हज़ार दिव्य यहूदियों के बारे में कहता है, (14 :4) :

"ये वे हैं जो स्त्रियों के साथ कलुषित नहीं हुए थे : क्योंकि वे तो अक्षत कुमारियाँ हैं।"

और असलियत तो यह है कि हमारे 'जॉन' के स्वर्ग में एक भी स्त्री नहीं है। इसलिए वह उस धारा से जुड़ा हुआ है, जो अन्य आरम्भिक ईसाई रचनाओं में भी अक्सर प्रकट होती है, जो यौन-सम्बन्धों मात्र को सामान्यतया पापमय मानती है। यही नहीं, जब हम इस तथ्य पर भी ग़ौर करते हैंकि वह रोम को महान् वेश्या की संज्ञा देता है, जिसके साथ धरती के राजाओं ने व्यभिचार किया है तथा जो व्यभिचार-सुरा का सेवन कर मदहोश हो गये हैं तथा दुनिया भर के व्यापारी उसकी व्यंजन-बहुलता के सहारे समृद्ध हो गये हैं; तब हमारे लिए संदेशों में प्रयुक्त इस शब्द को उस संकुचित अर्थ में ले पाना असम्भव हो जाता है, जो संकुचित अर्थ धर्मशास्त्रीय पक्ष-समर्थक इसे देना चाहेंगे ताकि इस बहाने न्यू टैस्टामेंट के अन्य प्रसंगों की पुष्टि की जुगत बिठायी जा सके। पर वास्तविकता इसके एकदम विपरीत है। संदेशों के अनुच्छेद इस घटनाक्रिया (महान् उथल-पुथल के हर काल के संदर्भ में सही सिद्ध होती है) का प्रकट संकेत है कि तमाम अन्य बेड़ियों के समान यौन-सम्बन्धों से भी पीछा छुड़ाया जाता है। ईसाई धर्म की आरम्भिक शताब्दियों में भी अगल-बगल में दो प्रवृत्तियाँ अक्सर दिखाई देती थीं : देह-दंडित करने वाले तपस्वियों (संन्यासियों) के साथ-साथ, दूसरी जो प्रवृत्ति थी वह पुरुष एवं स्त्री के बीच कमोबेश अबाधित संभोग की ईसाई स्वतंत्रता के विस्तार से जुड़ी थी। आधुनिक समाजवादी आंदोलन में भी यही बात देखी गयी। तीस के दशक में सेंतसिमों की उक्ति, जिसे जब जर्मन में अनूदित किया गया (देह की पुनः प्रतिष्ठा), तो जर्मनी के तत्कालीन 'पुनीत बालकक्ष' में कितना ज़बर्दस्त संत्रास (वीभत्सता) अनुभव किया गया था। सबसे अधिक संत्रस्त थे तत्कालीन विशिष्ट शासक श्रेणियों के प्रतिनिधि (तब तक हमारे देश में वर्गों का उदय नहीं हुआ था) जो कि चाहे बर्लिन मेंहों या देहाती जागीरों में, वे बारंबार देह की पुनः प्रतिष्ठा के बिना रह ही नहीं पाते थे। काश ! ये भल लोग फ़रिये से परिचित रहे होते, जिन्होंने देह के लिए एकदम भिन्न क्रीड़ा-कौतुक की संकल्पना की थी। युटोपियावाद पर क़ाबू पा लेने के बाद इन उच्छृंखलताओं का स्थान अधिक बुद्धिसंगत तथा वास्तविकता में कहीं अधिक आमूल परिवर्तनवादी अवधारणा ने ले लिया और चूँकि जर्मनी बड़ा होकर हाइने के पुनीत बालकक्ष से बाहर निकल आया है तथा समाजवादी आंदोलन के केन्द्र के रूप में विकसित हो गया है, विशिष्ट पुनीत जगत् के ढोंग भरे गुस्से पर (लोगों को) हँसी आती है।

सन्देशों की जड़सूत्रवादी अंतर्वस्तु कुल मिलाकर यही है। बाक़ी सब तो निष्ठावानों को प्रचार-कार्य में उत्साही होने, शत्रु के समक्ष अपनी आस्था का साहसिक तथा गर्वयुक्त स्वीकरण करने, भीतर-बाहर के शत्रुओं के विरुद्ध निर्मम संघर्ष चलाने के आह्वानों में निहित है। जहाँ तक इन आह्वानों का सम्बन्ध हैं इन्हें तो कम्युनिस्ट इंटरनेशनल का कोई उत्साही भविष्यद्रष्टा भी लिख सकता था।

तीन

ये सन्देश तो एशिया माइनर के सात चर्चों (तथा उनके माध्यम से 69 ई. के शेष समस्त सुधरे हुए यहूदी मत को, जिसमें ही से बाद में ईसाई धर्म का विकास हुआ) के नाम हमारे 'जॉन' के संवाद की असली विषय-वस्तु की भूमिका मात्र हैं।

सबसे पहले ईसाइयों को किस तरह के लोगों के बीच से चयनित किया गया? मुख्यतः "श्रम करने वालों तथा बोझ से दबे हुओं' के बीच से— यानी सबसे निचले संस्तर के लोगों के प्रतिनिधियों को— जैसा कि क्रांतिकारी तत्त्व को शोभा देता है और वे किससे बने थे। नगरों में ख़स्ता हाल स्वतंत्र लोगों, दक्षिणी दास-राज्यों के 'निम्न-श्वेतों', यूरोपीय आवारागर्दों, उपनिवेशीय तथा चीनी बन्दरगाहों के साहसिकों (जोख़िम का काम करने वाले वालों), मुक्त हुए दासों तथा सर्वोपरि असली दासों से मिलकर बने थे; इटली, सिसिली तथा अफ्रीका में बड़ी-बड़ी जागीरों के दासों से तथा प्रान्तों के देहाती इलाक़ों में छोटे किसानों— जो कि क़र्ज के माध्यम से अधिकाधिक दासता में धँसते चले गये— से मिलकर बने थे— आरंभिक ईसाई। इन सभी तत्त्वों की मुक्ति तक पहुँचने वाला कोई भी साझा (एक ही) मार्ग नहीं था। उन सबको स्वर्ग कहीं पीछे छूटा हुआ और इस तरह लुप्त होता हुआ लगता था; बरबाद हुए स्वतंत्र आदमी को भूतपूर्व पोलिस (प्राचीन यूनानी नगर-राज्य)— जो कि एक साथ नगर तथा राज्य दोनों था, जहाँ उसके पूर्वज कभी स्वतंत्र नागरिक हुआ करते थे— में वह स्वर्ग पीछे छूटा हुआ दिखता था, तो युद्धबंदी दासों को गुलामी तथा क़ैद से पूर्व की स्वतंत्रता में; छोटे किसान को उन्मूलित कुलीन समाज-व्यवस्था तथा सामूहिक भू-स्वामित्व में उनका अपना-अपना स्वर्ग पीछे छूटा हुआ दिखता था। वह सब विजेता रोम की लौह-मुष्टिका (जिसके प्रहार ने इन सबको बराबर लाकर खड़ा कर दिया) से ध्वस्त हो गया था। प्राचीन काल ने जो सबसे बड़ा सामाजिक समूह निर्मित किया था, वह था— क़बीला और सजातीय (सगोत्रीय) क़बीलों का संघ; जांगलों के मध्य समूह-बद्धता का आधार पारिवारिक रिश्ते

(गठबंधन) हुआ करते थे तथा नगर-संस्थापक यूनानियों व इतालवियों की समूहबद्धता का आधार नगर-राज्य हुआ करते थे जो एक या एक से अधिक सगोत्रीय क़बीलों से मिलकर बनते थे। फ़िलिपि तथा सिकन्दर ने यूनानी प्रायद्वीप को राजनीतिक एकता तो प्रदान की किन्तु उससे यूनानी राष्ट्र का जन्म न हो सका। राष्ट्र तो रोमन विश्व आधिपत्य के पतन के पश्चात् ही संभव हो पाये। इस आधिपत्य ने छोटे संघों को सदा-सर्वदा के लिए समाप्त कर दिया था; सैन्य बल, रोमन अधिकार तंत्र तथा कर-वसूली तंत्र ने पारंपरिक आन्तरिक संगठन को पूरी तरह ध्वस्त कर दिया था। स्वाधीनता तथा विशिष्ट संगठन के ह्रास के साथ सैन्य एवं नागरिक अधिकारियों द्वारा की जाने वाली ज़बरन लूट-खसोट और जुड़ गयी, जो कि अधीन किये गये लोगों के ख़जानों को उनसे छीनकर ले जाते थे तथा फिर सूद पर पैसा उन्हें ही उधार दे देते थे ताकि उनसे और अधिक झटक सकें। मूलतः अथवा मुख्यतः प्राकृतिक अर्थव्यवस्था वाले क्षेत्रों में करों के दबाव तथा धन की अधिकाधिक अनुभव होती आवश्यकता ने किसानों को सूदख़ोरों की निरन्तर गहरी होती जाती दासता में डाल दिया, धन-सम्पदा की बड़ी भिन्नताओं को बढ़ावा दिया; जिससे कि अमीर और अधिक अमीर होते गये और ग़रीब पूरी तरह दीन-हीन हो गये। विशाल रोमन विश्व सत्ता का छोटे क़बीलों अथवा नगरों द्वारा किया जाने वाला प्रतिरोध निरर्थक हो गया। बच निकलने का रास्ता कहाँ था— गुलामों, उत्पीड़ितों तथा दरिद्रों की मुक्ति का रास्ता, लोगों के इन समूहों के लिए एक ही रास्ता, जिनके हित आपस में मेल न खाते हों और चाहे परस्पर-विरोधी भी हों ? और फिर भी उस रास्ते का पता तो लगाया ही जाना था, यदि एकल महान् क्रांतिकारी आन्दोलन में इन सबको आवेष्टित किया जाना था।

आख़िरकार रास्ता निकल ही आया; पर इस दुनिया में नहीं। उस समय के जो हालात थे उनमें धार्मिक रास्ता ही निकल सकता था। तब एक नयी दुनिया का अनावरण हुआ। देह की मृत्यु के बाद आत्मा के सतत् जीवन ने समूचे रोमन जगत् में मान्यता प्राप्त आस्था-बिन्दु का रूप धारण कर लिया था। धरती पर रहकर किये गये कृत्यों के आधार पर मृतात्माओं के पुरस्कृत व दंडित किये जाने की अवधारणा को भी अधिकाधिक मान्यता प्राप्त होती गयी। जहाँ तक पुरस्कार का प्रश्न था, ज़ाहिरा तौर पर संभावनाएँ कोई ख़ास उज्ज्वल नहीं थीं। प्राचीन काल स्वतः स्फूर्त रूप में इतना अधिक भौतिकवादी था कि छायाओं के साम्राज्य में जीवन की तुलना में धरती पर जिये जाने वाले जीवन को कहीं अधिक महत्व न देना संभव ही नहीं था। यूनानियों की राय में तो मृत्यु के उपरान्त जीवित रहने की धारणा मात्र दुर्भाग्यपूर्ण थी और तब ईसाई धर्म आया, जिसने इस दुनिया से परे पुरस्कार व दण्ड की बात को काफ़ी

गंभीरता से लिया और स्वर्ग-नरक की रचना की तथा उस रास्ते का पता चला लिया गया जिस पर चलकर मेहनत की मार और बोझ से दबे लोग दुख-तकलीफ़ों की इस घाटी से शाश्वत् स्वर्ग में पहुँच जायेंगे। दरअसल, परलोक में पुरस्कार की संभावना के सहारे ही इस दुनिया के स्टोइक-फ़िलोपंथी परित्याग (संन्यास) तथा तप-तपस्या को नये विश्वधर्म के आधारभूत नैतिक नियम के रूप में महिमा-मंडित किया जा सकता था, जिससे उत्पीड़ित जन-समूह के जीवन में उत्साह-उमंग भरी जा सके।

पर यह अलौकिक स्वर्ग आस्थावानों के लिए उनकी मृत्यु मात्र की घटना से खुल नहीं जाता। हम देखेंगे कि परमेश्वर के राज्य— जिसकी राजधानी नया येरूशलम है— को नरक की शक्तियों के साथ कठिन संघर्ष कर चुकने के उपरान्त ही जीता जा सकता है, उसके दरवाज़े खोले जा सकते हैं; पर आरंभिक ईसाईयों की धारणा के अनुसार तो ये संघर्ष बस थोड़ी देर बाद उपस्थित होने ही वाले थे। हमारा जॉन आरम्भ में ही अपने ग्रन्थ को 'जल्दी ही सामने आने वाली चीज़ों' की प्रकाशना के रूप में परिभाषित करता है और इसके तुरन्त बाद वह घोषणा कर देता है (1 : 3) :

''भाग्यवान है वह जो इस भविष्यवाणी के शब्दों को पढ़ता है और वे जो इन्हें सुनते हैं ... क्योंकि **समय निकट** आ गया है।''

फ़िलाडेल्फ़िया के चर्च को ईसा यह सन्देश भेजते हैं : ''देखों, मैं जल्दी ही आ रहा हूँ।'' और अन्तिम अध्याय में देवदूत कहता है कि उसने जॉन को ''जल्दी ही अनिवार्य रूप से की जाने वाली चीज़ें'' बता दी हैं और उसे आदेश देता है :

''इस ग्रन्थ की भविष्य-उक्तियों को मुहरबन्द मत करो, क्योंकि समय निकट आ गया है।''

और स्वयं ईसा दो बार कहते हैं (22 :12, 20) : ''मैं जल्दी ही आ रहा हूँ।'' उत्तर कथा (पुस्तक का शेष भाग) हमें यह बता देगी कि यह आना कितनी जल्दी अपेक्षित था।

प्रकाशना के भविष्य-दर्शन, जिन्हें कि लेखक अब हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है, शुरू से अन्त तक तथा अधिकांशतः ज्यों-के-त्यों उड़ा लिये गये हैं— आंशिक रूप से पहले के प्रतिरूपों (मॉडलों) से तथा आंशिक रूप से ओल्ड टैस्टामेंट के क्लासिकीय पैग़म्बरों से — जिनमें ऐज़किएल प्रमुख है तथा आंशिक रूप से पश्चवर्ती यहूदी प्रकाशना ग्रंथों से जो कि डेनियल के प्रकाशन ग्रंथ की तर्ज़ पर लिखे गये थे, ख़ास तौर से हेनोख़ के प्रकाशन ग्रंथ से भी नक़ल मारी गयी है, जो आंशिक रूप से पहले ही लिखा जा चुका था। आलोचना ने छोटे-से-छोटे ब्यौरों तक यह बात प्रमाणित कर दी है कि हमारे जॉन को प्रत्येक चित्र, प्रत्येक

धमकी भरा संकेत, नास्तिक मानव-जाति के लिए भेजी गयी प्रत्येक महामारी— संक्षेप में, संपूर्ण पुस्तक की सामग्री— कहाँ मिली (किस स्रोत से प्राप्त हुई)। इससे उसके मस्तिष्क की दयनीय दरिद्रता तो उजागर हो ही जाती है, बल्कि वह स्वयं भी यह सिद्ध कर देता है कि उसने कल्पना तक में भी कभी उन उन्मादों तथा दिव्य-दर्शनों का अनुभव नहीं किया था, जिन्हें उसने अपने प्रकाशना ग्रंथ में वर्णित किया है।

इन दिव्य-दर्शनों का क्रम संक्षेप में इस प्रकार है : सबसे पहले जॉन परमेश्वर को सिंहासन पर बैठा हुआ पाता है, उनके हाथ में एक पुस्तक है जिस पर सात मुहरें लगी हुई हैं, उनके सामने वह निर्दोष (मेमना) है जिसे (तलवार से) मार दिया गया है तथा जो मृत (ईसा) में से निकलकर आया है और जिसे पुस्तक की मुहरें खोलने का अधिकारी मान लिया जाता है। पुस्तक की मुहरें खोली जाने के बाद तमाम तरह के चमत्कारी धमकी भरे संकेत देखने को मिलते हैं। जब पाँचवीं मुहर खुलती है तो जॉन को परमेश्वर की वेदी के नीचे ईसा के शहीदों की आत्माएँ दिखाई देती हैं, जिन्हें परमेश्वर के पवित्र शब्द के लिए मार दिया गया था तथा जो तेज़ आवाज़ में चिल्लाते हुए यह कहते हैं :

कब तक, ओ पिता, तू फ़ैसला नहीं करेगा और धरती पर रहने वालों के ख़िलाफ़ हमारे ख़ून का बदला नहीं लेगा?''

और इसके बाद उन्हें सफ़ेद पोशाकें दे दी जाती है और उन्हें कुछ और देर और प्रतीक्षा करने को कह दिया जाता है; क्योंकि अभी कुछ और शहीद होने हैं।

तो यहाँ अभी तक यह 'प्रेम के धर्म' का, 'अपने शत्रुओं को प्यार करो, जो तुम्हें शाप देते हैं उन्हें दुआ दो' आदि का प्रश्न तो बना ही नहीं है। यहाँ तो ख़ालिस (निपनिया) प्रतिरोध की शिक्षा दी जा रही है— ईसाइयों के उत्पीड़कों के ख़िलाफ़ सही, पक्का और ईमानदार बदला। संपूर्ण पुस्तक में यही सब है। जैसे-जैसे संकट पास आता जाता है, स्वर्ग से महामारियों (विपत्तियों) व दंडों की वर्षा उतनी ही तेज़ होने लगती है और भरे-पूरे संतुष्टि-भाव के साथ जॉन यह घोषणा करता है कि विशाल मानव-जाति अपने पापों का प्रायश्चित्त नहीं करेगी, कि परमेश्वर महाविपत्तियों की नयी चाबुक से उन्हें पीड़ित करेगा, कि ईसा लोहे की छड़ से उन पर शासन करेगा तथा सर्वशक्तिमान परमेश्वर के क्रोध तथा प्रचंडता के (अंगूर पेरने के) कोल्हू को चलाकर उनका दमन करेगा, क्योंकि अपवित्र व पतित लोग अपने हृदयों में अभी भी पश्चातापहीन बने हुए हैं। यह एक नैसर्गिक भाव है, तमाम तरह के ढोंग व पाखंड से मुक्त, कि लड़ाई जारी है और कि ख़ून का बदला खून ही होता है।

सातवीं मुहर खुलते ही सात तुरही लिये सात देवदूत प्रकट हो जाते हैं और जैसे ही उनमें

से कोई एक अपनी तुरही बजाता है, वैसे ही नयी वीभत्सता घटित हो जाती है। सातवें तूर्यनाद के बाद सात और देवदूत मंच पर आ जाते हैं, अपने हाथों में परमेश्वर के क्रोध की शीशियाँ लिये हुए, जिन्हें वे धरती पर उडेल देते हैं; और अधिक महाविपत्तियाँ तथा कष्ट—यानी पहले ही कई बार जो होता हुआ दिखाया जा चुका है उसकी उबाऊ पुनरावृत्तियाँ। इसके बाद आती है एक स्त्री, महावेश्या बाबुल (बेबीलोन), सिन्दूरी (पापमय) सजधज के साथ पानी पर तैरती-सी बैठी हुई, सन्तों व ईसा के शहीदों का ख़ून पीकर मदोन्मत्त, सात पहाड़ियों पर बसा यह प्रतापी शहर जिसका धरती के तमाम राजाओं पर राज है। वह सात सिरों तथा दस सींगों वाले पशु (दैत्य) पर बैठी हुई है। सात सिर सात पहाड़ियों का प्रतिनिधित्व करते हैं तथा सात 'राजाओं' का भी। उन राजाओं में से पाँच तो मर गये हैं, एक है और दूसरा अभी तक आया नहीं है और उसके बाद पहले पाँच में से एक फिर आयेगा; वह प्राणांतक रूप से ज़ख़्मी हो गया था, पर बाद में स्वस्थ हो गया। वह धरती पर 42 महीने अथवा साढ़े तीन वर्ष (सात वर्ष के सप्ताह का आधा) तक राज करेगा, धर्मावलंबियों को सता-सताकर मार डालेगा तथा अधर्म का शासन क़ायम कर देगा। पर उसके बाद होगा महान निर्णायक युद्ध, संतों व शहीदों के ख़ून का बदला महावेश्या बाबुल तथा उसके सभी अनुयायियों — यानी विशाल मानव-जाति— का विनाश करके लिया जायेगा; शैतान को अतल गहराई (नरक) में पटक दिया जायेगा और वह वहाँ एक हज़ार वर्ष तक बन्द पड़ा रहेगा, जिस दौरान ईसा अपने पुनरुज्जीवित शहीदों के साथ शासन करेगा। पर एक हज़ार वर्ष के बाद शैतान फिर से मुक्त हो जायेगा और फिर प्रेतात्माओं का एक और बड़ा युद्ध होगा, जिसमें वह निर्णायक रूप से परास्त होगा। इसके बाद आता है दूसरा पुनरोत्थान (पुनरुज्जीवन), जब अन्य मृत भी पुनरुज्जीवित होकर परमेश्वर (ध्यान रहे, ईसा नहीं) के न्याय-सिंहासन के सामने उपस्थित होंगे तथा आस्थावान एक नये स्वर्ग, नयी पृथ्वी तथा एक नये येरूशलम में अनन्त जीवन के लिए प्रवेश करेंगे।

चूँकि यह सम्पूर्ण कीर्ति-स्तम्भ अनन्य रूप से प्राक्-ईसाई यहूदी सामग्री से निर्मित है इसलिए यह लगभग पूरी तौर पर यहूदी धारणाओं को ही प्रस्तुत करता है। क्योंकि सुमेर व बाबुल के उत्कर्ष काल से ही इज़रायल व जूडा— दोनों राज्यों के ध्वंस तथा सेल्युकस के अधीन उनकी दासता के काल से ही इज़रायल के लोगों की हालत बद से बदतर होती जा रही थी और हर अंधेरे काल में (इसाया से डेनियल तक) एक रक्षक के अवतरित होने की भविष्यवाणियाँ की जाती रहीं। डेनियल के प्रकाशना ग्रन्थ (12 :1, 3) में तो माइकेल — यहूदियों का संरक्षक देवदूत— के धरती पर उतरने तथा महाविपत्ति से उन्हें बचाने तक के बारे

में भविष्यवाणी की गयी है; बहुत से मृत फिर से जीवित हो उठेंगे, एक तरह का आख़िरी फ़ैसला होगा तथा जिन गुरुओं ने लोगों को न्याय का पाठ पढ़ाया है, वे अनन्त काल तक सितारों की तरह चमकते रहेंगे। एक मात्र ईसाई बिन्दु ईसा के आसन्न शासन तथा आस्थावानों (ख़ासकर उन शहीदों की जो मृत से पुनरुज्जीवित हुए हैं) की महिमा पर दिये गये ज़ोर में देखा जा सकता है।

इन भविष्यवाणियों— जहाँ तक वे उस काल की घटनाओं की ओर संकेत करती हैं — की व्याख्या के लिए हम जर्मन आलोचना ख़ासकर— ऐवाल्ड, ल्युक तथा फ़र्डिनांड बेनरी के ऋणी हैं। रेनां ने उसे ग़ैर-धर्मशास्त्रियों की पहुँच के भीतर ला दिया है। हम पहले ही देख चुके हैं कि महावेश्या बाबुल का अर्थ है रोम— सात पहाड़ियों पर बसा शहर। हमें अध्याय 17 (9-11) में उस दैत्य के बारे में— जिस पर वह बैठी है— यह बताया जाता है कि :

दैत्य के "सात सिर सात पर्वत हैं जिन पर वह स्त्री बैठी है और वहाँ सात राजा हैं : पाँच तो मर गये, एक है और एक अभी आने वाला है; जब वह आयेगा तो वह भी थोड़े समय केलिए जीवित रहेगा। और जो दैत्य था, और नहीं है, वह भी आठवां है, सातों से जुड़ा हुआ और नरकवास करता है।"

इसके अनुसार दैत्य है रोमन विश्व प्रभुत्व है, जिसका प्रतिनिधित्व एक के बाद एक सात सीज़रों की श्रृंखला करती है, उनमें से एक प्राणांतक रूप से ज़ख़्मी हो जाने के कारण अब शासन नहीं कर रहा पर वह जल्दी ही ठीक हो जायेगा और शासन करने लगेगा। आठवें के रूप में यह उसकी ज़िम्मेदारी होगी कि वह ईश-निंदा तथा परमेश्वर की अवमानना के राज्य को स्थापित करे। यह उसका कार्यभार होगा कि वह :

"सन्तों से युद्ध करे और उन्हें परास्त करे ..... और जो सब भी धरती पर रहते हैं वे उसकी पूजा करेंगे— जिसके नाम मेमने (ईसा) की जीवनी में नही लिखे हैं .... और उसके हुक्म से छोटे-बड़े, अमीर-ग़रीब, मुक्त दास— सभी को अपने दायें हाथ पर, अथवा अपने माथे पर एक निशान गुदवाना होगा; कोई भी आदमी जिसने वह निशान, दैत्य का नाम अथवा नाम की संख्या गुदवा न रखी हो, न ख़रीद पायेगा और न बेच पायेगा। ज्ञान की बात यही है। जिसमें भी समझ है उसे इस दैत्य की संख्या की गणना कर लेनी चाहिए, क्योंकि यह एक मनुष्य की संख्या है और यह संख्या है 666।" (13 : 7-18)

हम सिर्फ़ यह बात रेखांकित करते हैं कि यहाँ— रोमन साम्राज्य द्वारा ईसाइयों के

ख़िलाफ़ काम में लिये गये उपायों में से एक— बहिष्कार की भी चर्चा की गयी है, जो कि साफ़ तौर पर शैतान का ही अन्वेषण हो सकता है और हम इस रोमन सम्राट— जो एक बार पहले भी शासन कर चुका है, प्राणांतक रूप से ज़ख़्मी हुआ और हटा दिया गया, पर जो ख़्रीस्त-विरोधी के रूप में इस शृंखला में आठवें के रूप में वापस आयेगा— के प्रश्न पर ही आगे बढ़ना चाहेंगे।

आगस्टस को पहला सम्राट मानने पर यह स्थिति उभरती है : 2. टिबेरियस, 3. कैलिगुला, 4. क्लाडियस, 5. नीरो, 6. गाल्बा। ''पाँच तो मर गये है और एक है।'' अतएव नीरो पहले ही मर गया (शासन से हट गया) और गाल्बा है। गाल्बा ने 9 जून, 68 से 15 जनवरी, 69 तक शासन किया। उसके सिंहासन पर बैठते ही वितेलियस के नेतृत्व में राइन के सैनिकों ने विद्रोह कर दिया, जबकि अन्य जनरल अन्य प्रदेशों में सैन्य विद्रोह की तैयारियाँ करते रहे। ख़ुद रोम में राजभवन के सैनिकों ने विद्रोह कर दिया, गाल्बा की हत्या कर दी तथा ओथो को सम्राट घोषित कर दिया।

इससे हम स्पष्ट तौर पर देख पाते हैं कि यह प्रकाशना ग्रंथ गाल्बा के शासन-काल में लिखा गया था। संभवतया उसके शासन-काल के अन्तिम दिनों में। अधिक-से-अधिक ओथो ('सातवें') के शासन-काल के तीन महीनों (15 अप्रैल, 69 तक) के दौरान, इसके बाद नहीं। पर आठवाँ कौन है, जो था और है नहीं? यह हमें पता चल जाता है 666 की संख्या से।

अफ़्रो-एशियाइयों काल्डियाइयों तथा यहूदियों— के यहाँ उस काल में एक प्रकार का जादू प्रचलित था जो अक्षरों के दोहरे अर्थ पर आधारित था। ईसा से लगभग 300 वर्ष पूर्व इब्रानी अक्षर संख्याओं के प्रतीक के रूप में भी लिखे जाते है : a=1, b=2, g=3, d=4 आदि। गुप्त विद्या सुगुनी किसी नाम के प्रत्येक अक्षर का मूल्य जोड़कर, कुल जोड़ के आधार पर— यानी समान मूल्य के शब्दों अथवा शब्द-संयोजनों को गठित करके— उस नाम वाले व्यक्ति के बारे में भविष्यवाणी करते थे। अंकों की इस भाषा में रहस्यमय शब्दों को भी अभिव्यक्ति दी जाती थी। इस कला को यूनानी नाम **ज्यामिति** दिया गया; काल्डियाई लोगों को जो इसे व्यवसाय के रूप में करते थे तथा जिन्हें टैसीटस ने **गणितज्ञों** की संज्ञा दी थी, बाद में क्लाडियस के शासन में तथा फिर वितेलियस के शासन में जिन्हें संभवतया 'गंभीर गड़बड़ियों' के कारण निष्कासित कर दिया गया था।

इस गणित के सहारे ही यह संख्या 666 प्रकट हुआ। यह पहले पाँच सीज़रों में से एक

के नाम का छद्म आवरण है। पर इस संख्या (666) के अलावा, दूसरी शताब्दी के अन्त में इरेनियस को एक और पठन 616 की जानकारी थी, जो हर हाल में उस समय सामने आया जबकि अंक-पहेली के सम्बन्ध में लोगों को काफ़ी व्यापक जानकारी थी। इस हल के सही होने का प्रमाण तो यही होगा कि यह दोनों संख्याओं पर लागू हो।

यह हल बर्लिन के फ़र्डिनांड बेनरी ने प्रस्तुत किया था। यह नाम है नीरो। नीरो केसर, यूनानी नीरो कैसर के इब्रानी हिज़्जे, सम्राट नीरो— जिसकी पुष्टि ताल्मुद तथा पामीरी शिला-लेखों के जरिये की गयी। यह लिखावट नीरो के ज़माने के सिक्कों पर पायी गयी जो साम्राज्य के पूर्वी क्षेत्र की टकसाल में ढाले गये थे। और इस प्रकार—

न (नून) = 50 क (केफ़)= 100
र (रेश) = 200 स (समेख़)= 60
ओ (वाउ)=6 र (रेश)= 200
न (नून)= 50

योग 666 । यदि हम लैटिन हिज्जे को आधार बना लें तो दूसरा नून =50 ग़ायब हो जाता है और हमारे पास रह जाता है : 666-50= 616, जो कि इरेनियस द्वारा प्रस्तुत पठन है।

दरअसल, गाल्बा के शासन काल में समूचा रोमन साम्राज्य अचानक दिग्भ्रमित हो गया। स्वयं गाल्बा ने स्पेनी तथा फ्रांसीसी सेनाओं की अगुवाई करते हुए रोम पर चढ़ाई कर दी, नीरो का तख़्ता पलटने के उद्देश्य से। नीरो भाग गया तथा गाल्बा ने एक मुक्त दास को उसे मारने का आदेश दे दिया। किन्तु गाल्बा के ख़िलाफ़ न केवल रोम में राजभवन के सैनिकों ने षड्यंत्र रचा, बल्कि प्रांतों में सर्वोच्च कमांडरों ने भी ऐसा ही किया। हर जगह सिंहासन के नये-नये दावेदार प्रकट होने लगे तथा अपनी सेनाओं के साथ रोम पर चढ़ाई करने की तैयारियाँ करने लगे। साम्राज्य गृहयुद्ध के लिए अभिशप्त दिखायी देने लगा, उसका ध्वंस आसन्न दिखने लगा। इस सबके ऊपर, यह अफ़वाह फैलने लगी कि नीरो मरा नहीं था, बल्कि सिर्फ़ घायल ही हुआ था तथा वह बचकर पार्थियाइयों[1] के पास पहुँच गया था तथा अब वह अपनी सेना के साथ यूफ्रेट नदी पार करके धावा बोलने ही वाला था, ताकि एक बार फिर आतंक से भरा व ख़ूनी शासन कर सके। इस तरह की सूचनाओं से अकिया (यूनानी प्रांत) तथा एशिया में हड़कम्प मच गया। ठीक जिस समय यह प्रकाशना ग्रंथ लिखा गया होगा, उसी

1. **पार्थिया** — पश्चिम एशिया का एक प्राचीन देश। आजकल ईरान का उत्तर-पूर्वी भाग।— अनु.

समय एक नक़ली नीरो प्रकट हो गया जो, ईगियाई सागर (जिसे अब थर्मिया कहा जाता है) के कितनोस द्वीप पर— जो कि पटमोस तथा एशिया माइनर से बहुत दूर नहीं था— बड़ी संख्या में अपने समर्थकों के साथ बस गया। जब तक उसे मार नहीं दिया गया (ओथो के शासनकाल में ही) वह उक्त द्वीप पर ही रहा। जिस बात पर सबसे ज़्यादा अचम्भा हुआ, वह यह कि जिन ईसाइयों के मध्य नीरो ने अपना सबसे पहला और बड़ा उत्पीड़न अभियान छेड़ा था, उन्हीं के बीच यह धारणा फैलने लगी कि वह ख़्रीस्त-विरोधी के रूप में लौट आयेगा तथा यह कि उसकी वापसी तथा नये पंथ के खूनी दमन के सघन प्रयास ईसा की वापसी, नरक की शक्तियों के ख़िलाफ़ महान् विजयी संघर्ष, 'जल्दी' ही स्थापित होने वाले हज़ारसाला साम्राज्य (जिसकी आश्वस्त अपेक्षा ने शहीदों को प्रसन्नतापूर्वक मृत्यु को गले लगाने को प्रेरित किया था) का संकेत देते हुए उसके प्राक्कथन की भूमिका अदा करेंगे।

प्रथम दो शताब्दियों का ईसाई तथा ईसाई-प्रभावित साहित्य इस बात की ओर समुचित संकेत करता है कि संख्या 666 का रहस्य उस ज़माने में बहुतों को ज्ञात था। इरेनियस को इसकी जानकारी नहीं रही थी, पर तीसरी शताब्दी के अंत तक उसे व अन्य बहुत से लोगों को भी यह पता चल गया था कि प्रकाशना ग्रंथ के दैत्य का अर्थ नीरो ही था। उसके बाद वह संकेत वहीं लुप्त हो जाता है तथा जिस कृति में हमारी बेहद रुचि है, धर्म-प्राण भविष्यवक्ताओं द्वारा उसकी काल्पनिक तथा ऊँटपटाँग व्याख्या की जाती है; एक छोटे बच्चे के रूप में मैं स्वयं ऐसे लोगों को जानता था, जो बुज़ुर्ग जोहन अलब्रेख़्त बेंगल के उदाहरण का अनुसरण करते हुए, जो कि यह उम्मीद लगाये बैठे थे कि 1836 में दुनिया ख़त्म हो जायेगी तथा आख़िरी फ़ैसले का दिन आ जायेगा। यह भविष्यवाणी ठीक उसी वर्ष पूरी हो गयी। बहरहाल, आख़िरी फ़ैसले का निशाना यह पापमय दुनिया नहीं बनी, बल्कि प्रकाशना ग्रंथ के पुनीत व्याख्याकार ही इसके निशाना बने। क्योंकि 1836 में ही फ़र्डिनांड बेनरी ने संख्या 666 की कुंजी प्रस्तुत की थी और इस प्रकार पैग़ंबरी गणनाओं— इस नयी ज्यामिति को यातनाएँ देकर मौत की नींद सुला दिया।

यहाँ जॉन तो स्वर्ग के साम्राज्य (जो आस्थावानों के लिए आरक्षित है) का सतही वर्णन ही कर सकता है। नया येरूशलम काफ़ी बड़े पैमाने पर तैयार किया गया है, कम-से-कम उस ज़माने की अवधारणाओं के अनुसार तो ऐसा है ही। वह 12 हज़ार फ़र्लांग, या कहें 2227 किलोमीटर का चतुर्भुज है, जिसके मायने हैं कि उसका क्षेत्रफल है लगभग 50 लाख वर्ग किलोमीटर— यानी संयुक्त राज्य अमरीका के आकार के आधे से कुछ अधिक। वह असली सोने तथा हीरे-जवाहरात से बना है। वहाँ परमेश्वर अपने लोगों के साथ रहता है, सूर्य के बजाय वह स्वयं ही उन्हें आलोकिक करता है, वहाँ न तो मृत्यु होगी, न कष्ट और न पीड़ा।

शहर के बीचोंबीच जीवन-जल की नदी बहती है, नदी के दोनों ओर जीवन-वृक्ष उगे हैं जो हर माह फल देते हैं और पेड़ की पत्तियाँ 'लोगों को भला-चंगा करने के काम आती है'। (रेनां सोचते हैं, एक क़िस्म का रोगहर-स्वास्थ्यकर पेय— ख़्रीस्त-विरोधी, पृ. 542)। संत सदा-सर्वदा यहीं पर रहेंगे।

जहाँ तक हमारी जानकारी है 68 ई. के आसपास ईसाई धर्म की एशिया माइनर— जो कि ईसाई धर्म का प्रमुख आसन था— में ईसाई धर्म का यह हाल था। इस समय तक त्रयी का नामोनिशान तक न था, बल्कि इसके विपरीत पुराने तथा अविभाज्य येहोवा, जिसे पश्चवर्ती यहूदी मत ने यहूदियों के जातीय देवता से ऊपर उठाकर लोक-परलोक के एकमात्र तथा सर्वोच्च परमेश्वर के रूप में महिमा-मंडित कर दिया, जहाँ वह समस्त जातियों पर (पूरी दुनिया पर शासन करने का दावा करता है तथा प्राचीन उक्ति 'दीन-हीन को बख़्श दो तथा घमंडियों को परास्त कर दो' के अनुरूप धर्मांतरितों को दया का वादा करता है और अड़ियलों को निर्मम होकर पीड़ा पहुँचाता है। अतएव यह परमेश्वर— जो ईसा नहीं है, चाहे धर्म-सिद्धांत व काव्यपत्रों के बाद के वर्णनों में ऐसा कहा गया हो— आख़िरी फ़ैसले के दिन ख़ुद फ़ैसला करेगा। निस्सरण (में से निकलना) सम्बन्धी फ़ारसी सिद्धांत जो पश्चवर्ती यहूदी मत में प्रचलित था— के अनुसार मेमना रूपी ईसा शाश्वत् रूप से उसी में से निकलता है जैसे कि, चाहे निचले पायदान पर ही सही, 'परमेश्वर की सात पवित्र आत्माएँ' भी निकलती हैं, वस्तुतः जिनका अस्तित्व एक काव्यखंड की भ्रांत समझ के परिणामस्वरूप ही संभव हो पाया (इसाया : 11, 2)। वे सब न तो परमेश्वर हैं और न परमेश्वर के समकक्ष हैं, बल्कि परमेश्वर के अधीनस्थ हैं। मेमना दुनिया भर के पापों का प्रायश्चित्त करने के लिए अपनी बलि दे देता है और इसी कारण से उसे स्वर्ग में यथेष्ट रूप से पदोन्नत कर दिया गया, क्योंकि सम्पूर्ण पुस्तक में उसकी स्वैच्छिक बलि को एक असाधारण करतब के रूप में देखा गया है, उसकी अंतर्जात प्रकृति द्वारा निर्धारित तथा उससे निकलने वाली चीज़ के रूप में नहीं देखा गया है। स्वभावतया स्वर्ग का दरबार पूरा भरा हुआ है— गुरुजन, देवदूत, देवशिशु और संत सभी उपस्थित हैं। विश्व धर्म बनने के उद्देश्य से एकेश्वरवाद को ज़ैंद-अवेस्ता[1] के ज़माने से ही बहु-देववाद को बहुत-सी रियायतें देनी पड़ी हैं। यहूदियों के यहाँ मूर्तिपूजकों के ऐंद्रिक देवताओं के सामने

1. **ज़ैंद-अवेस्ता**— 18वीं तथा 19वीं शताब्दियों में, ज़रतुश्त धर्म की 'पवित्र पुस्तकों' के संकलन के लिए प्रचलित ग़लत नाम; यह धर्म प्राचीन फ़ारस, अज़रबेजान तथा मध्य एशिया में दूर-दूर तक फैला था। ज़रतुश्त धर्म दुनिया में अच्छाई व बुराई के संघर्ष की द्वंद्ववादी धारणा पर आधारित था। यह माना जाता है कि अवेस्ता के संकलन ईसा पूर्व 9वीं शताब्दी और ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दियों के बीच हुआ था।

झुकने की प्रक्रिया क्रमवार रूप से तब तक चलती रही जब तक कि— उत्प्रवास के पश्चात् — स्वर्गीय दरबार ने फ़ारसी मॉडल के अनुरूप धर्म को कमोबेश जनता की कल्पना के अनुकूल नहीं ढाल लिया था। ख़ुद ईसाई धर्म यहूदियों के आत्मतुल्य अविनाशी ईश्वर के स्थान पर त्रयी के रहस्यमय आत्मविभेदी ईश्वर को बिठा देने के बाद भी पुराने देवताओं की पूजा के पैर उखाड़ने के लिए संतों की पूजा के अलावा कुछ नहीं खोज पाया; इस प्रकार फ़ालमेरायर के अनुसार पेलोपोनेसस, मेना तथा आर्केडिया में बृहस्पति की पूजा 9वीं शताब्दी के आसपास ही बन्द हो पायी। आधुनिक पूँजीवादी काल तथा उसके प्रोटेस्टेंटवाद ने ही फिर से संतों की छुट्टी कर दी तथा अंततः विभेदीकृत एकेश्वरवाद को गम्भीरता से लिया।

इस पुस्तक में ऐसे ही मूल पाप तथा आस्था के ज़रिये औचित्य के बारे में भी कुछ नहीं कहा गया है। इन आरंभिक उग्र चर्चों की आस्था बाद के विजयी चर्च की आस्था से बिल्कुल भिन्न है; मेमने की प्रायश्चित्तिक बलि, ईसा की आसन्न वापसी तथा हज़ारसाला साम्राज्य, जो बस अब स्थापित होने ही वाला है— ये सब मिलकर इस आस्था की प्रमुख अंतर्वस्तु को निर्मित करते हैं तथा यह आस्था सक्रिय प्रचार, भीतर तथा बाहर के शत्रु के ख़िलाफ़ निर्मम संघर्ष, विधर्मी न्यायाधीशों के सामने तथा शहादत की स्थिति में भी अपने क्रांतिकारी दृष्टिकोण का गर्वयुक्त स्वीकरण तथा विजय के प्रति आश्वस्त-भाव के माध्यम से ही बची तथा बनी रहती है।

हम यह देख चुके हैं कि इस लेखक को अभी तक इस बात का अहसास नहीं है कि वह यहूदी के अलावा भी कुछ है और शायद इसीलिए पूरी पुस्तक में बपतिस्मा का ज़िक्र तक नहीं है, या इसलिए कि बहुत सारे तथ्य इस बात का संकेत देते हैं कि बपतिस्मा का संस्थापन ईसाई धर्म के दूसरे काल में हुआ था। पूर्वोल्लिखित 1 लाख 44 हज़ार आस्थावान यहूदियों पर सिर्फ़ मुहर लगायी गयी थी, उनका बपतिस्मा नहीं हुआ था। स्वर्ग के संतों और धरती के आस्थावानों के बारे में यह कहा जाता है कि उन्होंने मेमने के खून से अपने पापों को धो लिया था तथा उसी ख़ून से अपने वस्त्रों को धोकर सफ़ेद बना लिया था; बपतिस्मा-जल का उल्लेख नहीं है। अध्याय 11 में ख़्रीस्त-विरोधी के आगमन से पूर्व जो दो पैग़ंबर आते हैं वे बपतिस्मा नहीं पढ़ते तथा 19 :10 के अनुसार ईसा का साध्य बपतिस्मा नहीं, बल्कि भविष्यवाणी का सार है। बपतिस्मा यदि पहले से प्रचलित रहा होता तो स्वभावतया इन सब मामलों में उसका ज़िक्र तो हुआ ही होता; इसलिए हम लगभग परम निश्चयात्मकता के साथ यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि लेखक को इसका पता ही न था कि यह सबसे पहली बार तब प्रकट हुआ, जब ईसाई

यहूदियों से अंतिम तौर पर अलग हो गये।

और न इस लेखक को दूसरे तथा बाद वाले परम प्रसाद यूकारिस्त के बारे में ही कुछ पता है। यदि लूथरपंथी पाठ में ईसा समस्त थ्यातिरवासियों को वादा किया था कि अपने विश्वास पर अटल रहोगे तो मैं तुम्हारे साथ खाना खाऊँगा, तो इससे अर्थ में कुछ गड़बड़ी हो जाती है; यूनानी पाठ में है : मैं (उसके साथ) ब्यालू करूँगा, जबकि अंग्रेज़ी बाइबिल में यह सही रूप में अनूदित है : मैं उसके साथ घूँट भरूँगा (चुस्की लूँगा)। यूकारिस्त का स्मरणोत्सव-भोजन मात्र के रूप में भी यहाँ कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

इसमें कोई संदेह नहीं कि यह पुस्तक— जिसकी तिथि 68 अथवा 69 ई. एकदम मूलतः प्रमाणित है— संपूर्ण ईसाई साहित्य में सबसे पुरानी है। कोई अन्य पुस्तक इतनी गँवारू अथवा खिचड़ी भाषा में नहीं लिखी गयी, इब्रानी मुहावरों में इतनी लदी-फँसी, असंभव वाक्य-संरचनाओं तथा व्याकरण की त्रुटियों को अपने में समेटे हुए। अध्याय 1, पद्य 4, उदाहरण के लिए— शब्दशः इस प्रकार है :

''तुम पर कृपा रहे और शांति उससे जो हो रहा है और जो था और जो आ रहा है।''

अब केवल पेशेवर धर्मशास्त्री तथा अन्य पूर्वाग्रही इतिहासकार ही इस बात से इन्कार करते हैं कि धर्मसिद्धांत तथा धर्मप्रचारक चरित उन आरंभिक रचनाओं के पश्चवर्ती रूपांतर हैं जो अब लुप्त हो गयी हैं तथा जिनके क्षीण ऐतिहासिक सार भाग किंवदंतियों की भूलभुलैया में पहचाना भी नहीं जा सकता, कि ब्रूनो द्वारा 'प्रामाणिक' माने गये कुछेक काव्य पत्र भी या तो बाद की तिथि की रचनाएँ हैं या ज़्यादा-से-ज़्यादा किन्हीं अज्ञात लेखकों की पुरानी रचनाओं के ऐसे रूपांतरण हैं जिन्हें क्षेपकों के सहारे (कुछ जोड़कर, कुछ ठूँसकर) बदल दिया गया है। इसलिए यह और महत्वपूर्ण है कि हमारे कब्ज़े में एक ऐसी पुस्तक है जिसकी रचना अवधि निकटतम माह तक निर्धारित हो गयी है, ऐसी पुस्तक जो ईसाई धर्म को उसके अविकसित रूप में दिखाती है— उसी रूप में जिसमें कि चौथी शताब्दी के पूर्णतया विकसित जड़सूत्र तथा पुराणशास्त्र में संपन्न राजकीय धर्म के साथ उसका वही संबंध है जो कि टैसीटस के (अभी भी) अस्थिर पुराणशास्त्र का, ईसाई तथा प्राचीन तत्वों द्वारा प्रभावित ऐडा के देवताओं की उन्नत शिक्षाओं के साथ है। वहाँ धर्म का सार-भाग तो है, पर उसमें किसी भी विभेदीकरण के बग़ैर विकास की हज़ारों संभावनाएँ, जो असंख्य तदनंतर पंथों में वास्तविकताएँ बनीं, भी समाहित हैं। जिस ज़माने में ईसाई धर्म आकार ही ग्रहण कर रहा था, तब की सबसे पुरानी यह रचना हमारे लिए इतनी मूल्यवान क्यों है? इसका कारण यह है कि यह बिना किसी

मिलावट के यह दिखाती है कि सिकंद्रिया से अतिशय प्रभावित यहूदी मत ने ईसाई धर्म को क्या योगदान किया। जो सब बाद में आया है वह तो पश्चिमी, यूनानी–रोमन परिशिष्ट है। एकेश्वरीवादी यहूदी धर्म के माध्यम से ही पश्चवर्ती यूनानी कुत्सित दर्शन का सुसंस्कृत एकेश्वरवाद अपने आपको उस धार्मिक रूप का पहनावा धारण करा सका, सिर्फ़ जिसमें ही वह विशाल जन–समूहों को प्रभावित कर सकता था। इस माध्यम के मिलते ही, वह केवल यूनानी–रोमन जगत् में ही विश्वधर्म बन सकता था तथा आगे विकास के ज़रिये दुनिया द्वारा अर्जित चिंतन सामग्री में एकाकार हो सकता था।

राजस्थान पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लि.
चमेलीवाला मार्केट, एम.आई. रोड, जयपुर–302 001